समास

20

यहाँ से काटिए

समास की सदस्यता ग्रहण करें

सम्पादक
समास
नयी दिल्ली

प्रिय महोदय,
समास के एक वर्ष (४ अंक+डाक व्यय) ३४०/- तीन वर्ष (१२ अंक) १०००/- पाँच वर्ष (२० अंक) १६००/- रुपये का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ। या यह धनराशि 'समास' के खाते (स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया खाता क्रमांक-६५१६७३२८५०७, आई.एफ.एस.सी.SBIN0050203) में जमा करवाकर नीचे लिखे ईमेल पर सूचित कर दें।
(अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के ४०/- रुपये उसमें अतिरिक्त जोड़ दें।)

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफोन नं. .....
ईमेल : .....

(चेक/ड्राफ्ट- समास के नाम पर बनाएँ जो नयी दिल्ली में देय हो और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें)

प्रबन्धक - संजीव चौबे
रज़ा फाउण्डेशन, सी-4
139, सफ़दरगंज डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-16
ईमेल - <ms.razafoundation@gmail.com>
टेलीफ़ोन : 9425674851, 9810166953, 011-46526269/67

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/8 ब्रिटिश पाउण्ड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 पाउण्ड

समास

साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र
त्रैमासिक

सम्पादक
उदयन वाजपेयी

द रज़ा फाउण्डेशन |THE RAZA FOUNDATION

समवेत लेखकों के विचारों का 'समास' आदर करता है
लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह उनसे सहमत ही हो।

समास : 2020
वर्ष-७, अंक-२०

त्रैमासिक पत्रिका

प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, प्रबन्ध न्यासी,
द रज़ा फाउण्डेशन, सी-४/१३९ सफ़दरगंज डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-110016
फ़ोन- +91–11–46526269
सम्पादक : उदयन वाजपेयी

सम्पादन सहयोग : **संगीता गुन्देचा**
आवरण : **शिवदत्त शुक्ला** की परिकल्पना

सम्पादकीय पत्र व्यवहार : उदयन वाजपेयी
एफ 90/45 तुलसी नगर, भोपाल (म.प्र.) 462003
फ़ोन : +91-755-2556940, +91-9753882343
ईमेल - <udayanvajpeyi@gmail.com>

विक्रय सम्बन्धी पत्र व्यवहार : **संजीव चौबे**, फ़ोनः +91-9810166953
E-mail: msrazafoundation@gmail.com

Samas, A literary Quarterly Magazine
Editor : Udayan Vajpeyi
Language : Hindi

Published by : Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation,
C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016

मूल्य : 80 रुपये

कम्पोज़िंग : **मनोज कुमार डेकाटे**
मुद्रण : **भण्डारी ऑफ़सेट**, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

समास - २०

सम्पादकीय

बातचीत

जीवन और जगत पर विचारों का सिलसिला
सामदोंग रिनपोछे से उदयन वाजपेयी की बातचीत ०१

कविताएँ

मरीने पेत्रोशियन की कविताएँ ६४
दुर्योधन का सच और दूसरी कविताएँ - आस्तीक वाजपेयी ७७
स्वरों में निष्कम्प ठिठकती - मिथलेश शरण चौबे की कविताएँ ९४
पाँच असमिया कविताएँ - एम. कमालुद्दीन अहमद १०८
बॉदलेयर की कविताएँ - चयन एवं अनुवाद : सुरेश सलिल ११३
कविताएँ - नूपुर हजारिका १३७

उपन्यास अंश

सात कुबड़ों की सीक्रेट सोसाइटी - अमित दत्ता १४०
नेमतखाना - ख़ालिद जावेद २०६
स्वर्गद्वार - प्रभात त्रिपाठी २३१

बोली

थाना - विनोद कुमार शुक्ल (छत्तीसगढ़ी में अनुदित) २५५

निबन्ध

सृष्टि - अमृता भारती २६१
कला और कबीर - अवनीन्द्र नाथ टैगोर २८६
भक्ति पर भास्कर राय - वागीश शुक्ल २९७
हिन्दी भक्ति साहित्य : बांग्ला दृष्टि - महेन्द्र प्रसाद कुशवाहा एवं शान्तनु बनर्जी ३०७
कहानी और जीवन - जयशंकर ३१२
कहानी और जीवन - उदयन वाजपेयी ३१७

श्रीकान्त वर्मा-विमर्श

बुखार में कविता - मदन सोनी ३२६
तीसरा रास्ता - ध्रुव शुक्ल ३३४
बेघर कवि की कविताएँ - उदयन वाजपेयी ३४४

समीक्षा

जो पाप धोये जन के, वही साहित्य है - ध्रुव शुक्ल ३५६
परम्परा में द्वन्द्व वैचित्र्य - मिथलेश शरण चौबे ३६०

लेखक परिचय ३६७

सम्पादकीय

धर्म का प्रश्न

कई दशकों पहले भारत के श्रेष्ठ संस्कृति चिन्तक वासुदेवशरण अग्रवाल ने धर्म के विषय में कुछ बातें अपने निबन्ध 'धर्म का वास्तविक अर्थ' में कही हैं। उनका कहना है कि वैदिक साहित्य और उसके बाद धर्म का प्रयोग प्रकृति के नियमों के लिए होता है। इसके लिए 'ऋत' प्रयुक्त होता है जो 'सृष्टि के अखण्ड देश-काल व्यापी नियमों के लिए प्रयुक्त होता है।' साधारण व्यक्ति को आसानी से समझ में आ सके इसलिए सृष्टि के अखण्ड नियमों के लिए 'ऋत' के स्थान पर 'धर्म' शब्द का इस्तेमाल बढ़ा। अथर्ववेद में पृथ्वी को धर्म से धारण की हुई कहा गया है। इसी पृथ्वी सूक्त में यह भी लिखा है कि 'पृथ्वी पर रहने वाले अनेक भाँति के जन नाना धर्मों के मानने वाले हैं।' पृथ्वी इन सभी को धारती है। 'लोगों को यह साफ़ दिखायी पड़ता था कि मनुष्य, समाज और सृष्टि तीनों की नींव या जड़ में, एक ही सत्य पिरोया हुआ है जिसे उन्होंने (कई सभ्यताओं ने) धर्म कहा।' 'महात्मा बुद्ध के लिए धम्म या धर्म ही अन्तिम बुनियाद है जिस पर सृष्टि और मनुष्य का ठाट रुका हुआ है। नीति-सम्बन्धी गुण भी धम्म शब्द में ग्राह्य थे।' इस पूरे निबन्ध में सबसे अद्‌भुत महाभारत की धर्म की परिभाषा है। नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।/यत् स्यात् धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः।। उस धर्म को प्रणाम है जो सब प्राणियों (वासुदेव जी ने 'प्रजा' का अनुवाद मनुष्य किया है लेकिन उसका अधिक सम्यक अनुवाद प्राणी है) को धारण करता है। उसको धारण करने वाले जो नियम हैं, वे धर्म है। यहाँ यह देख पाना शायद आवश्यक हो कि सभी प्राणियों को जो धारण करता है, उसे धर्म कहा गया है। इन प्राणियों में सभी तरह के मनुष्य तो आते ही हैं, अन्य पशु, पक्षी, वनस्पति और यहाँ तक की जीवाणु व वायरस (जो न जीवित हैं और न जड़) भी आते हैं। वासुदेव जी इसी संवाद में गाँधी को ले आते हैं और लिखते हैं, 'गाँधी जी के धर्म-वृक्ष से जब तक हमारा सम्बन्ध जुड़ा है, तभी तक हमारे जीवन में रस और तेज है। नहीं तो हमें मुरझाये हुए समझो। सत्य के वृक्ष का रस सारी प्रजाओं में फैलता है और वितान से राष्ट्र को छा लेता है। गाँधी जी के धर्म-वृक्ष की छाया में आज हम सब बैठे हैं। पर इस महान् धर्म-वृक्ष की छाया में मत-मतान्तर के भेद नहीं हैं। गाँधी जी की यह बड़ी देन थी कि उन्होंने राष्ट्रीयता का सम्बन्ध सत्य या धर्म से जोड़ दिया।'

हमने वासुदेव शरण अग्रवाल के इस निबन्ध को इस दृष्टि से विस्तारपूर्वक उद्धृत किया है कि हमारे पाठकों को यह अनुमान हो जायेगा कि धर्म पर आधुनिक भारत में भी निरन्तर विचार होता रहा है और यही नहीं वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे प्रथम पंक्ति के भारतीय विचारकों ने इस पर रुककर गहरायी से विचार करना आवश्यक माना था। वासुदेव शरण जी के इस निबन्ध से ही एक सूत्र लेकर हम उसका थोड़ा विस्तार करने का जोखिम

उठा रहे हैं।

गीता में एक शब्द आया है, 'स्वभाव', यह प्रत्यय भी धर्म की तरह ही हमारी सभ्यता के आधारभूत शब्दों या प्रत्ययों में है। योगवाशिष्ठ में भी इस पर विस्तार से संवाद मिलता है। इसकी झलक आधुनिक काल में भी रिल्के जैसे कवियों के चिन्तन में मिल जाती है। जैसा कि योगवाशिष्ठ में राम के प्रश्न पर जवाब देते हुए उनके गुरू वशिष्ठ कहते हैं, स्वभाव सहज प्राप्य नहीं है, यह आवश्यक नहीं कि हर मनुष्य को जीते-जी यह पता चल ही जाये कि उसका मूल स्वभाव क्या है? यह बात मनुष्य के अलावा सभी प्राणियों के लिए सही नहीं है। आम के पेड़ को यह पता करने कहीं नहीं जाना होता कि उसे आम उत्पन्न करना है। वह अपने स्वभाव के अनुरूप आम ही उत्पन्न करता है। शायद इसीलिए कबीर ने भी 'बोया पेड़ बबूल का आम कहाँ से होय' जैसा पद लिखा है। मनुष्य के स्वभाव में ही वैशेषिक दर्शन के अनुसार औचित्य बोध का वास होता है। यानि मनुष्य अपने स्वभाव के अनुकूल ही उचित और अनुचित का विवेक करता है, उनमें फ़र्क करता है। हम देख ही आये हैं कि धर्म का एक गहन आशय नीति (नैतिक-बोध) भी है ही। यदि हम इसमें वासुदेव शरण जी के विचार को जोड़कर देखे तो यह सहज ही निकल आयेगा कि धर्मबोध का आधार, सत्य का आधार और इसी से सम्बद्ध नैतिकता का आधार मनुष्य के विशिष्ट स्वभाव से जुड़ा हुआ है। वह दूसरों की देखा-देखी केवल एक हद तक ही अपना धर्म निर्धारित कर सकता है। वह जैसे ही किसी चरम अनुभव से गुज़रता है, दूसरों के बनाये रास्ते उसे छोड़ने पड़ते हैं और अपने भीतर नैतिक-बोध को अन्धे हाथों से टटोलना होता है। मनुष्य के इस एकान्तिक अन्वेषण में कविता उसका मार्ग प्रशस्त करती है। धर्म की कैसी भी विचारधारा इस स्वभाव से धर्म की सहज उत्पत्ति में बाधक होती है। हर मनुष्य अपने सहज स्वभाव के अनुरूप ही व्यापक 'ऋत' से जुड़ता है। अगर किसी मनुष्य के जीवन में किसी वैचारिक आरोपण के कारण ऐसा नहीं हो पाता तो वह मनुष्य व्यापक ब्रह्माण्डीय सत्य, ऋत से अलग-थलग बना रहता है और इससे समाज की क्षति होती है। हमारे संसार में और विशेष तौर पर हमारे देश में धर्म शब्द का उच्चारण उस पर विचार से कहीं अधिक होता है। मानो सबको इसका आशय पता हो। सच यह है कि इसके आशय से अधिकांश राजनैतिक और सामाजिक विश्लेषक कोसों दूर हैं। जब तक हम इस प्रत्यय को उसके प्राचीन और अर्वाचीन आशयों में गहरायी से और बिना किसी वैचारिक आरोपण के समझने की चेष्टा नहीं करेंगे, हम सामाजिक हिंसा को रोक नहीं सकेंगे। इसकी शुरुआत के लिए न्यूनतम आवश्यकता धर्म को विचारणीय मानने से होगी। अगर हम यह माने ही नहीं कि आज हमारी सभ्यता में धर्म के मायने स्पष्ट नहीं बचे हैं, हम इस पर विचार करने से कतराते रहेंगे और वह सब भोगते रहेंगे जो धर्म के नाम पर होता रहता है। धर्म शब्द ऐसी स्थिति में खोखला होता जायेगा जैसे कि हमारे अधिकांश अनुष्ठान- वे धार्मिक हों, सामाजिक हों या राजनैतिक - होते गये हैं।

२४ जुलाई, २०२० **उदयन वाजपेयी**

जीवन और जगत पर विचारों का सिलसिला

सामदोंग रिनपोछे से उदयन वाजपेयी की बातचीत

५ नवम्बर, १९३९ को जोल, तिब्बत में जन्में सामदोंग रिनपोछे तिब्बती संस्कृति और बौद्ध धर्म व दर्शन के गहरे विद्वान हैं। इन्हें बीस वर्ष की वय में ही तिब्बत से भारत विस्थापित होना पड़ा था। वे अधिकांशतः धर्मशाला में रहते हैं और प्रवासी तिब्बत सरकार के प्रधानमन्त्री रहे हैं। बाद के वर्षों में श्री रिनपोछे सारनाथ, वाराणसी के तिब्बती उच्च अध्ययन केन्द्र के प्राचार्य और निदेशक रहे हैं। महात्मा गाँधी से प्रभावित सामदोंग रिनपोछे से मेरी पहली भेंट मसूरी में हुई थी जहाँ उन्होंने परम्परा के किन्हीं आयामों पर व्याख्यान दिया था। पूरे व्याख्यान की अवधि में मेरा ध्यान इस तरह लग गया था कि जैसे ही व्याख्यान ख़त्म हुआ, मुझे लगा जैसे मैं किसी दूसरी दुनिया से मसूरी के उस हॉल में फेंक दिया गया हूँ, जिसमें बिछी दरी पर मैं बैठा था। इस बातचीत के लिए रिनपोछे जी को बहुत मुश्किल से समय निकालना पड़ा। हमारी तीन बार भेंट हुई। पहले दो बार हम दिल्ली के एक अतिथि गृह में मिले। वे उस भवन की ऊपरी मंज़िल पर ठहरे थे। उन्होंने मुझे कमरे तक पहुँचाने के लिए नीचे ही कह रखा था। वह बिल्कुल सादा कमरा था जिसमें बिस्तर के अलावा दो कुर्सियाँ और एक मेज़ रखी थी। मेज़ पर कुछ किताबें और एक डायरी थी। मेरे जाते ही हमने बातचीत शुरू कर दी और जैसे ही निर्धारित समय समाप्त हुआ, मैंने खुद बातचीत बन्द की और उनसे अगले दिन आने की अनुमति लेकर चला गया। अगले दिन भी बातचीत ठीक समय पर शुरू हुई और कुछ घण्टे चलने पर समाप्त हुई। रिनपोछे जी धीमें स्वर में और धीरे-धीरे बोलते हैं। उन्हें सुनने पूरा ध्यान देना पड़ता है। तीसरी बार हमारी भेंट दिल्ली में ही एक दूसरे स्थान पर हुई। इस बार हम सुबह क़रीब ११ बजे से लेकर शाम ४ बजे तक रुक-रुककर बातें करते रहे। मेरे हर सवाल को वे बहुत ध्यान से सुनते और फिर हल्का-सा रुककर मानो अपने ही भीतर डूबकर उसका जवाब देते। पहली दो मुलाकातें पिछले वर्ष फरवरी और अगली नवम्बर में हुई।

उदयन- हम बातचीत की शुरुआत तिब्बती भाषा को जानने से शुरू करते हैं। मैंने सुना है कि संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद करते हुए तिब्बती भाषा का रूपान्तरण हुआ। हम कुछ देर तिब्बती भाषा के इतिहास पर ठहरें और यह समझने की कोशिश करें कि आज उसका क्या विस्तार है?

सामदोंग रिनपोछे- आपने यह बहुत गम्भीर सवाल पूछा है। तिब्बत की भाषा के उदय का कोई प्रामाणिक इतिहास आज तक प्राप्त नहीं है। तिब्बत में मिले पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुसार वहाँ मानव समाज की स्थापना तीस-चालीस हज़ार साल पहले हुई लगती है क्योंकि तब के और तब से पहले के भी कुछ मानव अवशेष मिले हैं। अगर इतने पहले वहाँ मानव समाज रहा है, वह बिना भाषा के तो नहीं ही रहा होगा। लेकिन आज हम जिस भाषा का प्रयोग कर रहे हैं, जिसका व्याकरण है,

साहित्य है, वह सातवीं शताब्दी की है। उसकी लिपि भी तभी की है। सातवीं शताब्दी में वहाँ एक राजा हुए थे, सुनसेंग कम्पो, उन्होंने इक्कीस विद्यार्थी भाषा का अनुशासन और लिपि सीखने के लिए भारत भेजे थे। वे सभी नालन्दा जा रहे थे। उनमें से बीस की मृत्यु हो गयी।

उदयन– क्या वे सभी नालन्दा पहुँच पाये थे या कुछ की मृत्यु रास्ते में ही हो गयी थी?

रिनपोछे जी– कुछ रास्ते में मर गये और कुछ लौट नहीं पाये। वे यहाँ की गर्मी सह नहीं पाये। अकेला विद्यार्थी जो बचकर लौट पाया, उसका नाम अणु था। वह संस्कृत का अणु था या तिब्बती का, इसकी जानकारी नहीं है। यहाँ रहते हुए उनका नाम सम्भोट रख दिया गया। भोट शब्द प्रतिपत्ति के लिए होता है और सम उसमें उपसर्ग है। उन्होंने यहाँ भारत में संस्कृत सीखी और यहाँ की लिपि का अध्ययन किया। उन्होंने संस्कृत की वर्णमाला से कुछ वर्णों को हटा दिया और कुछ को जोड़ दिया मसलन उन्होंने क ख ग घ ङ् में से 'क' को छोड़ दिया केवल ख ग घ ङ् रख लिया। च छ ज झ ञ में से 'च' को छोड़कर बाकी वर्ण ले लिये। प फ ब भ म में 'ब' को छोड़ दिया। त थ द ध न को पूरा ले लिया और ट ठ ड ढ ण वर्ग के सभी वर्णों को हटा दिया। इसके साथ कुछ नये वर्ण 'त्च', 'त्छ', 'त्ज', 'त्व' 'त्ष' 'त्स' और 'त्ह' जोड़े। ये संस्कृत में नहीं थे। दस अक्षरों को हटाकर छह को जोड़ दिया। कुल तीस व्यंजन हो गये। संस्कृत के सोलह स्वरों में से केवल चार लिये गये 'इ', 'उ', 'ए' और 'ओ'। इस तरह उन्होंने कुल चौंतीस अक्षर तय किये। फिर उसकी व्याकरण का आठ अध्यायों में शास्त्र लिखा। उनमें से केवल दो अध्याय अब उपलब्ध हैं, बाकी बीच में लुप्त हो गये। ऐसा कहा जाता है। अभी जो दो अध्याय उपलब्ध हैं, उनसे हमारी भाषा का सारा व्याकरण सम्बन्धी कार्य सम्पन्न हो जाता है। तिब्बती लिपि और वर्णमाला की यह संक्षिप्त कथा है। तिब्बती लिपि उस समय प्रचलित देवनागरी की मैथिली से बनी है। वे लोग जो नालन्दा, बिहार के इलाके में पायी जाने वाली पुरानी मैथिली पढ़ पाते हैं, वे तिब्बती लिपि पढ़ सकते हैं।

उदयन– यह इसलिए होगा क्योंकि नालन्दा में उन दिनों मैथिली का ही व्यवहार होता होगा। नालन्दा उसी इलाके में है भी...

रिनपोछे जी– इस रास्ते तिब्बती भाषा व्यवस्थित हुई। आजकल के इतिहासकारों में इसको लेकर विवाद है। कुछ का कहना है कि सम्भोट ने जो लिपि और व्याकरण बनाये, उससे पहले भी लिपि और व्याकरण थे, यह आमतौर पर बौद्ध धर्म पूर्व बौन धर्मावलम्बियों में से कुछ का कहना है। बौन धर्म तिब्बत में बौद्ध धर्म के पहुँचने के पहले से रहा है। कुछ लोगों का कहना है कि उनके पास लिपि नहीं थी, उनका सारा कर्म-काण्ड मौखिक होता था। गुरू अपने शिष्यों को मौखिक शिक्षा ही देते थे। उनकी लिपि के कोई गैर-राजनैतिक साक्ष्य अब तक मिले नहीं है। आजकल जो लिखा जाता है, उसकी प्राचीनता या अर्वाचीनता का कोई आधार नहीं है। सम्भोट की बनायी लिपि को कई लोग, इतिहास की दृष्टि से, प्रथम लिपि मानते हैं और ऐसा मानने में कोई ग़लती नहीं है, मैं ऐसा सोचता

हूँ।

भाषा का विकास होता रहा और आठवीं शताब्दी में वहाँ बौद्ध धर्म के विस्तार के लिए आचार्य शान्तरचित को आमन्त्रित किया गया। वे नालन्दा के विद्वान थे और वृद्ध अवस्था में तिब्बत गये थे। वे तब सत्तर वर्ष के थे और उनका शेष जीवन तिब्बत में ही बीता। उनसे जब राजा ने यह आग्रह किया कि उन्हें तिब्बत में बौद्ध धर्म का विस्तार करना है, उन्होंने जवाब दिया, इसके लिए दो कार्य करने होंगे : प्रथम, सारे बौद्ध वाङ्मय को तिब्बती भाषा में अनुदित करना होगा। दूसरा, अपने कुल पुत्रों से भिक्षु संघ की स्थापना करना होगी। नेपाल या हिन्दुस्तान से भिक्षुओं को बुलाकर काम नहीं चलेगा। अनुवाद करने के लिए तिब्बती भाषा को संस्कृत के समकक्ष लाना आवश्यक था जिससे अनुवाद में कोई त्रुटि न हो। इस तरह तिब्बत में सबसे बड़े बौद्ध मठ 'सम्ये' की स्थापना हुई। यह आजकल के तिब्बत के दक्षिण में है। अब उसके अवशेष बाकी हैं, हालाँकि जब हम १९५९ में तिब्बत से यहाँ आये थे, वह साबुत था।

उदयन– क्या तब वह सक्रिय था?

रिनपोछे जी– जी हाँ। बाद में चीन के कल्चरल रेव्योल्यूशन (सांस्कृतिक क्रान्ति) में नष्ट हो गया था। अब फिर से वहाँ कुछ बना दिया गया है।

उदयन– उस मठ में क्या हुआ करता था? क्या वहाँ संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य भी होता था ?

रिनपोछे जी– उसमें अनेक विभाग थे। एक था साधना का विभाग या उसे संकाय कहिये। उसी में एक था अनुवाद का विभाग और एक था अध्ययन-अध्यापन का विभाग। उसमें भारत के चार-पाँच सौ विद्वान रहते थे और उनके साथ तिब्बत के चार-पाँच सौ विद्यार्थी भी रहते थे। उस मठ में संस्कृत का अध्ययन और अध्यापन होता था, साथ ही साधना होती थी और अनुवाद भी।

उदयन– क्या उन विद्वानों में केवल बौद्ध दर्शन के विद्वान थे या उनके अलावा अन्य दर्शनों के भी विद्वान थे?

रिनपोछे जी– केवल बौद्ध दार्शनिक थे। भारतीयों में अधिकतर भिक्षु लोग थे। गृहस्थ कम थे। इक्का-दुक्का ही रहे होंगे। शान्तरचित तिब्बत जाने से पहले कई ग्रन्थ लिख चुके थे। उनका 'तत्व संग्रह' अत्यन्त महत्व का है। उसके साथ ही उन्होंने उसका स्वभाष्य भी लिखा था। उसके अलावा भी उन्होंने चार-पाँच ग्रन्थ और लिखे थे। उन सभी का तिब्बत में अनुवाद हुआ। उनके बाद उनके प्रधान शिष्य कमलशील को भी तिब्बत आमन्त्रित किया गया।

उदयन– क्या वे भी नालन्दा से आये थे ?

रिनपोछे जी– हाँ। कमलशील भी अनेक ग्रन्थों के रचयिता और व्याख्याकार थे। उन्होंने भी कई ग्रन्थ तिब्बत में रहते हुए लिखे। नवीं शताब्दी के मध्य तक, लगभग सौ सालों तक, अनुवाद कार्य चलता रहा। इस अनुवाद के दौरान संस्कृत भाषा की लेखन और भाषा की शैलियों को तिब्बती भाषा में विकसित किया गया। जैसे संस्कृत में पर्यायवाची शब्द होते हैं वैसे ही पर्यायवाचियों को तिब्बती भाषा में विकसित किया गया। 'अमरकोष' का अनुवाद किया गया। अमरकोष में जो भी शब्दावली थी, उसका तिब्बती में अनुवाद किया गया। संस्कृत के सारे छन्दों का तिब्बती भाषा में समकक्ष ढूँढकर निर्धारित कर दिया गया। उदाहरण के लिए अगर संस्कृत की कोई रचना का अनुष्टुप छन्द से अनुवाद होगा तो तिब्बती में कौन-सा छन्द रहेगा, इसका निर्धारण हुआ। इसीलिए तिब्बती ग्रन्थों से संस्कृत में दोबारा अनुवाद की सहज सम्भावना है क्योंकि जब तक पद में छन्द वापस नहीं आता, वह पद बैठता नहीं है। संस्कृत के इक्कीस या बाईस उपसर्गों के समकक्ष उपसर्ग तिब्बती में आ गये। मसलन 'शुद्ध' के साथ 'वि' लगाने से 'विशुद्ध' और 'परि' लगाने से 'परिशुद्ध' आदि बनते हैं, तिब्बती में 'वि', 'परि' आदि सभी उपसर्गों के समकक्ष निर्धारित किये गये।

उदयन– उन उपसर्गों की नये सिरे से कल्पना की गयी...

रिनपोछे जी– उन्हें कल्पित किया गया। इसीलिए समूचे विश्व के अनुवाद के इतिहास में जैसा ठीक-ठीक अनुवाद संस्कृत से तिब्बती में हुआ है, वैसा कोई अनुवाद कहीं नहीं हुआ। बौद्ध वाङ्मय का चीनी भाषा में भी अनुवाद हुआ है पर तब तक चीनी भाषा विकसित हो चुकी थी। उसकी प्रकृति संस्कृत से मिलती नहीं थी। इसलिए चीनी भाषा में भावानुवाद हुआ। वह शब्दार्थ अनुवाद नहीं हो पाया। जबकि तिब्बत में आचार्य शान्तरचित के निर्देशन में भाषा को ऐसा बनाया गया कि संस्कृत से ठीक-ठीक शब्दानुवाद, छन्दानुवाद और भावानुवाद हो सके। अगर संस्कृत के ग्रन्थ में 'दिनकर' लिखा है तो उसका अनुवाद तिब्बती में 'दिनकर' के समकक्ष ही होता था। 'सूर्य' लिखा हो तो 'सूर्य' के समकक्ष। अंग्रेज़ी में दोनों के लिए ही 'सन' हो जाएगा।

उदयन– 'दिनकर' और 'सूर्य' के अर्थ भले ही एक-से हों पर उनके अर्थ की छटा अलग-अलग है।

रिनपोछे जी– भाषान्तरण के विश्व के इतिहास में संस्कृत और पालि बल्कि भारतीय भाषाओं से जो अनुवाद तिब्बती में हुआ है, उससे अधिक सही और अधिक अनुवाद कभी नहीं हुआ। बुद्ध वचन का अनुवाद तिब्बत में एक सौ आठ पोथियों में हुआ है। उनके तीन हज़ार से अधिक शीर्षक हैं। उनमें सूत्र और तन्त्र आदि हैं। इसके साथ ही भगवान् बुद्ध के वचनों की टीकाओं का भी अनुवाद हुआ है। ये टीकाएँ भारतीय विद्वानों ने की है और इनके पाँच हज़ार से अधिक शीर्षक हैं। ये सब दो सौ बीस पोथियों में है। इतना अनुवाद कहीं नहीं हुआ है। चीन में हुआ बौद्ध साहित्य का अनुवाद इसका एक तिहाई है।

उदयन– इतना सघन और व्यापक अनुवाद निश्चय ही न सिर्फ़ लम्बे समय तक चला होगा, इसके लिए राज्य या समाज से बड़ा समर्थन भी रहा होगा।

रिनपोछे जी– अनुवाद के लिए एक राज्यादेश निकाला गया या कहिये कानून बनाया गया। कोई तिब्बती अनुवादक संस्कृत में कितना भी प्रवीण क्यूँ न हो वह संस्कृत पण्डित के सहयोग के बिना अनुवाद नहीं कर सकेगा, साथ ही यह भी कहा गया कि भारतीय पण्डित तिब्बती भाषा में कितना भी निष्णात क्यूँ न हो वह बिना तिब्बती विद्वान के अनुवाद नहीं करेगा। इन दो राज्याज्ञाओं के अलावा तीसरी राज्याज्ञा यह थी कि जिस पाण्डुलिपि से अनुवाद किया गया है, वह संस्कृत की हो या अन्य भारतीय भाषा की और तिब्बती भाषा में अनुवाद की पाण्डुलिपि दोनों को अनुवाद परिषद के समक्ष रखना होगा।

उदयन– अनुवाद परिषद का संयोजन कैसे होता था? उसमें किस तरह के विद्वान होते थे?

रिनपोछे जी– अनुवाद परिषद में सौ विद्वान तिब्बती भाषा के और सौ संस्कृत भाषा के विद्वान बैठते थे। वे मूलग्रन्थ और उसके अनुवाद का मिलान करते थे। अनुवाद परिषद की स्वीकृति के बाद ही अनुदित ग्रन्थ सूचीबद्ध होता था।

उदयन– सूचीबद्ध होने को तिब्बती में क्या कहते हैं?

रिनपोछे जी– करछा। अनुवाद के नीचे संस्कृत पण्डित और अनुवादक का नाम देना अनिवार्य था। उसमें यह लिखा जाता था कि अमुक पण्डित के निर्देशन में अमुक अनुवादक ने अनुवाद किया है और उसका मूल ग्रन्थ कश्मीर से मिला या मध्यभारत से या असम से मिला आदि। यह इसलिए लिखा जाता था कि अगर बाद में दोबारा निरीक्षण करना हो तो कर सकें।

उदयन– इसका यह अर्थ है कि तिब्बती भाषा में संस्कृत, पालि और अन्य भारतीय भाषाओं से जो अनुवाद हुए हैं, वे सभी नालन्दा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से प्राप्त ग्रन्थों भर के नहीं हैं। अनुवाद के लिए हर क्षेत्र से ग्रन्थ जुटाये गये थे।

रिनपोछे जी– कश्मीर से आये ग्रन्थों के बहुत अनुवाद हुए। तब कश्मीर में बौद्ध धर्म बहुत प्रचलित था। कुछ ग्रन्थ आसाम से भी आये। मध्यभारत में नालन्दा, विक्रमशिला और पश्चिमी भारत के तक्षशिला से भी कुछ ग्रन्थों के अनुवाद हुए। इस तरह इन अनुदित ग्रन्थों में दो-तीन सौ अनुवादकों और लगभग उतने ही पण्डितों का नाम मिलता है।

उदयन– क्या कई बार जिन जगहों पर अनुवादक जाते थे वहाँ संस्कृत के पण्डितों की खोज भी की जाती थी?

रिनपोछे जी– ऐसा नहीं था। अनुवादक जहाँ भी जाते थे, संस्कृत के पण्डित के साथ जाते

थे। पर अधिकांश अनुवाद तिब्बत में बैठकर ही हुए। पाण्डुलिपियाँ जगह-जगह से लायी जाती थीं। अधिकांश पाण्डुलिपियों में यह लिखा हुआ है कि वे कहाँ से आयी हैं।

उदयन- इन पाण्डुलिपियाँ की भी प्रतियाँ तैयार की जाती होंगी?

रिनपोछे जी- इन्हें अनुवाद के साथ रखना होता था। बाद में राहुल सांकृत्यायन वहाँ से बहुत-सी पाण्डुलिपियाँ भारत ले आये। मूल और अनुदित ग्रन्थ राज पुस्तकालय में रखना होते थे। राज पुस्तकालय में सभी अनुदित ग्रन्थ पंजीकृत होकर रखे जाते थे जिससे उनकी प्रामाणिकता बनी रहे।

उदयन- राज पुस्तकालय में संग्रहीत पोथियों को पढ़ने का अधिकार केवल भिक्षुओं को था या सभी को?

रिनपोछे जी- साधारण लोग भी वहाँ ग्रन्थ पढ़ सकते थे। जो भी पढ़ना चाहता पढ़ सकता था। विद्या धारण करने में भिक्षुओं और गृहस्थों के बीच का अन्तर नहीं माना जाता था। वहाँ जात-पाँत भी नहीं थी। यह कहा जा सकता है कि दुनिया में अगर कोई ऐसी भाषा है जिसे लेकर संस्कृत की तमाम अर्थच्छाटाओं का अनुवाद किया जा सकता है, वह केवल तिब्बती है। इतनी सक्षम कोई और भाषा नहीं है।

उदयन- बौद्ध धर्म के तिब्बत पहुँचने की क्या पृष्ठभूमि रही है? मैं यह समझना चाह रहा हूँ कि बौद्ध धर्म के पहले की धर्म परम्परा जिसे आपने बौन धर्म परम्परा कहा, ने ऐसा क्या परिवेश बनाया था कि बौद्ध धर्म वहाँ इतना अधिक स्वीकृत हुआ? क्या तिब्बत से कुछ जिज्ञासु लोग भारत गये थे और उन्होंने वापस आकर बौद्ध धर्म के विषय में अपने देशवासियों को बताया या कुछ बौद्ध भिक्षु भारत से तिब्बत गये? इसका विशेष महत्व इसलिए है क्योंकि बौद्ध धार्मिक परम्परा तिब्बत में अत्यन्त तेज़ी से फैली थी?

रिनपोछे जी- उसका इतिहास बहुत संक्षेप में बताता हूँ। क़रीब-क़रीब छठी शताब्दी में तिब्बत में एक राजा थे। उनके विषय में मिथक भी है और इतिहास भी। मिथक के अनुसार एक पोथी आकाश से राजमार्ग पर अवतरित हुई। उसकी इबारत कोई पढ़ नहीं पा रहा था। फिर आकाश-वाणी हुई कि तुमसे चार पीढ़ियों बाद इसका अर्थ जाना जा सकेगा। इसलिए उस पोथी को एक पूजनीय स्थान पर रखा गया और उसे फूलों से घेर दिया गया और पूज्य माना गया। बाद में पता चला कि वह एक बुद्ध वचन था, संस्कृत में लिखा हुआ। इस मिथक के अनुसार इस तरह तिब्बत में बौद्ध वाङ्मय का पहला अवतरण हुआ। इतिहास लेखन वाले लोग आकाश से आयी पोथी की बात नहीं मानते। उनका कहना है कि तुर्कीस्तान से दो बौद्ध लोग तिब्बत गये थे और उन्होंने इस पोथी को राजा को भेंट किया था। दोनों यह स्वीकारते हैं कि पोथी किसी समय राजा के हाथों में आयी थी। सातवीं शताब्दी में तिब्बत के राजा सुनसेंग कम्पो ने नेपाल और चीन की राजकुमारियों से शादी की। दोनों ही राजकुमारियाँ अपने

दहेज़ में बुद्ध की मूर्तियाँ ले गयी थीं।

उदयन– ये दोनों मूर्तियाँ क्या अभी भी तिब्बत में है?

रिनपोछे जी– जी हाँ, कई शतियों तक रहीं। इस तरह भगवान् बुद्ध की मूर्तियाँ तिब्बत पहुँच गयीं। इसके बाद दोनों मूर्तियों के ल्हासा में मन्दिर स्थापित हुए। चीन से आयी मूर्ति अब तक है, चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान नेपाल से आयी मूर्ति को तोड़ दिया गया लेकिन उसके टुकड़ों को जोड़कर उसे फिर से बनाया गया। इन मूर्तियों के आ जाने के बाद राजा के मन में यह जिज्ञासा हुई कि वह इन मूर्तियों से सम्बद्ध बौद्ध धर्म को जाने। फिर यह विचार किया गया कि इस धर्म को जानने वे कहाँ जाएँ? उनके मन्त्रियों ने सलाह दी कि चीन में इस धर्म का बहुत प्रचलन है, वहाँ इस धर्म के विद्वान भी बहुत हैं। हमें यह धर्म वहाँ से लाना चाहिए। इस पर राजा ने उनसे पूछा कि बौद्ध धर्म का उदय कहाँ हुआ है। भगवान् बुद्ध थे कहाँ के? इस पर जवाब मिला कि वे भारत के थे। इस पर राजा ने सोचा कि उन्हें बौद्ध धर्म का द्वितीयक ज्ञान क्यों लेना चाहिए। उन लोगों को भारत जाकर ही बौद्ध धर्म की शिक्षा लेनी चाहिए।

उदयन– क्या इसी कारण तिब्बत से वे इक्कीस विद्यार्थी नालन्दा भेजे गये थे?

रिनपोछे जी– राजा ने ही ये इक्कीस विद्यार्थी बौद्ध धर्म के ज्ञान के लिए भारत भेजे। उन्होंने ही तिब्बती भाषा का विकास सम्भव किया। इन्हीं इक्कीस विद्यार्थियों के साथ सम्भोटी आये थे। सम्भोटी के लौटने के बाद जब भाषा समृद्ध हो गयी तब बौद्ध धर्म की स्थापना के लिए राज-शासन की प्रेरणा से आचार्य शान्तरचित आमन्त्रित किये गये। उन्होंने ही भिक्षु संघ बनाये थे।

उदयन– क्या इन भिक्षु संघों में सारे तिब्बती लोग थे?

रिनपोछे जी– शुरू में साठ तिब्बती नागरिकों को भिक्षु बनाया गया था। जब यह प्रयोग सफल हुआ तब और लोग भी इसमें शामिल हो गये। इसीलिए तिब्बत में बौद्ध धर्म की स्थापना शान्तरचित के निर्देशन में हुई। उसके बाद कमलशील का निर्देशन रहा। यह स्थापना ठीक-ठीक हुई और उसमें कोई मिश्रण नहीं हुआ।

उदयन– क्या बौद्ध धर्म की स्थापना से तिब्बत के समाज की संरचना में कोई फ़र्क आया?

रिनपोछे जी– समाज की संरचना में कोई बड़ा फ़र्क आया हो, ऐसा इतिहास में मिलता नहीं है। लेकिन उससे राष्ट्र के रूप में बदलाव अवश्य आया। इसके पहले तक तिब्बत को योद्धाओं का देश माना जाता था। वहाँ योद्धा बहुत थे, जिनकी सैन्य शक्ति बहुत अधिक थी। तब चीन और मंगोलिया भी तिब्बत से डरते थे। तिब्बत का मंगोलिया और चीन से कई बार युद्ध हुआ था।

उदयन– क्या इसका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के पहले के बौन धर्म से था ?

रिनपोछे जी– सम्बन्ध शायद नहीं था। वे प्राकृतिक रूप से ही अपने क्षेत्र को विस्तृत करने और अपनी शक्ति को संजोने के लिए युद्ध करते थे। बौद्ध धर्म की स्थापना के बाद समूचा राष्ट्र अहिंसक हो गया इसलिए युद्ध होना कम हो गये।

उदयन– यह रूपान्तरण कितने वर्षों में हुआ। सौ-डेढ़ सौ वर्ष से कम में ऐसा रूपान्तरण सम्भव नहीं लगता?

रिनपोछे जी– यह रूपान्तरण सौ-डेढ़ सौ वर्षों में हुआ। नवीं शती में राज परिवार विभाजित हो गया। इसके बाद अन्तर्कलह हुई और तिब्बत छोटे-छोटे भागों में बँट गया। लंगधर्मा नाम के जो राजा हुए, उन्होंने बौद्ध धर्म को पूरी तरह नष्ट करने का प्रयास किया। बहुत-से मन्दिरों को तोड़ दिया गया। बहुत-सा वाङ्मय जला दिया गया। पर उन राजा का शासन केवल छः माह तक ही रहा। अगर वह लम्बे समय तक रहा होता, वहाँ बौद्ध धर्म खत्म हो गया होता। इतिहास के लोग इसकी दो तरह से व्याख्या करते हैं। बौन धर्म से सम्बन्धित पुराहित और राज परिषद ने लंगधर्मा को बौद्ध धर्म को नष्ट करने प्रेरित किया। लेकिन कुछ और लोग कहते हैं कि ऐसा नहीं था। वह राजा स्वयं बौद्ध धर्म विरोधी थे और योद्धा बनना चाहते थे। वे सोचते थे कि बौद्ध धर्म के कारण सैन्य शक्ति का क्षय हुआ है और वे उस सैन्य शक्ति को दोबारा स्थापित करना चाहते थे। वे यह मानते थे कि बौद्ध संघ और अनुवाद के कार्य में बहुत सारा राजकीय धन का व्यय हुआ है। वे उसे रोकना चाहते थे। कारण जो भी रहा हो, उन्होंने बौद्ध धर्म को समाप्त करने की चेष्टा की। छः महीने के बाद एक बौद्ध भिक्षु ने ही उन्हें मार दिया। उनके मरने के बाद दोबारा जो धर्म प्रचार दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ, उसमें बहुत कठिनायी हुई। कुछ भिक्षु संघ जो पहले चीन की सीमा पर थे, वहाँ से आ गये। धर्मपाल जैसे कुछ भारतीय पण्डित कश्मीर से वहाँ आये। लेकिन इन सबसे बौद्ध धर्म की व्यवस्था ठीक-ठीक नहीं हो पा रही थी इसलिए दीपांकर श्रीज्ञान को आमन्त्रित किया गया। वे बंगाल के राजकुमार थे और विक्रमशिला के विद्वान थे। वे ग्यारहवीं शती में तिब्बत गये। वे क़रीब सत्रह वर्षों तक तिब्बत में रहे। उनका शरीर तिब्बत में ही छूटा। दीपांकर श्रीज्ञान ने तिब्बत में रहकर 'बौद्धपादप्रदीप' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की।

उदयन– इसका आशय हुआ 'बुद्ध के मार्ग का आलोकन।' क्या यह किसी तरह की टीका थी?

रिनपोछे जी– यह शास्त्र था। इसका तिब्बत में बहुत प्रचार हुआ। इस बीच बौद्ध धर्म की जो दुर्व्याख्याएँ और ग़लतफ़हमियाँ पैदा हो गयी थीं, उनका इस ग्रन्थ ने निराकरण किया। इस तरह बौद्ध धर्म का पुर्नस्थापन हुआ। उनके साथ अनुवादक रतनभद्र ने सारे पुराने अनुवादों का पुनरावलोकन कर उसका संकलन किया। रतनभद्र का तिब्बती नाम है रिनछिन संगपो। उनके द्वारा स्थापित कई विहार अभी भी किन्नोर, लद्दाख आदि में बाकी हैं। उन दिनों ये सब तिब्बत के अन्तर्गत ही आते

थे। ये हिमालयायी क्षेत्र के स्थान हैं।

उदयन– क्या उसके बाद कोई बड़ी बाधा तिब्बत में बौद्ध धार्मिक परम्परा पर अब तक आयी है?

रिनपोछे जी– ग्यारहवीं शताब्दी से १९५९ में चीन का तिब्बत पर हमला होने से पहले तक कोई गड़बड़ नहीं थी। यह परम्परा क़रीब एक हज़ार वर्ष तक अक्षुण्ण चलती रही।

उदयन– आपने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि बौद्ध धर्म में ज्ञान परम्परा ऊँचे स्तर की है पर उसमें राज्य व्यवस्था की कल्पना बहुत विस्तृत नहीं है। क्या तिब्बत पर इसका असर पड़ा है? मसलन भारत में युद्ध में जाने वाले लोग हुआ करते थे, उनको बहुत मोटे रूप में क्षत्रिय कह सकते हैं पर केवल क्षत्रिय ही नहीं जाते थे याकि सारे क्षत्रिय भी नहीं जाते थे। क्या बौद्ध धर्म की स्थापना के बाद तिब्बत में योद्धा बाकी ही नहीं बचे?

रिनपोछे जी– क्षत्रिय बिल्कुल ही नहीं बचे, यह कहना कठिन है। सारे राजाओं ने किसी हद तक सैनिक बल बनाया था। लेकिन पहले के जैसा सैन्य बल जहाँ सैनिक युद्ध करके अपने क्षेत्र का विस्तार करने में संलग्न रहते थे, वह लगभग बन्द हो गया। बौद्ध धर्म के बाद योद्धा लोग आन्तरिक सुरक्षा और कानून व्यवस्था के लिए थे। उनका महत्व आनुष्ठानिक भी था। सोलहवीं शताब्दी से दलाई लामाओं का शासन शुरू होने के बाद सैनिक बल का समारोहों में परेड और सल्यूट आदि करने का कार्य शुरू हुआ।

उदयन– तिब्बत की अध्येता-राजा परम्परा क्या दलाई लामा के ही शासन से शुरू हुई है, या यह इसके पहले भी कभी थी?

रिनपोछे जी– यह दलाई लामा के शासन से पहले तेरहवीं शताब्दी के सचा वंश से शुरू हुई। उन्नीसवीं शती में तिब्बत तेरह हिस्सों में बँट गया था। हर हिस्से पर कोई प्रधान शासन करता था। सन् १२१३ में जिंगिश खान (चंगेज़ खान ११६२-१२२७) की मंगोलियाई सेना ने तिब्बत पर कब्ज़ा कर लिया। उनके वंशजों ने कुछ समय तक तिब्बत पर शासन किया। लेकिन उनके शासन करने का तरीका चीन से अलग था। मंगोलियाई लोग तिब्बत में रहते नहीं थे, उन्होंने तिब्बत के हिस्सों के शासकों को ही शासन सौंप रखा था। हर साल एक निश्चित मात्रा में कर राशि मंगोलिया भेजी जाती थी। किस शासक के मरने के बाद उसका कौन उत्तराधिकारी होगा, यह मंगोलियाई शासक तय करते थे। इसके अलावा सारा स्थानीय शासन पहले जैसा ही रहा। जिंगिश खान के तीसरे वंशज कुबला खान (१२५९-१२९७) का शासन चीन पर था। कुबला खान ने डोंगिन छीते फापा को चीन में राजगुरू की पदवी दी। वे शाक्य बौद्ध परम्परा के बहुत बड़े विद्वान थे। तिब्बत में बौद्ध परम्परा में चार सम्प्रदाय हैं। उसमें नीमा सबसे पुराना है। उसके बाद शाक्य हैं। डोंगिन छीते फापा को कुबला खान ने राजगुरू

नियुक्त कर उनसे तान्त्रिक अभिषेक प्राप्त किया। तब तक तिब्बत में मंगोलियाई शासन के पचास-पचपन वर्ष बीत चुके थे। गुरू दक्षिणा के रूप में कुबला खान ने गुरू फापा को तिब्बत दे दिया। तभी से तिब्बत में धर्म गुरू शासक होना शुरू हुए।

उदयन– आप यह कह रहे हैं कि कुबला खान ने उन्हें तिब्बत गुरू दक्षिणा में देते हुए उनसे तिब्बत का शासन करने का आग्रह किया था।

रिनपोछे जी– कुबला खान ने फापा को तिब्बत का शासक नियुक्त कर उनके चारों ओर शासन का काम करने वाले मंगोलियाई कर्मचारी नियुक्त कर दिये। उन्होंने कहा कि आप गुरू हैं, आपको शासन करने में मुश्किल होगी, हमारे लोग शासन करना जानते हैं, वे आपके इर्द-गिर्द रहेंगे। उसके बाद से सारा तिब्बत एक राष्ट्र के रूप में स्थापित होकर शाक्य वंश के शासन में आ गया। उसके बाद दो-तीन राजवंशों ने तिब्बत का शासन किया।

पाँचवे दलाई लामा के समय तिब्बत में आन्तरिक कलह बढ़ गयी और इसलिए मंगोलियाई शासक गुशी खान (१५८२-१६५४) ने दो साल तक सेना लेकर तिब्बत को शाक्य वंश से ले लिया और पाँचवे दलाई लामा को कहा कि मैं यहाँ शासन करने नहीं आया हूँ। यह धर्म का क्षेत्र है और मैं यहाँ शिक्षित होने आया हूँ और चूँकि यह क्षेत्र मर्यादित होना चाहिए, मैं इसका शासन आपको दे रहा हूँ।

उदयन– मेरा ख़याल है कि तिब्बत की एक धार्मिक क्षेत्र होने की मान्यता मंगोलियाई लोगों के बीच बहुत पुरानी है, शायद चंगेज़ खान के समय से। क्या चंगेज़ खान स्वयं तिब्बत आये थे?

रिनपोछे जी– जी हाँ। चंगेज़ खान तिब्बत के केवल कुछ क्षेत्रों में आये थे। वे तिब्बत के पूरे क्षेत्रों में नहीं गये थे लेकिन उनके सिपहसालार हर जगह काम देखते थे। उनका सैनिक बल इतना अधिक था कि किसी में उनका विरोध करने का साहस नहीं था। कुबला खान के तिब्बत के शासन को तिब्बती धर्मगुरू को सौंपने के बाद से ही मंगोलियाई और मंचुरियाई शासन में चीन और तिब्बत के सम्बन्ध निकटता के थे। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध चलते रहे : तिब्बत का शासक चीन का राजगुरू होता था। पाश्चात्य विद्वानों ने इस सम्बन्ध को 'प्रीस्ट पेट्रन' सम्बन्ध कहा है। उसमें राजनैतिक अधीनता बिल्कुल नहीं थी। पड़ोसी राज्यों के रिश्ते और गुरु-शिष्य सम्बन्ध के चलते अगर तिब्बत को कभी चीन से कोई मदद की आवश्यकता होती, चीन कर देता था। जब चीनी यह प्रचार करते हैं कि तिब्बत तब से ही चीन का अंग है, वे ग़लत करते हैं। पर वह अलग बात है। मैं केवल यह कह रहा था कि १२६४ से धर्मगुरू के शासक बनने की प्रथा का तिब्बत में आरम्भ हुआ।

उदयन– आपने कहा कि कुबला खान को तन्त्र विद्या से अभिषिक्त या दीक्षित किया गया था और उसके बाद से ही धर्म गुरूओं के तिब्बत का शासक होने की प्रथा आरम्भ हुई। क्या ये सारे

धर्मगुरू तन्त्र-विद्या में निष्णात थे और क्या ये गुरू गुरु-शिष्य परम्परा में दीक्षित होते थे?

रिनपोछे जी- ये गुरू तन्त्र-विद्या में निष्णात थे और इन्होंने गुरु-शिष्य परम्परा में रहकर ही तन्त्र आदि की शिक्षा पायी थी।

उदयन- क्या यह परम्परा आज भी अक्षुण्ण है?

रिनपोछे जी- आज भी अक्षुण्ण है। यह विद्या जो साम्प्रदायिक है, अगर यह टूट जाए, वह दोबारा नहीं बन सकती। वह अक्षुण्ण होकर ही जीवित रह सकती है।

उदयन- आपका जदु कृष्णमूर्ति से संवाद होता रहा है पर वे गुरु को नहीं मानते थे और आपके लिए गुरु परम्परा शिक्षा की रीढ़ है। आपका उनसे किस तरह संवाद बैठ पाता था?

रिनपोछे जी- मेरी उनके साथ व्यक्तिगत मित्रता थी। उनकी भाषा-शैली मुझे पसन्द आती है और हमें उसमें अधिक अन्तर्विरोध नहीं दिखता। वे गुरु परम्परा को 'गुरूडम' कहते थे और यह मानते थे कि ऐसा कुछ नहीं है। अगर कृष्णमूर्ति के विचारों का ध्यान से अध्ययन किया जाए तो यह देखा जा सकेगा कि वे परम्परा से अलग नहीं है। हालाँकि उनका ढंग अलग है। उनकी भाषा अलग है। कृष्णमूर्ति का उदय गुरु परम्परा से ही हुआ है। मेडम ब्लडवस्की और कानन रेडकोड को तिब्बत के गुरुओं से यह आदेश मिला था कि अब एक नये विश्व परम की आवश्यकता है, तुम लोग उसके लिए माध्यम की खोज करो। उसी प्रक्रिया में एक अफ्रीकी बालक को लाया गया था पर वह स्थापित नहीं हो सका। इसके बाद कृष्णमूर्ति को चुना गया था। वह चुनाव सफल हो गया था। कृष्णमूर्ति की आरम्भिक रचना 'एट द फ़ीट ऑफ मास्टर्स' गुरू परम्परा की ही बात करती है। बाद में 'वर्ल्ड टीचर' के होने से उन्होंने गुरू परम्परा को नकारा।

उदयन- उनका तिब्बत से इस तरह गहरा सम्बन्ध है...

रिनपोछे जी- थियोसॉफ़ीकल सोसायटी का प्रकाशन 'लेटर्स फ्राम द मास्टर्स' में मास्टर कुथुमे और मास्टर मौर्या के ही सारे उपदेश हैं। उसी में से माध्यम चुनने का विचार निकलता है। उनका कहना था कि सारे धर्मों का सार नष्ट हो गया है और उनके केवल संगठन और कर्मकाण्ड बाकी बचे रह गये हैं जिससे मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता।

कृष्णमूर्ति यह मानकर चले कि धर्म 'काज ऑफ़ कण्डीशिनिंग' है, वह मन को संकुचित करता है, इसलिए उन्होंने सभी धर्मों को नकार दिया। उनके निषेध विशेष किस्म के हैं, इसलिए शून्यवाद और नागार्जुन की ओर जाने वाले लोग उनसे घबराते नहीं हैं। यही कारण था कि मेरा भी उनसे समन्वय हो जाता था।

उदयन- बौद्ध चिन्तन में यह मान्य है कि चित्त अपने में शुद्ध है, उसके ऊपर क्लेश आ जाते

हैं। वे आवरण हैं। दरअसल चित्त अपने में ही करूणामय है, यह दृष्टि कृष्णमूर्ति के साथ बैठ जाती होगी।

रिनपोछे जी– जी हाँ उनके साथ बैठ जाती है। उनकी भाषा अलग है। श्रीलंका के एक विद्वान हुए हैं विपुल राहुल। अब उनका शरीर छूट गया है। वे पालि के विद्वान थे। उन्होंने एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है: 'व्हाट तिब्बत हेज़ टॉट।' उनके साथ कृष्णमूर्ति का संवाद हुआ था। कृष्णमूर्ति उस संवाद में जब एक वाक्य बोलते हैं, विपुल राहुल तुरन्त हस्तक्षेप कर कहते हैं कि ठीक यही बात तथागत ने ढाई हज़ार साल पहले कही थी। इसके बाद वे पालि में उस बात को उद्धृत करते हैं। इस पर दोनों लोग हँसते हैं।

उदयन– आप तो उनकी तुलना में युवा रहे होंगे। आपकी उनसे किस तरह बात होती थी? बल्कि यह बताएँ कि आपकी उनसे भेंट किस तरह हुई?

रिनपोछे जी– इसकी एक कहानी है। मैं जब बनारस पहुँचा-सारनाथ, अच्युत पटवर्धन उन दिनों राजघाट पर काम करते थे। अच्युत पटवर्धन जी 'बुद्धचर्यअवतार' का अध्ययन कर रहे थे। यह नवीं शताब्दी का ग्रन्थ है जिसे नालन्दा में रहकर आचार्य शान्तिदेव ने लिखा था। पटवर्धन जी का सहयोग जगन्नाथ उपाध्याय जी कर रहे थे। कहीं-कहीं उन्हें संशय होता था तो जगन्नाथ उपाध्याय जी से भी कई बार समाधान नहीं हो पाता था। यह इसलिए था क्योंकि यहाँ मौखिक परम्परा लुप्त हो गयी पर तिब्बत में वह है। उपाध्याय जी ने अच्युत जी से कहा कि आप सारनाथ के तिब्बत संस्थान के विद्यार्थियों से बात कीजिए। इस तरह अच्युत जी मेरे पास आते थे, कुछ श्लोकों का अर्थ करने के लिए। वे मेरे मित्र हो गये और उन्होंने मुझसे कहा कि मुझे कृष्ण (मूर्ति) जी से मिलना चाहिए।

उदयन– तब कृष्णमूर्ति बनारस में ही रहे होंगे?

रिनपोछे जी– वहीं थे। वे जब बनारस आये हुए थे, मैं उनसे मिल नहीं पाया। वे चेन्नई गये और वहीं मुझे थियोसौफ़ीकल सोसायटी ने बुलाया। मेरी भेंट उनसे उसी अवसर पर हुई।

उदयन– क्या यह १९७० के आसपास की बात होगी?

रिनपोछे जी– यह इकहत्तर की बात है। उसके बाद से वे जब भी बनारस आते थे, मुझे उनके राजघाट के निवास पर बुलाया जाता था और हम जाते थे और बातचीत होती थी। हमारी एक टोली थी जिसमें जगन्नाथ उपाध्याय थे और थे रामशंकर त्रिपाठी, अच्युत पटवर्धन, राजा बोनर और देशपाण्डे जी जिनका देहान्त हो गया। हम नौ लोग थे। उन दिनों 'डायलॉग्स विद बुद्धिस्ट स्कॉलर्स' चलती थी। हम लोग उसमें भाग लेते थे।

उदयन– क्या उसमें अन्य श्रोता भी होते थे?

रिनपोछे जी– ज़्यादा नहीं होते थे। उसे रिकॉर्ड किया जाता था। यह कई वर्षों तक चला। कृष्ण

जी जब भी बनारस आते थे, हम लोग निश्चय ही इकट्ठा होते थे। कई बार वहाँ से दिल्ली भी जाते थे, पुपुल (जयकर) जी के घर। उनके साथ चेन्नई भी जाते थे। ऐसा करते-करते उनसे बहुत निकटता हो गयी।

उदयन- अब हम वापस तिब्बत पर बात करते हैं। वहाँ की समाज व्यवस्था कैसी रही है, मसलन भारत में पंचायतों के जरिये शासन होता था और जैसा धर्मपाल जी ने खोजा है कि राजस्व का अधिकांश गाँव के स्तर पर ही रख लिया जाता था और उसका कुछ अंश ही ऊपर यानि जनपदीय आदि स्तरों पर भेजा जाता था।

रिनपोछे जी- वहाँ पंचायत आदि की व्यवस्था नहीं थी। पुराने ज़माने में गाँव के स्तर पर एक ग्राम प्रधान होता था। वह चुना नहीं जाता था, आनुवांशिक ढंग से आता था। ग्राम प्रधान के घर जो पैदा होता था, वही आगे जाकर ग्राम प्रधान हो जाता था।

उदयन- क्या वह विद्वान होता था?

रिनपोछे जी- नहीं। ग्राम प्रधान ही राजा से सम्पर्क रखते थे। राजा उनसे ही बात करते थे। गाँव बहुत छोटे थे, इसलिए यह व्यवस्था चल जाती थी।

उदयन- क्या शताब्दियों से यही व्यवस्था चली?

रिनपोछे जी- हाँ यही चली।

उदयन- उस व्यवस्था में बौद्ध धर्म के कारण हिंसा भी न होती होगी।

रिनपोछे जी- हिंसा भी नहीं हुई और अपराध भी ज़्यादा नहीं थे। दस से पचास गाँव के ऊपर एक जिला जैसा होता था, जिसका एक शासक होता था। वह अनुवांशिक नहीं होता था। उसे केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता था। उसका तबादला हो सकता था।

उदयन- क्या ये चीन के मेण्डरीन जैसे अधिकारी थे?

रिनपोछे जी- ये थोड़े अलग थे। शुरू में जिलों में कैसी व्यवस्था रही होगी, पता नहीं पर पाँचवें दलाई लामा के शासन के बाद से जिला प्रमुख दो होते थे। एक गृहस्थ अधिकारी होता था और एक लामा। ये दोनों मिलकर जिलानुशासन करते थे। जिले के नीचे जितने भी गाँव हैं, उनमें आनुवांशिक प्रधान होते थे, उनके माध्यम से ही जिला प्रमुखों के आदेशों का आना-जाना होता था। गाँव के प्रधान गाँवों की स्थिति को जिला प्रधानों तक पहुँचाते थे और केन्द्र से आये आदेश जिला प्रधान ग्राम प्रधानों के माध्यम से ग्रामीणों तक पहुँचाते थे।

उदयन- क्या बौद्ध विहार पर्याप्त संख्या में थे?

रिनपोछे जी- वे लगभग हर गाँव में होते थे। अगर किसी गाँव में विहार नहीं भी होते, वे

पास के विहारों से जुड़े रहते। ऐसा कोई गाँव नहीं है, जिसका सीधा सम्पर्क किसी विहार से न हो।

उदयन– विद्यालय इन विहारों से अलग होते थे या नहीं?

रिनपोछे जी– विद्यालय अधिकांशतः नहीं होते थे इसलिए अधिकतर लोग निरक्षर थे और जो थोड़ा बहुत अगर ज्ञान होता भी था, वह आनुवांशिक था। अगर पिता शिक्षित हुए, वे अक्षर ज्ञान अपनी सन्तानों को दे दिया करते थे साथ ही कुछ आसपास के लोगों को भी यह ज्ञान देते थे। यह सब अनौपचारिक था।

उदयन– जिसे बौद्ध धर्म या दर्शन की शिक्षा लेनी होती थी, वह विहार जाता होगा?

रिनपोछे जी– वो विहार जाता था

उदयन– क्या विहार में दीक्षित होने के लिए कोई चुनाव होता था या माता-पिता की अनुमति ही पर्याप्त थी?

रिनपोछे जी– अधिकांश माता-पिता की इच्छा से जाते थे। अगर घर में दो या तीन पुत्र होते तो वे एक पुत्र को विहार भेज देते थे या दो को भेज देते और केवल एक घर पर रखते। इसलिए भिक्षुओं की संख्या काफ़ी अधिक रही है। कुल जनसंख्या का लगभग छः प्रतिशत भिक्षु होते थे।

उदयन– क्या ये भिक्षु विहार से निकलकर गाँव में भ्रमण करते थे और क्या साधारण ग्रामीणों से बातचीत भी करते थे?

रिनपोछे जी– वे लोगों के पास पूजा-पाठ करने जाते थे जैसे कोई आदमी मर गया है तो उसका संस्कार करना या किसी का जन्म हुआ है तो उसका नामकरण या संस्कार करना। यह सब करने लोग भिक्षुओं को अपने-अपने गाँवों में बुलाते थे। वे जाते थे, पूजा-पाठ करवाते थे।

उदयन– इन अवसरों पर क्या उनकी ग्रामीणों से ज्ञान सम्बन्धी बातचीत भी होती थी?

रिनपोछे जी– इस तरह की बातें औपचारिक रूप से ही होती थी। इस तरह नहीं होती थीं, मानो उन्हें शिक्षित किया जा रहा हो। अधिकांश गाँववाले धर्म नाम की चीज़ जानते नहीं थे, अन्धविश्वासी थे। 'ये करना है', 'ये नहीं करना' इतना ही जानते थे। यही एक कमज़ोरी तिब्बतियों में रही है, इसीलिए वर्तमान दलाई लामा ने यह सोचा कि धर्म का ज्ञान सिर्फ़ भिक्षुओं को ही नहीं, गृहस्थ आदि सबको होना चाहिए। इस कारण वहाँ शिक्षितों की भी वृद्धि हुई है और धर्म के ज्ञान की भी। गृहस्थों को भी पढ़ना-लिखना चाहिए, उन्हें भी धर्म का ज्ञान होना चाहिए। वरना धर्म पर अन्धविश्वास हो जाएगा।

उदयन– जब आप भारत आये, आप कितने वर्ष के थे?

रिनपोछे जी– बीस वर्ष के। तब तक मेरी शिक्षा-दीक्षा पूरी नहीं हुई थी। मैं पाँच वर्ष की आयु

में अपने गाँव के मठ में आ गया था। वहाँ से बारह वर्ष की उम्र में उच्च अध्ययन के लिए बड़े विहार में गया।

उदयन– कौन-सा विहार था?

रिनपोछे जी– वह त्रिपोंग विहार था, ल्हासा के पास स्थित है। उसमें आठ हज़ार के क़रीब भिक्षु रहते थे। वहाँ मैं केवल आठ वर्ष रह पाया। कुल अध्ययन के लिए बीस वर्ष और बाकी थे इसलिए मेरी शिक्षा आधी से भी कम हो सकी।

उदयन– जब चीन का तिब्बत पर आक्रमण हुआ, आप विहार में ही रहे होंगे?

रिनपोछे जी– तिब्बत में चीन का कब्जा १९५१ में ही हो गया था। आधा तिब्बत उन्होंने युद्ध करके जीत लिया था। बाकी पर १७ प्वाईण्ट एग्रीमेण्ट से कब्ज़ा कर लिया। जब मैं सेण्ट्रल तिब्बत में आया, चीन वहाँ पहले ही पहुँच चुका था। १९५१ से १९५९ तक चीन के आधिपत्य में रहकर ही मैंने कार्य किया लेकिन १९५९ की दस मार्च को आक्रमण हुआ। उस दिन हम विहार में ही थे। दस मार्च से सत्रह मार्च तक बहुत हंगामा हुआ। दलाई लामा जी शासक नहीं रहे। विहार को चारों ओर से घेर लिया गया। दलाई लामा जी की सुरक्षा के लिए सुशी लांगो खाम्पा चीन से लड़ रहे थे। सत्रह मार्च को वहाँ से दलाई लामा जी का प्रस्थान हुआ। अठारह, उन्नीस, बीस मार्च तक कुछ नहीं हुआ पर बीस की रात और इक्कीस की सुबह बमबारी शुरू हुई। इक्कीस की दोपहर तक पोटाला पैलेस को धराशायी कर दिया गया। हमारे विहार के सामने भी उस दिन दो बड़े बम गिरे लेकिन विहार को कोई क्षति नहीं हुई। उस सारे दिन बमबारी होती रही।

लेकिन तब तक परमपूज्य दलाई लामा वहाँ से जा चुके थे। दक्षिण तिब्बत में रिवोल्यूशनरी आर्मी ने कब्ज़ा कर रखा था, उसमें चीन के सैनिक नहीं थे इसीलिए परमपूज्य उस रास्ते हिन्दुस्तान आ गये। उसकी अपनी एक कहानी है।

उदयन– जब आप तिब्बत में थे, आप सबके बीच धर्म चर्चाएँ आदि हुआ करती होंगी क्योंकि वहाँ तब तक आधुनिक सभ्यता पहुँची नहीं थी, भारत आकर आपका आधुनिक मूल्यों से शायद पहली बार सामना हुआ होगा क्योंकि तब तक भारत अंग्रेज़ों के प्रभाव में आधुनिकता का वरण काफ़ी दूर तक कर चुका था। यह सम्भवतः आप लोगों की आधुनिकता से पहली मुठभेड़ थी?

रिनपोछे जी– व्यक्तिगत भावनाओं में कई उतार-चढ़ाव हुए। जब हम भारत आये, यहाँ आधुनिकता का बहुत प्रभावशाली प्रकटन लक्षित हुआ। तब हम यह नहीं जानते थे कि हम तिब्बत नहीं लौट पाएँगे और चीन के शासन से हमें स्वतन्त्रता नहीं मिल पाएगी। चार-पाँच साल तक हमारी ऐसी ही मनःस्थिति थी। इसीलिए पहले हमें मीसानरी कैम्प में सरकार की ओर से रखा गया विशेष रूप से युवकों को हिन्दी सिखाने के लिए और अंग्रेज़ी भी।

उदयन– तब तक ज़ाहिर है अंग्रेज़ी से आपका कोई सम्पर्क नहीं हुआ होगा? ऐसा ही आपकी उम्र के तमाम भिक्षुओं और अध्येताओं के साथ भी रहा होगा?

रिनपोछे जी– नहीं था। लेकिन जब रिफ्यूजी कैम्प में हम लोगों को अंग्रेज़ी भाषा सिखाने की व्यवस्था की गयी, मैं और अन्य भिक्षु पूरी उत्सुकता से वहाँ गये और सीखने लगे। हम नहीं सीखे, हम यह कहते रहे कि हम यहाँ बसने नहीं आये हैं। हम यहाँ इसलिए आये हैं क्योंकि तात्कालिक रूप से तिब्बत में दमन हो रहा है। जब हमारी समस्या का समाधान हो जाएगा, हम लौट जाएँगे, यहाँ की भाषा सीखकर हम क्या करेंगे? १९६० के मध्य में हम लोगों को धर्मशाला बुलाया गया, आगे कुछ करने के लिए। हम तेरह-चौदह हमउम्र नवयुवक कैम्प में थे। हम गये। मेरे साथी भाषा सीखने लगे और काफ़ी सीख गये। लेकिन मैं सीखने से बचता रहा। हिन्दी भाषा मुझे बाज़ार आदि जगहों पर सुन-सुनकर आ गयी।

उदयन– एक तरह से आपकी अंग्रेज़ी न सीखने की हठ लौटने की उम्मीद को दृढ़ करने में लगी रही। अंग्रेज़ी सीखने का अर्थ नाउम्मीद स्वीकार कर लेना होता।

रिनपोछे जी– वैसा ही रहा होगा। इसके बाद १९६१ से हमें स्कूलों में लगा दिया गया। तब हमें स्कूल का शासन भी करना पड़ा।

उदयन– तब तक आप क्या धर्मशाला में ही थे?

रिनपोछे जी– शिमला आ गया था। वहाँ तिब्बती रिफ्यूजी स्कूल था। ऐसे स्कूल जगह-जगह खुले थे। शिमला के स्कूल में हमारे प्राचार्य बीमार पड़ गये तो हमें प्रभारी प्राचार्य बना दिया गया। हमारे स्कूल में हेड मास्टर थे अरुण हमीद। वे शुरू में मुसलमान थे, फिर ईसाई हो गये थे। उनके साथ विवाद होते रहते थे। दुभाषिये की मदद से उनसे बहस करने में दिक्कत होती थी। इसलिए मैं हिन्दी भाषा सीखने की कोशिश की।

उदयन– जिससे बहस ठीक से कर सकें।

रिनपोछे जी– फिर भी लिखने-पढ़ने योग्य अध्ययन नहीं हो पाया था। मैं यह कह रहा था कि हम लोगों के दिमाग में भारत का अलग चित्र था। आचार्य नागार्जुन असम के थे, इसी तरह दिङ्नाग और चन्द्रकीर्ति आदि महान विद्वानों का सम्बन्ध भारत से था। इसके कारण भारत का एक बहुत बड़ा चित्र हमारे दिमाग में था।

उदयन– आप जो भारत तिब्बत से लेकर आये थे और जो भारत आपको यहाँ आकर मिला, उसमें ज़मीन-आसमान का फ़र्क था।

रिनपोछे जी– इसलिए शुरू में निराशा होने लगी कि हम जिस भारत को बहुत विशाल, पवित्र

और सत् विज्ञान का स्रोत समझते थे, उस विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला यहाँ कोई दिखायी नहीं दिया। यह निराशा काफ़ी दिनों तक रही। जब मैं बनारस में पहुँचा, वह १९७१ का वर्ष था। मैं पैंतीस बरस का था। तब भी हमें नियुक्त होने में काफ़ी देर हो गयी।

कुलपति कहने लगे कि ये तो बालक हैं, संस्था को कैसे चला पाएँगे। परमपूज्य (दलाई लामा) ने मुझे तिब्बती संस्थान का प्राचार्य नियुक्त किया था। उसी अवसर पर कुलपति ने मुझे बालक कहा था खैर...। मैं प्राचार्य बन गया। जब वहाँ मैं जगन्नाथ उपाध्याय, रामशंकर त्रिपाठी, टी.आर.वी. मूर्ति जैसे विद्वानों से मिला, तब मुझे समझ में आया कि भारत की जो छवि मेरे मन में थी, वह भारत अभी भी है। यह मेरे लिए गहरा आश्वासन था।

उदयन- ...कि भारत में भारत बचा है...

रिनपोछे जी- स्कूल शिक्षकों से स्कूली शिक्षा के अलावा भारतीयता की कोई समझ नहीं मिल पाती थी। शिमला और डलहौजी में यह समस्या और अधिक थी। बनारस पहुँचकर मैं महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी से मिलने गया। वे उन दिनों कुछ अधिक सम्प्रेषित नहीं करते थे। लेकिन उनके सान्निध्य में यह अनुभव होता था कि ये विद्वान हैं। जगन्नाथ उपाध्याय आदि लोग दर्शन में गहरे पैठकर लिखते थे। भाषा में हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों से सम्पर्क हुआ। इन सबकी मुझ पर अनुकम्पा रही। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने मुझे अशुद्ध हिन्दी बोलने का अधिकार दिया, जिससे मैं जो मन में आता, बोल सकता था। हमारे संस्थान में एक आचार्य सिम्पा दोरजी थे। वे किन्नौर के रहने वाले थे। उनके साथ हमारी हजारी प्रसाद जी से बातचीत होती थी। हजारी प्रसाद जी जो कहते थे, हम समझ जाते थे और हमें जो कहना होता था वह सिम्पा दोरजी के माध्यम से तिब्बती में बोलकर हजारी प्रसाद जी तक पहुँचा देता था। एक दिन हजारी प्रसाद जी बोले 'सिम्पा दोरजी आप हमारे बीच से हट जाईये, मुझे इनसे सीधे बात करने दीजिए।' वे मुझसे बोले, 'आप मुझसे जो बोलना चाहते हैं, बोलिये।' मैंने कहा कि मुझे भाषा की ठीक से जानकारी नहीं है। मैं लिंगभेद, वचन आदि व्याकरण के नियमों का ठीक से व्यवहार नहीं कर पाता हूँ।' वे बोले 'इस सबकी चिन्ता मत कीजिए। जो मन में आये, बोलिये। हिन्दी में इस सबका महत्व नहीं होता।' फिर उन्होंने एक उदाहरण दिया, 'दही खट्टी है, यह कहना ठीक है और दही खट्टा है, यह भी ठीक है। सुनने वाला समझ जाएगा। आप व्याकरण की चिन्ता मत कीजिए, भाषा का अपना सम्प्रेषण होने दीजिए।' उसके बाद उन्होंने मुझे हिन्दी में भाषण देने कई जगह आमन्त्रित किया और मैं हिन्दी बोलने लगा।

उदयन- वैसे आपकी हिन्दी सुनने में अच्छी लगती है, इसमें आपके तिब्बती लहज़े की गन्ध भी है। हिन्दी में यह सामर्थ्य है कि वह विभिन्न उच्चारणों और विधियों को अपने में शामिल कर ले, इसीलिए हमें मराठी हिन्दी भी मिलती है, पंजाबी हिन्दी भी। हिन्दी भाषा उसी तरह समावेशी रही है जैसा वह भारत जो अब टूटता हुआ प्रतीत हो रहा है। शुद्ध हिन्दी जैसी कोई चीज़ होती ही नहीं है

जैसे विशुद्ध भारतीयता जैसी कोई चीज़ नहीं है।

रिनपोछे जी– अगर हम व्याकरण की शुद्धता का ध्यान रखें तो हम बोल ही नहीं पायेंगे।

उदयन– इन सबके बीच क्या आपने व्यापक स्वाध्याय किया?

रिनपोछे जी– तिब्बत से हमारे साथ मेरे गुरू आये थे। उन गुरुओं ने हमारे अध्ययन के अवशेष को पूरा करने की चेष्टा की। वह पूरा नहीं हो पाया। पर मौखिक परम्परा से दिया जाने वाला अध्ययन तिब्बत से आने के दो-तीन वर्षों में पूरा हो गया।

उदयन– क्या तिब्बत में शिक्षा व्यवस्था का पाठ्यक्रम हुआ करता है जिसका हरेक पालन करता हो। वह पाठ्यक्रम क्या था?

रिनपोछे जी– जैसे यहाँ की शिक्षा में विषय सूची होती है वैसे ही वहाँ के मठों में भी होती है।

उदयन– आपने एक जगह कहा है कि शिक्षा के तीन प्रयोजन होते हैं 'शील, समाधि और प्रज्ञा।' क्या इन तीनों प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए सिलसिलेवार शिक्षा दी जाती थी?

रिनपोछे जी– जैसा मैंने कहा, हमारे मठों में बीस वर्ष की अवधि तक शिक्षित किया जाता है। पहले दो वर्ष न्याय प्रमाण शास्त्र सिखाते थे, बौद्ध न्यायशास्त्र दो वर्ष में पूरा तो नहीं हो पाता, उसे बाद में भी पढ़ना होता था। पर मठ में शुरू में दो वर्ष तर्क-वितर्क, वाद-विवाद सिखाया जाता था।

उदयन– क्या जब न्याय शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी, भिक्षुओं को आपस में भी तर्क-वितर्क करने का अभ्यास करना होता था?

रिनपोछे जी– शास्त्रार्थ रोज़ करना होता था। वह छात्रों के बीच हुआ करता था। गुरुजी भी शास्त्रार्थ के साथ ही सिखाते थे।

उदयन– मैं यह समझना चाह रहा हूँ कि यह होता कैसे था? मसलन यह प्रज्ञप्ति रखी जाये कि 'सत्य स्वयं सिद्ध है' तो क्या इसके पक्ष और विपक्ष में भिक्षु तर्क देंगे?

रिनपोछे जी– मान लीजिए 'सत्य स्वयं सिद्ध है' इसे पूर्व पक्ष मान लिया जाए तो हम उसका खण्डन करेंगे कि यह इस तरह कैसे नहीं है। हम कहेंगे कि वह तो अनुमान प्रमाण से जाना जा सकता है। उसके लक्षण देखने होंगे आदि। दूसरा छात्र इस बात का खण्डन करेगा। इसी तरह वहाँ शास्त्रार्थ चलता है।

उदयन– क्या जिन प्रज्ञप्तियों पर शास्त्रार्थ होते थे, वे निश्चित थीं?

रिनपोछे जी– हाँ, शास्त्र को तो कण्ठस्थ किया जाता है और उसके भाष्यों को भी देखा जाता ह। उसके बाद वाद-विवाद करते हैं।

उदयन– पहले दो वर्ष बौद्ध मठों में बौद्ध न्याय की शिक्षा होती है। क्या सारे दो हज़ार छात्र एकसाथ बैठकर पढ़ते हैं?

रिनपोछे जी– सौ-पचास छात्र होते हैं। अगले छः वर्षों तक अभिसमयअलंकार-मार्गफलव्यवस्था पढ़ा जाता है। इसमें बौद्ध मार्ग और फल व्यवस्था की चर्चा है। इसके बाद तीन वर्ष तक माध्यमिक शास्त्र पढ़ाया जाता है। माध्यमिक शास्त्र में माध्यमिक मूल कारिका, चतुश्शतक और माध्यमिक-अवतार ये तीन मूलग्रन्थ हैं। तब तक छात्र की उम्र २० वर्ष की हो जाती है और वह उपसम्पदा भिक्षु हो जाता है। उसके तीन वर्ष बाद तक विनयपिटक का अध्ययन होता है जिसमें भिक्षुओं का अनुशासन क्या हों, बताया गया है, उनके लिए क्या करणीय है, क्या अकरणीय। हमारी परम्परा शान्तरचित से आयी है। उसे हम मूलसर्वास्वादी कहते हैं। जो थाईलैण्ड और बर्मा में है, उसे थेरवाद कहते हैं। हमारी परम्परा में भिक्षुओं के लिए दो सौ त्रिपंग (नियम) हैं। उसे सीखने में तीन वर्ष लगते हैं। फिर अगले बीस वर्षों तक अभिधम्म कोष और अभिधम्म समुच्चय का अध्ययन करना होता है। यह अन्त तक चलता रहता है। इसके बाद उसे दीक्षान्त समारोह में उपाधि मिलती है। दीक्षान्त के पहले पाँचों ग्रन्थों की परीक्षा होती है, न्याय, अभिसमय अलंकार, माध्यमिक शास्त्र, विनय पिटक और अभिधम्म की परीक्षा के बाद अध्ययन पूरा माना जाता है।

उदयन– क्या आपको मठ के सभी लोगों के सामने जवाब देने होते हैं?

रिनपोछे जी– जी। सारे जवाब मौखिक होते हैं, लिखित कुछ नहीं। इसके बाद भिक्षु को स्नातक माना जाता है, इसके बाद आप तान्त्रिक महाविद्यालय में जाकर तन्त्र की शिक्षा ले सकते हैं।

उदयन– क्या अब भी कुछ बौद्ध तन्त्र का व्यवहार करने वाले और उसकी शिक्षा देने वाले बचे हैं?

रिनपोछे जी– यहाँ कुछ हैं। तिब्बत में चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान सबकुछ नष्ट हो गया था। पर अब कुछ संक्षिप्त रूप में दोबारा शुरू हो रहा है। लेकिन यहाँ वह पूर्ण रूप से संचालित होता है। तीन विहार हैं : एक कर्नाटक में, एक धर्मशाला में और एक विहार पश्चिम बंगाल में। इन तीन ही स्थानों में बाकायदा शिक्षा होती है। इनमें छात्रों का दाखिला होता है। कुछ छात्रों का दाखिला सीधा हो जाता है, उनका अध्ययन का काम कम होता है लेकिन उन्हें कर्मकाण्ड के पक्ष को ज़्यादा सिखाते हैं। वे वहाँ तान्त्रिक साधनाएँ सिखाते हैं। साधनाओं में जप करने की विधि, पाठ की विधि और मण्डल निर्माण सिखाया जाता है।

उदयन– आपको पता ही होगा कि वैदिक पाठ की ही पद्धतियों से भारतीय शास्त्रीय संगीत उत्पत्ति हुई है। उसके स्रोत कई होंगे पर वैदिक पाठ उनमें प्रमुख है। यह भी कहा जाता है कि मन्त्र के सही उच्चारण का गहरा प्रभाव होता है। बौद्ध धर्म में जाप की कितनी केन्द्रियता है? उसका सांस्कृतिक सन्दर्भ क्या है? मैं हाल में गैंगटोक के पास के बौद्ध विहार रोमटेक गया था। वहाँ लगभग

सभी अध्ययनशील थे। वैसा मैंने कभी किसी विश्वविद्यालय में नहीं देखा। वहाँ जाप चल रहा था। इसके पहले छत्तीसगढ़ के मेनपाट में भी यह जाप सुना था। बौद्ध धर्म परम्परा में जाप को लेकर क्या दृष्टि है? यहाँ मैं यह बता दूँ अत्यन्त गहन दृष्टि सम्पन्न दार्शनिक नवज्योति सिंह यह मानते थे कि भारत के आधार ग्रन्थों में से कुछ में शब्द से कहीं अधिक स्वरलिपियाँ हैं। जाप में स्वर से भाव तक पहुँचा जाता है, उसमें अर्थ की मध्यस्थता नहीं होती। इसी तरह बौद्ध जाप के विषय में क्या चिन्तन हैं?

रिनपोछे जी– यह मैं स्पष्ट रूप से नहीं बता पाऊँगा। यह जटिल प्रश्न है। साधारणतः कोई भी वचन जिसको गायन के रूप में अभिव्यक्त करते हैं, वह हृदयंगम होता है। अगर आप कुछ कहना चाहें और आप उसे स्वर के साथ कहें तो उसके स्पन्दन आपको झकझोर देते हैं। यह साधारण व्याख्या है। कुछ बुद्धवचन गाथा रूप हैं, गेय हैं और उन्हें गाकर उनका अभिबोध भावनाओं के आदान-प्रदान से होता है। इसीलिए गायन और गाथा की आवश्यकता है।

उदयन– जिस तरह भारत की परम्परा में मार्गी संगीत है, जिसे शास्त्रीय संगीत भी कहा जाता है, क्या उसी तरह की कोई संगीत परम्पराएँ तिब्बत में भी रही हैं?

रिनपोछे जी– हाँ रही हैं। हर तन्त्र के मठ की जाप पद्धति अलग होती है। हर तान्त्रिक मठ में उनकी अपनी जाप पद्धति चित्रित रूप में लिखी रहती है। उसमें यह लिखा होता है कि कहाँ जापकर्त्ता का स्वर ऊँचा होना चाहिए, कहाँ नीचा आदि।

उदयन– क्या यह वेदपाठ के उदात्त-अनुदात्त और स्वरित जैसा ही है?

रिनपोछे जी– वह लगभग वही है। जाप की पद्धति का ग्रन्थ आप पढ़ेंगे तो उसमें इस सबके लिए संकेत चिह्न हैं। मसलन कोई रेखा बनी होगी जिसके बीच में अक्षर बना होगा। वह इलेक्ट्रोकार्डियो ग्राम जैसा दिखता है। यह तो एक साधारण बात है। तन्त्र विद्या में यह कहते हैं कि शरीर में मूल रूप से दस प्राण है। हर प्राण की एक स्वध्वनि होती है। जब मन्त्र के उच्चारण का उस ध्वनि के साथ ठीक से तारतम्य बैठ जाते हैं, वाक् और काया का समन्वय ठीक तरह हो जाता है।

और उसके साथ चित्त का भी समन्वय हो जाता है। इस तरह काया वाक् और चित्त को एक दिशा में चलने के लिए स्वर की आवश्यकता होती है। जब सही स्वर मिल जाता हे तो प्राण और मन्त्र के स्वर में अभेद हो जाता है। जब यह अभेद होता है, वह सहज हो जाता है और सहज होने से सिद्ध हो जाता है।

उदयन– क्या सिद्ध होने का अर्थ काया वाक् और चित्त का एक हो जाना होता है?

रिनपोछे जी– यही सिद्ध होना है।

उदयन– आप कह रहे हैं कि दस प्राणों की दस वायुएँ और उनके दस अलग-अलग कार्य हैं...

रिनपोछे जी– संस्कृत में पचास विभिन्न अक्षर कहे जाते हैं, उनका एक-एक वायु है, दरअसल उसका यान एक-एक वायु है।

उदयन– वायु इसलिए यान है कि वह एक-एक अक्षर का वहन करता है। क्या ऐसा ही है?

रिनपोछे जी– वायु के बिना शब्द उच्चरित नहीं होगा।

उदयन– क्या अलग-अलग तान्त्रिक स्कूलों में किन्हीं विशेष प्राणों पर ज़ोर दिया जाता है।

रिनपोछे जी– यह भी है और कुछ गुरूओं की मान्यताओं का भी चलन होता है जिसका उन्हें बोध हुआ था। आगे जाकर जब अपने प्राणों की पहचान हो जाती है, हर भिक्षु का मार्ग अलग हो जाता है।

उदयन– आपने यह लिखा है कि एक स्थान पर बुद्ध कथन है कि मैं तुम्हें मार्ग दिखा सकता हूँ, निर्वाण दे नहीं सकता। वह भिक्षु को स्वयं करना होगा। यही कुछ भारतीय मार्गी संगीत के शिक्षण में भी है, इसीलिए यह मान्यता है कि ऐसी कोई आवाज़ नहीं जिसमें गायकी सम्भव न हो सके। हर आवाज़ में गायन की सम्भावना है। गुरू का काम यह है कि वह शिष्य को, आपके शब्दों में कहे तो, उसके प्राणों तक पहुँचा दे। फिर वह अपना संगीत खुद उत्पन्न करेगा। अगर वह ऐसा नहीं कर पाता, वह संगीतकार नहीं है। तब तक वह आपके प्रिय शब्द में 'इमिटेटर' (नकलची) है।

+ + +

उदयन– आपने अपने इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र के 'बौद्ध धर्म और काल' पर लिखे लेख में 'चित्त सन्तति' की बात की है। इसमें चित्त सन्तति के नैरन्तर्य की चर्चा है जबकि नवज्योति सिंह का कहना है कि चित्त सन्ततियों के बीच अक्षर होते हैं। 'अक्षर' प्रत्यय का प्रयोग गीता में हुआ है, उसका आशय एक ऐसे रूपाकार से है, जिसमें कथ्य नहीं है, वह 'कण्टेण्टलेस फॉर्म' है। हर दो चित्त सन्ततियों के बीच अक्षर आ जाता है। अगर हम चित्त सन्ततियों की निरन्तरता को मान रहे हैं, तब आत्म तत्व का अस्तित्व स्वयं सिद्ध हो जाता है। इसमें फ़र्क किस तरह किया जाता है।

रिनपोछे जी– यह तो दार्शनिक प्रश्न है और बहुत पुराना प्रश्न है। भारत में आत्मवादी और निरात्मवादी दर्शन के बीच का विवाद प्रारम्भ से ही चल रहा है। आत्मवादियों का यही तर्क रहा है कि अविच्छिन्न सन्तति को आत्मा कहने में क्या हर्ज है। बौद्धों का मत यह नहीं है कि 'स्व' नहीं है। 'स्व' को बहुत जगह 'अहं' या 'आत्मा' शब्द से सम्बोधित किया गया है। लेकिन आत्मवादी 'आत्मा' के साथ कई 'गुण' जोड़ते हैं। उनमें एक गुण 'नित्यता' है। अगर आत्मा नित्य नहीं है तो साधारण अवस्था से आध्यात्मिक अवस्था तक जाने में निरन्तरता नहीं रहेगी। 'नित्यता' की अनिवार्य शर्त यह है कि वह 'अपरिवर्तनीय' भी हो। जैसा वह कल था, वैसा ही वह आज भी रहे। आज जैसा है, कल भी वैसा ही रहना चाहिए। बौद्धों का कहना यह है कि 'चित्त सन्तति' परिवर्तनशील है। सतत् रहते

हुए भी वह प्रतिक्षण नष्ट होता है और उत्पन्न होता है। प्रथम क्षण नष्ट होगा तभी द्वितीय क्षण उत्पन्न होगा। जब द्वितीय क्षण नष्ट होगा तभी तृतीय क्षण उत्पन्न होगा। अत्यन्त लघु क्षण से लेकर स्थूल क्षण तक परिवर्तन होते हैं। बीता हुआ क्षण वर्तमान क्षण का हेतु है और वर्तमान क्षण आनेवाले क्षण का हेतु है। 'क्षण' हेतु और फल के रूप में एक-दूसरे को उत्पन्न करते रहते हैं। लेकिन यह निरन्तरता परिवर्तनशील है। आत्मावादी यह नहीं मानते कि वह हर क्षण में नष्ट होता है और हर क्षण में उत्पन्न होता है। आत्मावादियों से निरात्मावादियों का इतना ही अन्तर है कि आत्मा 'नित्य' है या 'अनित्य' है। अगर वह खण्डित होता है तो आत्मा होने की शर्तें भी खण्डित हो जाती हैं। आत्मावादियों में आपस में भी थोड़े-बहुत भेद हैं। लेकिन अधिकांशतः वे आत्मा को 'नित्य' और 'परमात्मा का अंश' मानते हैं, जो परमात्मा में विलीन हो सकता है। जीवात्मा के रूप में वह खण्डित होता है और जब वह परमात्मा में विलीन होगा, तब उसका व्यक्तित्व भी विलीन हो जाएगा। बौद्धों का कहना है कि व्यक्तित्व कभी समाप्त नहीं होता। 'बुद्धत्व' प्राप्त करने के बाद 'बुद्ध क्षेत्र' में भेद अवश्य नहीं होगा लेकिन बौद्धों की पुरानी सन्तति कायम रहेगी, जिसे वे देख सकते हें जैसा कि जातक-कथाओं में होता है। वहाँ भी व्यक्ति विशिष्ट की पहचान होती है। इस तरह वह अनित्य होने पर भी उसकी सन्तति समाप्त नहीं होती और वह कहीं विलीन नहीं होती। इस तरह बौद्धों के मत में आत्मा का अपरिवर्तनीय स्वरूप और सन्तति के विच्छिन्न होने में विरोध है। अगर आत्मा नित्य होगी तो वह अपरिवर्तनशील होगी, अगर ऐसा है तो उसमें जो कुछ भी है, वह जैसा का तैसा रहेगा। बौद्धों के मत में इस समय यह निर्मल होने पर भी उसमें आगन्तुक के क्लेशों का आवरण है। उस आवरण को हटा सकते हैं लेकिन आवरण चित्त के स्वभाव में प्रविष्ट नहीं होता लेकिन वह चित्त के साथ रहता है। इसलिए आवरण और चित्त दोनों ही 'अनित्य' है।

उदयन- इस मत में जब हम काया और वाक् को जोड़कर देखते हैं तो कह सकेंगे कि काया और वाक् भी अनित्य है लेकिन चित्त का नैरन्तर्य सत्य है।

रिनपोछे जी- नहीं। निरन्तरता भी अनित्य है। केवल सन्तति है और वह नित्य के रूप में नहीं है। क्योंकि यदि सन्तति नित्य होती तो वह क्षण के बदलने के साथ अलग नहीं होती। अगर वह नित्य होती उसका क्षणों में विभाजन नहीं हो सकता। तब सन्तति का प्रश्न ही नहीं उठता। सन्तति तभी बनेगी जब एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा परिवर्तन होगा।

उदयन- वाक्, काया और चित्त तीनों ही अनित्य हैं पर...

रिनपोछे जी- वाक् और काया की सन्तति निरन्तर नहीं है। वो हर जन्म में छूट जाती है। काया की सन्तति मृत्यु तक रहेगी पर जब मृत्यु होती है, चित्त और काया का सम्बन्ध टूट जाता है। तब चित्त काया से अलग हो जाता है और काया अचेतन वस्तु बन जाती है। अभी हमारी काया सचेत है, थोड़ी-सी चोट लगेगी तो हमें दर्द होगा और चोट का पता लग जाएगा। जब तक चित्त का काया

पर स्वामित्व रहता है, तब तक काया चैतन्य रहती है, जब चित्त काया को छोड़ देता है, काया महाभूतों में वापस विलीन हो जाती है, इसलिए उसकी सन्तति नहीं रहती।

उदयन– इस पूरे विचार में परलोक का क्या स्थान बनता है। 'चित्रदर्शन' में यह कल्पना है कि स्मृतिलोक ही परलोक है। हम परलोक को सिर पर उठाये घूम रहे होते हैं। हर मनुष्य द्विज हैः दो बार पैदा होता है। एक बार माँ के गर्भ से, दूसरी बार स्मृति में यह स्मृतिलोक ही परलोक है. ..

रिनपोछे जी– हमारे विचार में परलोक की शब्द रचना भिन्न है। जिसे हम 'लोक' कहते हैं, वह लौकिक जगत के लिए प्रयुक्त होता है, उसमें मनुष्य लोक, पशु लोक और देव लोक होते हैं। 'लोक' शब्द जन्म-जन्मान्तर के अर्थ में भी आता है- बीते हुए लोक, वर्तमान लोक और परलोक है आने वाले लोक। स्मृति चित्त का अंश है। चित्त में ही रहती है। लेकिन चित्त इन्द्रियों पर आश्रित होता है, इन्द्रियाँ शरीर पर। इसलिए जब शरीर और इस पर आश्रित इन्द्रियाँ छूट जाते हैं, स्मृति भी मिट जाती है। इसलिए पिछले जन्म की स्मृति बहुत कम लोगों को रहती है। कुछ लोगों को रहती है, वह ऐसे कि उन्होंने चित्तशोधन काफ़ी कर लिया होता है, ऐसा कि चित्त को इन्द्रियों के आश्रित नहीं होना पड़े जैसे जब मृत्यु चित्त उत्पन्न होता है, उन्हें यह बोध होता है कि मैं मृत्यु को प्राप्त हो रहा हूँ और मेरा शरीर छूट रहा है। यह अधिकांश को नहीं होता, उनके साथ यह अचेतन में हो जाता है। अच्छे लोगों में चित्त के इस तरह के अभ्यास के कारण पिछले जन्म की स्मृति रह जाती है। जैसे-जैसे चित्त शोधन होता रहता है पिछले दस जन्मों और फिर सौ जन्मों की स्मृति धीरे-धीरे होती रहती है।

उदयन– जातकों का आधार भी यही है।

रिनपोछे जी– यही है। जब बुद्धत्व प्राप्त होता है, पिछले सभी जन्म याद रहते हैं। उन्हें कोई अज्ञान नहीं रहता। लेकिन बुद्धत्व प्राप्त होने तक पिछले जन्म किसी सीमा तक ही दिखायी देते हैं, उसके बाद दिखायी नहीं देते। साधारण लोग पिछले जन्मों को भूल जाते हैं क्योंकि उनकी स्मृति इन्द्रिय-आधारित चित्त के साथ रहती है और उसकी सन्तति नहीं रहती, वह समाप्त हो जाती है।

उदयन– उन लोगों के यहाँ शरीर के छूटने से स्मृति भी छूट जाती है। क्या किसी महापुरुष की इस तरह व्याख्या सम्भव है। जैसे महात्मा गाँधी है, उनकी पिछले जन्मों की 'स्मृति' भले ही उनके चित्त के सतह पर न आयी हो, वह रही हो सकती है।

रिनपोछे जी– स्मृति छूट जाती है इसका अर्थ समझना होगा। स्मृति दो प्रकार की होती है, एक साक्षात् स्मृति और एक वह जो साक्षात् भले न हो पर उसका बीज या संस्कार रहता है। उसे बौद्ध पारिभाषिक शब्दावली में वासना कहते हैं। यह दूसरी परम्पराओं में भी है, पर वहाँ उसका वह अर्थ नहीं होता। बीज न होने से आप उसका दोबारा स्मरण नहीं कर सकते। इसका आशय यह है

कि पिछले जन्मों का स्मरण केवल तभी होता है जब उनके बीज चित्त सन्तति में बने रहते हैं। हम जो कुशल कर्म करते हैं, वह समाप्त हो जाता है। किसी को यदि धन देना है, वह धन दे दिया तो कर्म समाप्त हो गया। लेकिन उसका पुण्य बीज रूप में चित्त सन्तति में आ जाता है। अगर अकुशल कर्म किया जाता है (जैसे किसी की हत्या करना) तो वह अकुशल कर्म भी चित्त में आ जाता है और उसका स्मरण हो न हो, वह चित्त में रहता है। बाद में उसका फूल उत्पन्न होता है, फिर फल। फल उत्पन्न होने के बाद उसका बीज समाप्त हो जाता है। या तो उसको शोधन करके समाप्त किया जा सकता है...

उदयन– साधना से...

रिनपोछे जी– साधना से या उसका फल भोगकर उसे समाप्त कर सकते हैं। तब तक वह रहता है, वासना या बीज की छाप रहती है जैसे किसी बर्तन में रखा घी समाप्त हो जाये तो भी उसकी गन्ध उसमें बनी रहती है।

उदयन– इसी तरह से पूर्वजन्म की उपस्थिति रहती है।

रिनपोछे जी– उसे या तो फल प्राप्ति से खत्म किया जा सकता है या साधना से। जैसे बीज या तो अंकुरित होकर समाप्त हो जाता है या तब समाप्त होता है जब उसे जला दिया जाये।

उदयन– इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पश्चिम की यह धारणा कि जन्म के समय सभी एक जैसे होते हैं, ठीक नहीं है। हर व्यक्ति पैदा होते समय अलग होता है।

रिनपोछे जी– अलग-अलग ही होते हैं। एक-सा कोई नहीं होता है। सब चीज़ों की अपनी अद्वितीयता या व्यक्तित्व होता है, अगर ऐसा न होगा तो पहचान नहीं रहेगी।

उदयन– आप कैसी भी सामाजिक परिस्थिति पैदा कर दें, यह सम्भव नहीं होगा कि सभी एक ही नियति को प्राप्त हो जायें जैसा कि पश्चिम बल्कि आधुनिक चिन्तन धाराएँ मानती हैं।

रिनपोछे जी– हर जीवधारी (सत्त्व) सुख चाहते हैं, दुःख नहीं, यह एक समता है। ऐसा नहीं होता कि कुछ सुख चाहें, कुछ दुःख चाहें। दूसरी समता यह है कि हर जीवधारी को सुख प्राप्ति और दुःख के निवारण के प्रयास करने का अधिकार है। ऐसा नहीं है कि मनुष्य को तो ऐसा करने का अधिक अधिकार है, अन्य जीवधारियों को नहीं है। इनमें इस तरह से भी समता है। इन दो चीज़ों के अतिरिक्त और कोई समता नहीं है। किसी में कुशल कर्म पैदा होगा, किसी में अकुशल। कर्म सबका एक जैसा नहीं होता लेकिन जब कर्म से मुक्ति प्राप्त हो जाती है तब वहाँ महासमता होती है। वहाँ कोई अलग से पहचाना नहीं जा सकता। जैसे भगवान बुद्ध है, भगवान मैत्रेयी है। ये सब बुद्धत्व प्राप्त के पहले अलग-अलग थे लेकिन बुद्धत्व प्राप्त के बाद बुद्धत्व के क्षेत्र में उनको अलग-अलग पहचानने का कोई लक्षण नहीं रहता। वहाँ पहचान का आधार पूर्वजन्मों के लक्षण ही होते हैं। बुद्धत्व प्राप्त करने पर सभी

के गुण समान होते हैं और दोष तो होते ही नहीं है। सभी की ज्ञान-शक्ति समान होती है।

उदयन- लेकिन यह सब अलग-अलग तरह से है...

रिनपोछे जी- हाँ, अलग-अलग तरह से है।

उदयन- क्या बुद्धत्व के क्षेत्र का अनुभव या आभास जीते-जी किसी साधना पद्धति से सम्भव है? इसका एक सन्दर्भ है जो मैं आपको बताता हूँ: शैव परम्परा में जो रस सिद्धान्त है, वहाँ रसास्वादन की अवस्था में, अनुभवगुप्त कहते हैं, हम अपरिमित प्रभातृत्व को प्राप्त हो जाते हैं। इसका आशय है कि हम उस क्षण में सर्वस्व का अनुभव कर लेते हैं बल्कि हम वह सर्वस्व हो ही जाते हैं। हम कह सकते हैं कि उस रसानन्द के क्षण में हमें मोक्ष का अनुभव हो जाता है। वह स्थायी नहीं होता, पर क्षणिक रूप से हो जाता है। फिर उसकी प्राप्ति की चेष्टाएँ आप अन्यत्र कर लेते हैं या कर सकते हैं। क्या बौद्ध परम्परा में भी उस बौद्ध क्षेत्र का क्षणिक आभास या अनुभव हो सकता है?

रिनपोछे जी- बुद्धत्व का अनुमान तो मार्ग समय में भी हो जाता है लेकिन बुद्धत्व का अनुभव, उसकी प्राप्ति के पहले नहीं होता। अनुभव तब होता है, जब वह वहाँ पहुँच चुका होता है। उसके पहले उसके अनुभव की सम्भावना नहीं है। लेकिन वह किस प्रकार का अनुभव होगा कि वह है, यह बोध, उसका अनुमान मार्ग अवस्था में भी हो जाता है। सिद्धान्त यह है कि चित्त अपने स्वभाव से निर्मल है और उसके ऊपर जितना क्लेश आवरण है, उसे समाप्त किया जा सकता है। यह कहना कि वह समाप्त किया जा सकता है, कल्पना है पर हम नहीं जानते कि वह कैसे किया जा सकता है। जब आत्मा-धर्म समाप्त हो निरात्मा या शून्यता का अनुमान होता है, अनुमान प्रमाण से शून्यता को देखते हैं, तब भी उस ज्ञान से अज्ञान के स्रोत अविद्या को निर्मूल किया जा सकता है, इसकी अनुभूति नहीं होती। जब वे अनुमान-प्रमाण से प्रत्यक्ष-प्रमाण में पहुँच जाते हैं, शून्यता को प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर करते हैं, तब वे देखते हैं कि अविद्या की धारणा निर्मूल है इसलिए उसे समाप्त किया जा सकता है। जब वह समाप्त होगा, बुद्धत्व प्राप्त होगा और उसमें कोई अज्ञान नहीं रहेगा, अबोध नहीं रह जायेगा और हर चीज़ साफ़ हो जायेगी। इस तरह बुद्धत्व के गुणों का अनुमान किया जाता है। उसे अनुभूत नहीं करते पर अनुमान करते हैं कि ऐसा हो जायेगा। तब वो बुद्ध मार्ग में पूरे ज़ोर से लग जाते हैं।

उदयन- याने उस अनुभव का अनुमान है, वह प्रत्यक्ष नहीं।

रिनपोछे जी- अनुमान है, अनुबोध नहीं है। अनुबोध तब होगा जब बुद्धत्व प्राप्त हो जायेगा।

उदयन- इस अनुमान तक पहुँचने के लिए कुशल कर्म करना होगा।

रिनपोछे जी- मैं उदाहरण देता हूँ। अगर मैं आपको बताऊँ कि जलेबी बहुत स्वादिष्ट होती है, मीठी होती है तो आप पहले तो सोचेंगे कि कैसी होंगी। फिर आप कोई और मिठाई खा लेंगे और सोचेंगे कि शायद जलेबी का भी ऐसा ही स्वाद हो, इस तरह जलेबी के स्वाद का अनुमान हो जायेगा

पर स्वाद का अनुभव तब तक नहीं होग, जब तक आप जलेबी को खा नहीं लेते। उसके पहले तक तो सब अनुमान है। वह स्वाद के परे है, जलेबी खाये बिना आप उसका स्वाद बता नहीं सकते। केवल अनुभूति कर सकते हैं।

बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद शब्दों के द्वारा लोगों को यह बताया नहीं जा सकता कि 'यह ऐसा है।' वह आपकी अनुभूति में रह जायेगा। वह शब्द के परे हो जाता है। शब्द हमेशा विचार के साथ चलता है, पर जो क्षेत्र विचार से बाहर हैं, वे शब्द की पकड़ से बाहर चले जाते हैं। उसके विषय में केवल 'लगभग' जैसा कुछ बताया जा सकता है।

उदयन– यही शायद बौद्ध वचनों का आधार है।

रिनपोछे जी– यही है। बुद्ध ने कहा भी है कि मेरे बुद्धत्व प्राप्त करने से लेकर मेरे महानिर्वाण में प्रवेश करने तक के चालीस वर्षों में मैंने एक शब्द भी नहीं बोला है। ऐसा उनके वचनों में आता है। इस बीच इतना धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ, वह सब साक्षात् है। शाक्य मुनि बुद्ध को बोध गया में बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद कर्म का उपदेश न देने का विचार आया था। इस पर ब्रह्मा और इन्द्र ने उनके पास जाकर उनसे कहा कि आपने इतने समय तपस्या की है, बुद्धचर्या की है और बुद्धत्व को प्राप्त हुए हो, अब आपका प्रथम कर्त्तव्य है कि आप धर्मचक्र प्रवर्तन करें, लोगों को उपदेश करें। इन्द्र के उनसे संवाद नहीं मिलते, ब्रह्मा के मिलते हैं। बुद्ध ने जवाब दिया कि अतिगम्भीर, अतिशान्त और प्रपंच-रहित प्रपस्वर, असंस्कृत ऐसा धर्म मैंने अनुबुद्ध किया है, इसे किस तरह बताऊँ, इसे कोई समझेगा नहीं, इसलिए मैं धर्मचक्र प्रवर्तन नहीं करूँगा। ब्रह्मा ने कहा कि आप ठीक कह रहे हैं लेकिन उपाय है। आपको जो अनुभूति हुई है, उसे आप उपमा के माध्यम से कह सकते हैं। और उसके लक्षणों के माध्यम से भी उसको सम्प्रेषित कर सकते हैं और नेति-मेति के सहारे, अपोह के सहारे भी उसकी ओर इंगित कर सकते हैं। इस रास्ते धर्मचक्र प्रवर्तन को लोग समझेंगे। बुद्ध ने इसे स्वीकार किया और बोध-गया से सारनाथ आकर पाँच शिष्यों को धर्मचक्र प्रवर्तन किया।

उदयन– शायद यही कारण हो कि काशी ने कुछ पण्डित ध्वनि सिद्धान्त आदि के व्याख्याता अभिनवगुप्त आदि अनेक शैव विचारकों को प्रछिन्न बौद्ध कहते हैं। आपने कुशल और अकुशल कार्यों का ज़िक्र किया था, इनमें किस आधार पर अन्तर किया जाता है? क्या निर्वाणोन्मुखी कार्य को कुशल और जहाँ ऐसा न हो उसे अकुशल कार्य कहा जाता है?

रिनपोछे जी– इसमें थोड़ा-सा संशोधन करना पड़ेगा। कुशल कार्य निर्वाणोन्मुख, अभ्युदयोन्मुख और बुद्धत्वोन्मुख में देखा जाता है। यह मनुष्य की चित्त और चैतसिक भूमिका से तय होता है। कुशल और अकुशल कार्य का अपना विभाजन यह है: कोई कार्य जिससे किसी का साक्षात या परोक्ष रूप से अहित होता हो, उसे अकुशल कार्य कहते हैं। और कोई भी कार्य जिससे साक्षात रूप या परोक्ष (सन्तति) रूप से किसी के हित का सम्पादन होता हो, वह कुशल कार्य कहलाता है। जो कार्य

हित-अहित किसी में भी परिणत नहीं होता, वह अभ्याकृत कार्य कहलाता है। उसे कुशल या अकुशल में व्याकृत नहीं किया जा सकता। कार्य के सम्पादन से हित पहुँचा रहे हैं या अहित, यह महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि कार्य के पीछे की आपकी चित्तवृत्ति हित चाहती है या अहित। अगर अहित चाहना से कोई अच्छी चीज भी हो जाये, वह कार्य अकुशल हो जायेगा। अगर आप किसी को बीमार करने की दृष्टि से किसी को खाना देते हो, और अगर वह उसे बीमार करने की जगह उसका शरीर पुष्ट कर दे तो चूँकि खाना देने के पीछे आपकी चित्तवृत्ति में खोट रही है, इसलिए वह कार्य अकुशल है और अगर आप हित की इच्छा से कोई चीज़ दे दें और ग़लती से उसे नुक़सान हो जाये, कोई दवाई दें और दवाई ठीक न लग पाये, इससे कार्य अकुशल नहीं होगा क्योंकि आपकी चित्तवृत्ति में खोट नहीं थी। अगर किसी कुशल कार्य के सम्पादन की प्रेरणा (प्रेरणा-चित्त) इस जीवन की किसी उपलब्धि के लिए है या अगला जन्म अच्छा प्राप्त करने या अभ्योदय के लिए तो वह निम्न श्रेणी का कुशल कार्य होगा। अगर आप कुशल कार्य जन्म मरण के चक्र से मुक्ति के लिए करते हैं तो वह निर्वाणोन्मुख कुशल कार्य हो जायेगा। अगर उसकी प्रेरणा बुद्धत्व प्राप्त करने की है, पूर्ण जगत के अभ्योदय के लिए कुशल कार्य किया गया हे तो वह बुद्धत्वोन्मुख कुशल कार्य होगा।

उदयन- वह श्रेष्ठ कुशल कार्य होगा।

रिनपोछे जी- जी हाँ, श्रेष्ठ कुशल कार्य...

उदयन- इस तरह कुशल कार्य अधम मध्यम और श्रेष्ठ तीन तरह के हो गये। आपके इस विचार से यह निकल रहा है कि निर्वाण वैयक्तिक है जबकि बुद्धत्व 'सर्वजन हिताय' है।

रिनपोछे जी- निर्वाण प्राप्ति को अरहन्त कहते हैं, उसमें 'सर्वाकाराहन्त' और 'प्रत्येक बुद्ध अरहन्त' ये दो प्रकार होते हैं। इनमें कोई खास फ़र्क नहीं होता। इस रास्ते चलकर उसने क्लेश आवरण को तो समाप्त किया होता, ज्ञेय आवरण को समाप्त नहीं। क्लेश आवरण को समाप्त करना याने राग, द्वेष, मोह से जनित जितने भी अकुशल चित्त हैं, उनको समाप्त करना। उससे व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त हो जाता है, वह व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्र से अलग हो जाता है। उसके बाद वह कर्म और क्लेश के कारण जन्म नहीं लेगा। बुद्धत्व वह प्राप्त करता है जिसने ज्ञेय आवरण को समाप्त कर लिया हो। उसे सर्वज्ञान प्राप्त होता है तब उसमें कोई अज्ञान बाकी नहीं रह जाता। इस तरह उसका कार्य स्वयंभू हो जाता है।

उदयन- ज्ञेय आवरण त्यागने का क्या आशय है?

रिनपोछे जी- ज्ञेय आवरण का अर्थ है ज्ञान के रुकावट का आवरण। क्लेश आवरण चित्त की अपवित्रता है, उसमें मूलरूप से राग, द्वेष और उनका कारण मोह याने अज्ञान या अविद्या है। इन तीनों से उत्पन्न जितनी चित्तवृत्तियाँ हैं, उनसे क्लेश होता है। उन क्लेशों से मुक्त हो जाता है तो उसकी

जन्म से मुक्ति हो जाती है। तब उसे दुख नहीं भोगना पड़ता। लेकिन उन्हें बहुत-सी जानकारी नहीं होती और उनका कार्य निष्प्रयास नहीं हो पाता। बुद्धत्व प्राप्त होने पर ज्ञेय आवरण समाप्त हो जाता है और कोई भी जानने लायक चीज़ अज्ञान में नहीं रहती। जैसे अगर पर्दा हटा दिया जाये तो अनायास ही सब चीज़ें दिखायी देने लगेंगी। जब कुछ भी अज्ञान नहीं रहता, समस्त अज्ञान समाप्त हो जाता है तो उसे बुद्धत्व कहते हैं।

उदयन– उस स्थिति में सब कुछ प्रत्यक्ष होता है।

रिनपोछे जी– जो भी अस्तित्वमान है, वह प्रत्यक्ष है। उसे त्रिकालदर्शी कहते हैं। सर्वज्ञान सम्पन्न। सांख्य योग और न्याय-वैशेषिक में सर्वज्ञान की सम्भावना का नकार है। इसीलिए वे बुद्धत्व को भी नकारते हैं।

+ + +

उदयन– आपकी शिक्षा-दीक्षा जिस तरह हुई है, उसमें गाँधी जी से परिचय की क्या सम्भावना थी? क्या तिब्बत में आपने महात्मा गाँधी का नाम सुना था?

रिनपोछे जी– मैंने तिब्बत में महात्मा गाँधी का नाम सुना था पर वे मिथकीय कथा जैसे थे। वहाँ यह कहानी चलती थी महात्मा गाँधी को अंग्रेज़ों ने पकड़कर तोप में डाल कर उड़ा दिया था पर वे बिना मरे खड़े हो गये। उनकी इस तरह की दन्तकथा थी पर उन्हें बहुत जानते नहीं थे। यह कहानी हम बिहार में सुनते थे और गाँधी जी को गाँधी महाराज कहते थे। वहाँ प्रजातन्त्र या राजनीति की जानकारी नहीं थी। हम सोचते थे कि हर जगह एक राजा होता है तो गाँधी भी हिन्दुस्तान के राजा रहे होंगे या उसके लिए प्रयास करते होंगे। इतना ही सोचते थे।

उदयन– आप यह सोचते थे कि ऐसा कोई राजा रहा होगा।

रिनपोछे जी– जी यही। उनके काल का बोध नहीं था। उनके चित्र भी कहीं-कहीं ही थे। उन्हें भी मैंने एक-दो बार ही देखा था। जब हिन्दुस्तान आया तो सुना कि भारत वर्ष आज़ाद हुआ है, अंग्रेज़ों के चंगुल से और उसमें गाँधी जी का बहुत योगदान रहा है। उन्हें समझने में भाषा की कठिनाई थी। जब मैं १९५९-६० में सिक्किम में रहा था, उस समय सिक्किम में 'विकास' नाम की पत्रिका का प्रकाशन गैंगटोक से होता था। वह भारत सरकार का प्रकाशन था। यह पत्रिका तिब्बती भाषा में छपती थी। तिब्बती में उसका नाम था 'येर्गे कोम्फिल'। वह मासिक पत्रिका थी। हार्लोंग मार्गो संख उसके अनुवादक और सम्पादक थे। बाद में वे आकाशवाणी में तिब्बती कार्यक्रम के निदेशक बन गये। उन्होंने 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' के कुछ अंशों का अनुवाद 'येर्गे कोम्फिल' (विकास) में धारावाहिक प्रकाशित किया था। उससे मुझे गाँधी के चरित के बारे में पहले पहल जानकारी मिली। तब से ही हमको गाँधी के प्रति रुचि बढ़ गयी। किन्नौर से एक साप्ताहिक 'समाचार आदर्श' (संजुम मिलोन) तिब्बती में

निकलता था। इन दोनों ही तिब्बती पत्रों में गाँधी जी पर जितनी भी सूचना मिल सकती थी, मैंने पढ़ ली। बाद में थोड़ी बहुत हिन्दी पढ़ने की क्षमता आ गयी तो उनकी जीवनी पढ़ी और बहुत बाद में 'हिन्द स्वराज' पढ़ी।

उदयन– गैंगटोक से प्रकाशित तिब्बती पत्रिका 'विकास' या 'येर्गे कोम्फिल' को बहुत लोग पढ़ते थे?

रिनपोछे जी– वह बहुत लोग तो नहीं पढ़ते होंगे। हम लोग तो गैंगटोक के पास ही थे इसलिए वह हम तक आती थी। मगर वह दूर तक नहीं जाती थी। जब मैं धर्मशाला या अन्यत्र चला गया, मैंने उसकी प्रति नहीं देखी।

उदयन– तिब्बती में उस पत्रिका को पढ़ने वाले ऐसे लोग होते थे, जो विहार में रह चुके थे। आप बता भी रहे थे कि तिब्बत के भिक्षुओं के अलावा लोग पढ़े-लिखे नहीं होते थे। बौद्ध धर्म के अध्ययन से प्राप्त अहिंसा के सिद्धान्त का समतुल्य आपको गाँधी में मिल रहा होगा।

रिनपोछे जी– गाँधी जी ने अहिंसा के सिद्धान्त को आत्मसात किया था। अहिंसा को सिद्धान्त में न रखकर जीवन में अपनी दिनचर्या में उतारने का काम गाँधी जी ने किया था। इसने मुझे बहुत आकर्षित किया। दूसरा, जब तक हम गाँधी को नहीं समझे, तब तक हम यह नहीं समझते थे कि अहिंसा की साधना सिर्फ़ आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, राजनीति, लोकव्यवहार या राष्ट्र-संचालन में भी की जा सकती है। हम सोचते थे कि जो लोग घर-गृहस्थी छोड़कर भिक्षु होकर साधना में लगे हैं, वे तो अहिंसक हो सकते हैं पर अगर देश चलाना हो, या राज चलाना हो, अहिंसा से काम नहीं चलेगा। इस तरह की धारणा अधिकांश लोगों में थी। मेरे ख्याल से, गाँधी जी का योगदान यह है कि उन्होंने दिखाया कि अहिंसा हर क्षेत्र में कारगर है।

उदयन– यह आपका, गाँधी जी के चरित के आधार से पहला अनुभव था और तब तक आपने 'हिन्द स्वराज' नहीं पढ़ी थी।

रिनपोछे जी– वह मैंने काफ़ी बाद में पढ़ी। उन दिनों 'हिन्द स्वराज' की चर्चा बहुत नहीं होती थी।

उदयन– आप 'हिन्द स्वराज' तक कैसे पहुँचे थे?

रिनपोछे जी– एक बार इस पर चर्चा हो रही कि गाँधी जी ने मशीन का विरोध किया है तो प्रश्न यह आया कि मशीन को एकमुश्त कैसे नकारा जा सकता है क्योंकि कुछ अच्छी मशीनें भी हैं। दो लोग थे आनन्द कुमार और अजय कुमार, वे मध्यप्रदेश में रहते थे। उनमें से आनन्द कुमार ने मुझसे पूछा कि क्या मैंने हिन्द-स्वराज पढ़ी है? मैंने जवाब दिया 'नहीं'। इस पर उन्होंने कहा, आप पढ़िए तब आपको समझ में आयेगा कि गाँधी ने मशीन का नकार क्यों किया है। मैंने तुरन्त ही 'हिन्द

स्वराज' मंगवायी और पढ़ी।

उदयन– आपने हिन्दी अनुवाद पढ़ा होगा।

रिनपोछे जी– मैंने हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों अनुवाद मंगवाये थे पर पढ़ा हिन्दी में ही। वह नवजीवन प्रेस का पतला-सा संस्करण था।

उदयन– उस पर आपकी क्या पहली प्रतिक्रिया थी?

रिनपोछे जी– उसे पढ़कर गाँधी के मूल सिद्धान्त समझ में आने लगे। वह केवल राष्ट्र या राजनीति की बात नहीं है, वे मूलभूत मानव चित्त के विकास या ह्रास के कारणों को पहचान कर हिंसा-अहिंसा के मूलस्रोत को जानने वाले हैं और गाँधी जी ने सभ्यता की गवेषणा का कार्य किया है। यह जानने बाद हम बार-बार उसे पढ़ने लगे। पहली बार मुझे लगा कि आधुनिक काल में मनुष्य जितनी भी चुनौतियाँ झेल रहा है, उन सब का मूल कारण मनुष्य का लोभ और हिंसा है।

उदयन– आपने स्वयं भी आधुनिक सभ्यता पर तरह-तरह से प्रश्न उठाये हैं?

रिनपोछे जी– उस सब ज्ञान का स्रोत गाँधी जी ही हैं। गाँधी जी और बाद में धर्मपाल जी की गाँधी की समझ और उनसे हुई चर्चाएँ। आधुनिक सभ्यता गाँधी जी के समय में उतनी उग्र नहीं थी।

उदयन– मशीन को लेकर तिब्बत में क्या समझ थी? प्रत्यक्ष न भी रही हो, लोकव्यवहार में क्या थी?

रिनपोछे जी– तिब्बत में मशीन की अधिक चर्चा नहीं होती थी। हम लोग जब तिब्बत से भागे, उस समय तक इक्का दुक्का कारें ही चलती थीं। साईकिल चलती थीं। इनके अतिरिक्त अधिक मशीन की सामग्री नहीं थी। लाऊडस्पीकर भी १९५९ के बाद, चीन के आक्रमण के उपरान्त ही आया था। उसके पहले नहीं था।

उदयन– चीन को ज़ोर-ज़ोर से बोलने की ज़रूरत भी रही होगी।

रिनपोछे जी– चीन के तिब्बत पर काबिज़ होते ही ल्यासा में घरों के ऊपर लाऊडस्पीकर लगाकर रेडियो कार्यक्रम स्थापित किया गया था। उसने बहुत ध्वनि-प्रदूषण पैदा किया। उसके बाद परमपूज्य के प्रवचनों में भी वह इस्तेमाल होने लगा, जो एक तरह से अच्छी बात ही है। यानि मशीन के विषय में हमारे तिब्बत में रहते ज्यादा विचार नहीं हुआ है।

उदयन– जब आप भारत आये और गाँधी विचार से सम्पर्क हुआ होगा तब संस्कृति और मशीन के सम्बन्ध को समझने की शुरुआत हुई होगी।

रिनपोछे जी– यह आप ठीक कह रहे हैं।

उदयन– भारत में अनेक तरह की कारीगरियाँ हैं। उनमें भी कुशलता बड़ा मूल्य है। स्वयं गाँधी जी के लिए चरखा पर बेहतर खादी बनाना कुशलता का परिचायक था। आप इन कारीगरियों में कुशलता को अपने कुशल-अकुशल वाले मूल्य से कैसे समझा पाएँगे?

रिनपोछे जी– 'कुशल' शब्द का बौद्ध परिभाषा में जैसा अर्थ निकलता है और कार्य-कुशलता में फ़र्क है। कार्य-कुशलता में कुशल 'इफ़िशिएसी' के अर्थ में होता है। या 'स्किल' के अर्थ में। पुण्य और पाप के अर्थ में कुशल-अकुशल केवल बौद्ध परिभाषा में आते हैं, बाकी परम्पराओं में ऐसा शायद नहीं है। यहाँ पाप के लिए अकुशल और पुण्य के लिए कुशल शब्द प्रयुक्त हुआ है।

उदयन– क्या बौद्ध परम्परा में यह सम्भव है कि बौद्ध दृष्टि से ही कोई कुशलता से कर्म करे और विहार न जाये?

रिनपोछे जी– वह तो है ही। बौद्ध अनुयायी अधिकांशतः तो गृहस्थ लोग ही थे। विहार में केवल भिक्षु लोग रहते थे। वे बहुत कम संख्या में थे। बुद्ध के समय से ही कम संख्या में रहे। निर्वाण प्राप्ति के कार्य में गृहस्थ और भिक्षु में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही कर सकते हैं।

उदयन– इसका अर्थ यह है कि अगर कोई कारीगर 'स्किल' के अर्थ में कुशल कार्य करते हुए बौद्ध अर्थ में भी पुण्य करता जा रहा है, तो वह कार्य कुशल कर्म हुआ।

रिनपोछे जी– वह तो हुआ। बौद्ध अर्थ में पुण्य होने से कुशल कार्य हो जायेगा, और 'स्किल' भी अच्छा माना जायेगा।

उदयन– अगर कोई मशीन स्किल के अर्थ में कुशल है और उससे पुण्य भी हो रहा है तो क्या वह बौद्ध अर्थ में न्यायोचित ठहरायी जा सकेगी?

रिनपोछे जी– गाँधी जी की दृष्टि से हो सकती है। मशीन को सामान्य रूप से न्यायोचित ठहराना और उसे पृथक-पृथक करके न्यायोचित ठहराना, यह दोनों अलग होंगे। जैसे सिंगर सिलाई मशीन को गाँधी जी ने स्वीकार किया था। उनकी दृष्टि यह थी कि जो व्यक्ति हाथ से सिलाई करने में कठिनाई अनुभव कर रहा है, जिसकी आँख ठीक नहीं है, उसे सुई में धागा डालने में दिक्कत होती है और उसे रात को काम करने में तकलीफ़ है, उसके प्रति करुणा भाव से सिलाई मशीन का आविष्कार किया गया, उस अविष्कार की कारक चित्तवृत्ति पैसा कमाने की, शोषण करने की, हिंसा करने की नहीं, दूसरे आदमी के दुःख को कम करने की थी इसलिए उसे कुशल माना जा सकता है। यह बौद्धों के सोच से बहुत मिलता है। अगर प्रेरक चित्तवृत्ति सही होगी, तो हर काम सही हो सकता है। अगर उसमें खोट है तो कार्य भले ही देखने में अच्छा लगे, वह ठीक नहीं होगा।

उदयन– तिब्बत की बौद्ध परम्परा में कला का बहुत बड़ा स्थान है। थंका चित्र कला आदि अत्यन्त विकसित हैं। बौद्ध विहारों में, मैंने रूमटेक में खुद देखा है, बेहद सुन्दर भित्ति चित्र दिखायी देते हैं जिनमें अनेक चरित्र चित्रित हैं। मैं यह जानना चाहता था कि चित्त-शुद्धि और चित्रकला का क्या सम्बन्ध है?

रिनपोछे जी– कला विद्या प्रस्थान है। बौद्ध परम्परा में पाँच विद्या प्रस्थान जाने गये हैं। जैसे वैदिक परम्परा में वेद, उपवेद, उपनिषद्, धर्म-शास्त्र, पौराणिक शास्त्र आदि कहते हैं। वेद और छह वेदांग कहा जाता है। बौद्ध वांग्मय में पाँच महाविद्या प्रस्थान का नाम दिया गया है। उनमें सबसे पहला है, शब्द विद्या जिसमें भाषा शास्त्र, व्याकरण आदि आते हैं जिससे भाषा और भाषानुशासन सीखा जा सके। अलंकार, रस, आदि भी शब्द विद्या में आते हैं।

उदयन– इसमें 'रस' का अर्थ वही है जो भरत के नाट्यशास्त्र में है?

रिनपोछे जी– जी वही है। हम उसमें अधिकांश सात रस देखते हैं फिर आठवाँ और फिर नौवा भी जोड़ देते हैं। हम लोग शान्त रस को नहीं देखते।

उदयन– क्या आप शब्द विद्या में उच्चारण भी रखते हैं?

रिनपोछे जी– शब्द विद्या में उच्चारण भी है, गायन भी, गीत भी। वाक्य के माध्यम से जितना जो होता है, शब्द विद्या के अन्तर्गत ही आता है। दूसरी विद्या है 'हितु-विद्या'। यह न्याय, तर्क जितना कुछ प्रमाण शास्त्र में आता है, वह हितु-विद्या में आता है।

उदयन– आप लोग तो केवल दो प्रमाण मानते हैं : प्रत्यक्ष और अनुमान?

रिनपोछे जी– प्रमाण दो मानते हैं, लेकिन हितु-विद्या में प्रमाण शास्त्र आता है।

उदयन– 'हितु' हेतु से बना लगता है।

रिनपोछे जी– लक्षण। तीसरी चिकित्सा।

उदयन– चिकित्सा भी महाविद्या है?

रिनपोछे जी– यह भी महाविद्या है। इसमें शरीर की संरचना, रोग, रोग के कारण, रोग के लक्षण, उनके निवारण के लिए औषधि आदि सब चिकित्सा विद्या में आते हैं, उसमें ज्योतिष भी है। चौथी विद्या शिल्प विद्या है। इसमें सारी वास्तु कलाएँ, चित्र कलाएँ आदि आती हैं। यह बहुत व्यापक है। यह भी महाविद्या है। पाँचवी महाविद्या है आध्यात्मिक विद्या। इसमें कर्म, दर्शन आदि सब आ जाते हैं। इन पाँच महाविद्याओं के अनुशीलन के बिना बुद्धत्व प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसलिए साधना का भी कला अभिन्न अंग है। जैसे साधना के मण्डल करना या मूर्तियाँ बनाना, थंका बनाना। उन सब को करने का शास्त्र है। भित्ति चित्र बनाना है या भगवान बुद्ध की प्रतिमा बनाना है या उनको चित्रित करना

है तो उस सब के लिए नाप हैं। सबसे पहले यह तय करना होता है कि कितना ऊँचा चित्र बनाना है। अगर तीन अंगुल की बुद्धमूर्ति बनाना है तो उसका मुख कितना होगा, यह तय है फिर उस मुख का प्रमाण लेकर बाकी सारी अंगों के नाप या प्रमाण नियन्त्रित होते हैं। मुख को एक अंश मानकर यह तय हो जायेगा कि हाथ के लिए कितना अंश होगा, पाँव का कितना, कमर के लिए कितना अंश होगा। यह सब निर्धारित हो जाता है।

उदयन– मुख-मण्डल ही प्रमाण है।

रिनपोछे जी– जी हाँ। शायद इसलिए अमरीका के विद्वानों में तिब्बती चित्रकला को कला नहीं माना है। वे इसे क्राफ़्ट कहते हैं। इसलिए इसे चित्रकला सिद्ध करने कई विद्वानों को कई बार लम्बे-लम्बे निबन्ध लिखना पड़े। अमरीकी विद्वानों का प्रश्न हे कि इस चित्रकला में कलाकार का क्या कौशल है? इसमें सब पहले से ही तय है, मापदण्ड, आदि, आपको तो सिर्फ़ रंग भरना है। यह बच्चे भी कर सकते हैं।

उदयन– कलाकार की छाप तो तब भी आकर रहेगी। जैसे संस्कृत के नाटकों में जो मुख्य कथा बहुत नयी नहीं होती। अनेक नाटकों के स्रोत महाभारत, रामायण और कथासरित सागर ही हैं। नाटककार थोड़ा बहुत परिवर्तन कर देते हैं पर वह मूलभूत नहीं होता। लेकिन इस थोड़े से परिवर्तन में यहाँ के पाठक, श्रोता, प्रेक्षक बहुत अधिक संवेदनात्मक और वैचारिक परिवर्तन लक्ष्य कर लेते हैं।

रिनपोछे जी– वही फ़र्क देना ही कलाकार का काम है। उस फ़र्क का दर्शन करने वाले ही रसास्वादन करते हैं। एक आदमी से सारा मापदण्ड लिखवाया जाये और उसे चार-पाँच कलाकारों को दिया जाये तो एकदम पता लग जायेगा कि कौन-सा कुशल कलाकार है और कौन-सा अकुशल।

उदयन– आनन्दकुमार स्वामी यह मानते थे कि कला पारलौकिक सत्य के संकेतन के बिना सार्थक नहीं रहती, क्या थंका कला में यही विचार है?

रिनपोछे जी– किसी की तस्वीर खींचने से वह वस्तु या व्यक्ति जस का तस उसमें आ जायेगा, पर वह तस्वीर कला की श्रेणी में नहीं आयेगी। यह सच है कि उसमें त्रुटि नहीं होगी, आप जैसे हैं वैसे ही उसमें आ जायेंगे। कला और संस्कृति में एक जैसी स्थिति है। नरेन्द्र देव जी ने बहुत सटीक कहा है कि 'संस्कृति चित्त भूमि की कृषि है।' इसी तरह कला भी 'चित्त-भूमि की कृषि है।' जितना आपका चित्त संशोधित होगा, जितना निर्मल होगा उतना वह सब कला में परिलक्षित होगा। अगर आप क्रोधित हैं, अगर आप राग-द्वेष से ग्रस्त हैं तो आपकी कला में वह सब परिलक्षित निश्चित रूप से होगा। जैसे-जैसे आपका चित्त-शोधन होता चला जायेगा, उसी प्रकार का परिष्कार आपकी कला में परिलक्षित होता चला जायेगा। इसलिए लेखक, चित्रकार या प्रदर्शनकारी कलाकार, अभिनेता उन सबके लिए अभ्यास एक उपाय है, उसके बिना नहीं होगा लेकिन अभ्यास मात्र से भी नहीं होगा। अभ्यास

के पीछे मानसिक विकास आवश्यक है, चित्त का विकास।

उदयन– ऐसा कहा जाता है कि कई संगीतकार ऐसे हुआ करते थे जो बीच-बीच में साल दो साल के लिए संगीत छोड़कर साधना में चले जाते थे। थंका चित्रकारों की शिक्षा-दीक्षा कैसी हुआ करती थी?

रिनपोछे जी– जब तक थंका और ऐसी ही अन्य कलाओं ने व्यवसायिक रूप नहीं लिया था तब तक वे साधना का ही अंग थी। बुद्ध की मूर्ति या थंका बनाना हो, ये बिना प्रयोजन के नहीं बनाते थे। किसी साधक को पुण्य-अर्जन की आवश्यकता के लिए या उनकी साधना में सहयोग के लिए अमुख बुद्ध की प्रतिमा चाहिए, ऐसा उन्हें बोध हो जाता था। वे कलाकार के पास जाते थे, और उनसे कहते थे कि मुझे ऐसा-ऐसा बना दो। कलाकार उसको बनाते थे। जिस साधक को प्रतिमा की आवश्यकता है, उसकी साधना को आगे बढ़ाने के निमित्त से कलाकार वह प्रतिमा बनाता है तो वह इसे साधना के रूप में ही बनाता था। उसे पारिश्रमिक मिलता या नहीं, इसका महत्व नहीं था।

उदयन– कलाकार जब तक साधक की अवस्था से एकमेक नहीं होता, वह चित्र नहीं बनाता होगा या नहीं बना सकता।

रिनपोछे जी– हाँ, नहीं बना सकता। गत सौ-दो सौ वर्षों से यह सब व्यवसाय हो गया। इसके बाद से कलाकार केवल प्रतिलिपियाँ बनाते हैं। वह कोई मूलभूत कला नहीं है। एक पुराना थंका लेकर उससे एक नया थंका बना दिया और विहारों में जाकर दीवारों पर चित्र बनाने होते हैं, तो उसके लिए आचार्य या उसके उपध्याय बता देंगे कि यहाँ चित्र बनाने हैं तो कलाकार पुरानी चीज़ों को देखकर वह बना देते हैं। साधना से हटने के बाद इस कला का जीवन्त रूप, मेरे ख्याल से लुप्त हो गया है। सुन्दरता तो है लेकिन उसका वैसा प्रभाव नहीं है मानो जीवित बुद्ध को देख रहे हों या जीवित देवता को देख रहे हों।

उदयन– आप यह कह रहे हैं कि साधक को साधना के दौरान बुद्ध का कोई एक स्वरूप अनुभव हुआ...

रिनपोछे जी– ...और उन्होंने उसे चित्रांकित करवाना चाहा...

उदयन– ...और ऐसे अलग-अलग रूपों का अनुभव हो जाता है।

रिनपोछे जी– हाँ, बिल्कुल हो जाता है...

उदयन– ...इसीलिए बुद्ध की अलग-अलग प्रतिमाएँ बनायी गयी हैं- जैसे हँसते हुए बुद्ध- क्या वे साधना-उत्तीर्ण हैं?

रिनपोछे जी– जी, ये साधना उत्तीर्ण हैं।

उदयन– इन स्वरूपों के कितने भी हो सकने की सम्भावना है?

रिनपोछे जी– वे अनन्त हो सकते हैं और चित्रकला का सम्बन्ध इन साधनाओं से था और अब टूट गया है।

+ + +

उदयन– अवध किशोर सरन देश के विशिष्ट चिन्तकों में माने जाते हैं। आपका उनकी पुस्तकों के प्रकाशन में विशेष सहयोग माना जाता है। आपकी सरन साहब से कैसे भेंट हुई थीं?

रिनपोछे जी– एक बार सारनाथ के तिब्बती संस्थान में बौद्ध समाज दर्शन पर एक संगोष्ठी हुई। वह अखिल भारतीय गोष्ठी थी। मेरे मित्र काशी विद्यापीठ के प्रोफेसर रमेशचन्द तिवारी ने मुझसे कहा कि मेरे गुरू जी सरन साहब जयपुर विश्वविद्यालय में हैं, उन्हें बुलाइए। मैंने कहा, ठीक है। मैंने उन्हें पत्र लिखा कि हम एक ऐसी-ऐसी गोष्ठी कर रहे हैं, आप पधारें। उनका जवाब आया कि मैं आऊँगा, लेकिन मैं जयपुर से बनारस और बनारस से लखनऊ जाऊँगा। लखनऊ से वापस जयपुर जाऊँगा। मुझे लखनऊ में कुछ काम है। इसलिए आप मुझे जयपुर-वाराणसी और वाराणसी-लखनऊ का मार्ग व्यय दीजिए। लखनऊ से आगे का मार्ग व्यय लखनऊ वाले देंगे। उन्होंने ऐसा लिखा। मैंने कहा, ठीक है, ऐसा ही करेंगे। वे आये पर उन्होंने ज़्यादा भागीदारी नहीं की। अधिकतर चुप ही रहे। फिर वे वापस लखनऊ गये। हमारे ऑफिस से उन्हें जयपुर-वाराणसी, वाराणसी-लखनऊ का मार्ग व्यय दे दिया गया। जब वे वापस जयपुर पहुँचे तो उन्होंने हमको एक पत्र लिखा। उस पत्र के साथ एक चेक भी संलग्न था। उन्होंने लिखा था कि लखनऊ वालों ने मुझे वाराणसी-लखनऊ और लखनऊ-जयपुर का मार्ग व्यय दे दिया है इसलिए वाराणसी-लखनऊ का मार्ग व्यय वापस कर रहे हैं। इसके लिए क्षमा याचना भी की थी। मुझे उनका ऐसा करना अच्छा लगा क्योंकि मैं जानता हूँ कि कई कोलकाता या विश्वभारती विश्वविद्यालय के लोग वाराणसी आते हैं तो तीन-चार संस्थानों का काम करते हैं और उन सभी से तीन-चार बार मार्ग व्यय ले लेते हैं।

उदयन– यह किस वर्ष की बात है?

रिनपोछे जी– यह सत्तर के मध्य या अस्सी के शुरू की है। उनके इस व्यवहार से मेरे मन में यह बात आयी कि यह चरित्रवान व्यक्ति हैं और तब मुझे उनके प्रति श्रद्धा हुई। उन्होंने सिर्फ़ पैसा भर नहीं लौटाया था, उन्होंने यह आत्मस्वीकार भी किया था कि उनसे कोई ग़लती हुई है और इसकी उन्होंने उसी पत्र में क्षमा मांगी थी। उसके बाद सारनाथ या कहीं और सरन साहब से भेंट हुई तो मैंने उनसे कहा कि आप तिब्बत संस्थान में आकर अपने प्रिय विषय पर एक-दो व्याख्यान दीजिए। उन्होंने कहा, मैं आ सकता हूँ पर कितना समय मिलेगा। इस पर मैंने कहा कि उतना ही जितना प्रचलित है, यानि चालीस मिनट-पैंतालीस मिनट, उसे बढ़कर एक घण्टा भी कर सकते हैं और उसके

बाद कुछ संवाद भी हो जायेगा। वे कुछ देर सोचकर बोले, इतने में मैं कुछ कह नहीं पाऊँगा। मैंने उनसे पूछा, आपको कितना समय चाहिए। वे बोले कि अगर मुझे एक हफ़्ते का समय दिया जाये तो किसी विषय को ठीक से बता पाऊँगा। मैंने यह मान लिया और कहा आप आइए एक हफ़्ते का कार्यक्रम रखते हैं।

उदयन– तब तक आपने इन्हें पढ़ा नहीं था।

रिनपोछे जी– कुछ सुना होगा और कुछ निबन्ध पढ़े होंगे। फिर उनका एक हफ़्ते का कार्यक्रम तय हुआ और वे पत्नी के साथ सारनाथ आये और दस दिन ठहरे। एक हफ़्ते तक उनका भाषण हुआ, रोज़ सुबह नौ बजे से एक बजे तक फिर दोपहर के खाने के बाद चार-पाँच बजे तक। उसमें श्रोता हम थोड़े से लोग ही थे, रमेश तिवारी, रामशंकर जी और बनारस विश्वविद्यालय के दो-तीन लोग और काशी विद्यापीठ से दो-तीन लोग आते थे। कुछ मिलाकर दस-ग्यारह लोग रहे होंगे। इकट्ठे खाना खाते थे, चाय पीते थे और उनका भाषण सुनते थे। और सब रिकार्ड भी करते थे। बाद में वह अभिलिखित भी हुआ पर उन्होंने उसे छपाने की अनुमति नहीं दी। वे 'अवशेष' पर बोले थे। मैं समाज विज्ञान का व्यक्ति नहीं हूँ तो मुझे बहुत समझ में नहीं आया पर तब मैंने यह समझ लिया उनका ज्ञान पढ़कर आने वाला नहीं है, वह गहरी अनुभूति का ज्ञान है। उस समय यह चर्चा हुई और सरन साहब बोले, मैंने बहुत लिखा है लेकिन कोई प्रकाशित नहीं करता। मैंने उनसे पूछा कि उनके पास अभी तैयार क्या है? उन्होंने कहा कि हमारे पास 'ट्रेडिशलन थॉट' पूरा ग्रन्थ के रूप में तैयार है। उसी बीच परमपूज्य की षष्ठी पूर्ति का आयोजन दिल्ली में हुआ। उसमें सरन साहब को बुलाया गया। उसमें गोष्ठी भी थी और सरन साहब से आग्रह किया गया कि आप संक्षेप में बोलिए। उन्होंने कुछ भी नहीं बोला। तब तक उनकी किताब 'ट्रेडिशनल इण्डियन थॉट' की पाण्डुलिपि तैयार थी।

उदयन– तिब्बत इंटिट्यूट से उनकी संकलित रचनाओं में जो पहला ज़िल्द प्रकाशित हुई है।

रिनपोछे जी– गोविन्द चन्द्र पाण्डे जी, दयाकृष्ण जी और भी कई लोग थे, उन्होंने इस किताब की अनुशंसा की और कहा कि यह बहुत अच्छी किताब है, इसे प्रकाशित कराइए।

उदयन– ज़ाहिर है, आप लोगों ने तिब्बत संस्थान से इन लोगों को पाण्डुलिपि पढ़ने दी होगी और उनकी अनुशंसा मांगी होगी। आपके संस्थान में ऐसी व्यवस्था रही होगी।

रिनपोछे जी– ऐसी व्यवस्था तो है। पर इस पुस्तक के बारे में गोविन्द चन्द्र जी और दयाकृष्ण की ही अनुशंसा ली गयी और इसे प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। उसे टंकित करने इलेक्ट्रानिक टाईपराइटर मंगाया गया। फिर सरन साहब सारनाथ आकर दो-तीन महीने रहे और टंकित प्रति को ठीक किया। एक दिन टाईपिस्ट मुरारीलाल जी आकर बोले 'मैं छह बार टंकित प्रति में सुधार कर चुका हूँ, जब भी उनके पास जाता हूँ, कुछ न कुछ जुड़ ही जाता है। इस तरह कैसे होगा?' मैंने उनसे कहा,

'छह या सात या आठ बार की गिनती मत करिए, आप सुधार करते रहिए। आपका यही काम है। आपको तनख्वाह मिलती रहेगी। आपको बाकी सारा हिसाब रखने की ज़रूरत नहीं है। वे जब तक स्वीकृति नहीं दे देते, आप सुधार करते रहिए।'

वह काम बहुत लम्बा खिंचता गया। इस बीच उनकी पत्नी कैंसर से अस्वस्थ हो गयीं। यह नब्बे के दशक की बात है। उनकी पत्नी सुशीला जी ने सरन साहब से कहा कि मैं मरने से पहले आपका ग्रन्थ देखना चाहती हूँ। उसके बाद सरन साहब ने अपने ड्राफ्टों को स्वीकृत करना शुरू किया। हम लोगों ने उसे जल्दी-जल्दी छपाया। इस बीच सुशीला जी का इलाज भी चलता रहा। परमपावन दलाई लामा जी ने उसका प्राक्कथन लिखा। वह उनका पहला प्रकाशित ग्रन्थ है। उसके बाद उनकी एक अलमारीभर लिखित सामग्री तिब्बत संस्थान ने ले ली और एक मेमोरेण्डम ऑफ अण्डरस्टेडिंग का दस्तावेज़ बना दिया गया कि सरन साहब की सारी पाण्डुलिपियों को संस्थान प्रकाशित करेगा। वह कार्य लम्बा होने वाला था और मेरे कार्यकाल में वह सब छप नहीं सकता था। मेरे कार्यकाल में तीन ग्रन्थ छप गये थे, उसके बाद बाकी सब छपे।

उदयन- कुछ आठ ज़िल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं, क्या कुछ और भी बाकी हैं?

रिनपोछे जी- अभी उतने ही और बाकी हैं। सब सारनाथ में ही हैं। सरन साहब के जापानी शिष्य मुराकामी और लखनऊ के अजय कुमार श्रीवास्तव ही उस सामग्री पर काम कर सकते हैं। कोई और उस पर काम नहीं कर सकता।

उदयन- उन दोनों शिष्यों की क्या उम्र होगी?

रिनपोछे जी- मुराकामी शायद पचास से अधिक होंगे पर जब तक उनके माँ-पिता हैं, वे उनकी सेवा में रहेंगे। वे अतिवृद्ध हैं। शायद उनमें से एक का देहान्त हो गया है। पिताजी अभी हैं।

उदयन- क्या मुराकामी वहाँ बौद्ध दर्शन पढ़ाते हैं?

रिनपोछे जी- वे पढ़ाते नहीं है। वे सरन साहब के निष्ठावान शिष्य हैं। अभी तक की छपाई में भी उनका सहयोग रहा है। अजय श्रीवास्तव को सेवा-निवृत्त होने में एक-दो साल और लगेंगे। इन लोगों के आने के बाद बाकी किताबें प्रकाशित होंगी। लेकिन उनके लेखन का महत्वपूर्ण अंश छप चुका है। यह कहानी है सरन साहब की।

उदयन- आपके उनके निकट के सम्बन्ध रहे हैं। आपकी उनसे क्या बातें होती थीं?

रिनपोछे जी- उनकी बातें समझना कठिन था। वे दूसरी दृष्टि से बात करते थे। वे एक घण्टा-चालीस मिनट किस विषय को कह रहे हैं, समझ में नहीं आता था। लेकिन जब वे अपने विषय पर पहुँच जाते थे, उसका प्रतिपक्षी तर्क किसी से भी नहीं हो सकता था। वे बहुत ठोस रूप से बोलते

थे। वे अद्‌भुत प्रतिभा के धनी थे। हम लोगों का उन्हें ठीक से समझना काफ़ी कठिन था। उनको उनके सहयोगियों या विश्वविद्यालयों ने नहीं पहचाना।

उदयन– उनके लिए तो वे बोधगम्य हुए ही नहीं होंगे। जब वे आपको कठिन लगते थे, विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों को तो भूल जाना चाहिए। उन्हें तो महज समाजशास्त्र का आचार्य भर माना जाता होगा। पर वे उसके कहीं आगे जा चुके थे। उनके कोई साथी नहीं रहे, सम्भवतः..

रिनपोछे जी– शिष्य बहुत रहे। लेकिन उनका समकक्ष साथी कोई नहीं रहा। मेरे उनसे उम्र में बहुत कम होने के बाद भी हमारा और उनका लम्बा साथ रहा है। उनका बौद्ध दर्शन का अध्ययन बहुत नहीं था। लेकिन वे आचार्य नरेन्द्रदेव के लेखन से वाकिफ़ थे। इसलिए उनसे इस विषय में संवाद नहीं हो सकता हो, ऐसा भी नहीं था। वे सारा कुछ परम्परा में ही समेट लेते थे।

+ + +

उदयन– तिब्बत के अनेक नागरिक भारत आ गये हैं। क्या बौद्ध धर्म की परम्परा उनमें किसी रूप से चल रही है? मैं विशेष तौर पर उसके अध्ययन-अध्यापन की बात कर रहा हूँ।

रिनपोछे जी– जितने भी विहार तिब्बत में मूलरूप से थे, वे सब भारत में और दो-तीन नेपाल में बन गये हैं। उनमें अध्ययन भी ठीक ढंग से चल रहा है। इन विहारों में भारतीय छात्रों की परवरिश भी खूब हुई है। हिमालय क्षेत्र लद्‌दाख, लाहोल स्पीती, अरूणाचल प्रदेश आदि के छात्रों की। नेपाल के छात्रों की भी। पुराने ज़माने में ये लोग तिब्बत भी जाया करते थे। अब वे सारे लोग यहाँ पुनर्स्थापित विहारों में अध्ययन कर रहे हैं। आने वाली दो-तीन पीढ़ियों में जो ज्ञान सम्पदा एक हज़ार वर्ष से अधिक तक तिब्बत में संरक्षित थे, उसे भारत को सौंपने की जो परमपूज्य को इच्छा है, वह पूरी हो जायेगी। ऐसा लगता है।

उदयन– अनुवाद कार्य भी बहुत हो रहा है...

रिनपोछे जी– जी। लेकिन वह उतनी तेज़ी से नहीं हो पा रहा जितनी तेज़ी से तिब्बती भाषा का अध्ययन हो रहा है। हिमालय क्षेत्र के अधिकांश भारतीय तिब्बती भाषी हैं। जैसे पूरा लद्‌दाख, पूरा सिक्किम, पूरा भूटान (हालाँकि वह भारत का अंग नहीं है!) अरूणाचल के मुक्बा क्षेत्र पूरा तिब्बती भाषी है। हमारे विहारों में तिब्बती नागरिकों की संख्या भारतीय नागरिकों की तुलना में कम है। गैर-तिब्बती भाषी भी मैदानी क्षेत्र से आकर उन विहारों में अध्ययन करते हैं।

उदयन– इन सभी बौद्ध विहारों में वे सारे बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनका आपने पहले ज़िक्र किया था।

रिनपोछे जी– वे सारे ग्रन्थ वहाँ है। उनका पुनर्प्रकाशन हो गया है। सारे ग्रन्थों कपड़ों में लपेटकर दो तख्तियों के बीच रखने की पुरानी भारतीय परिपाटी है। वह तिब्बत में भी रही है।

उदयन– अब तिब्बती बोलने वालों की संख्या की क्या स्थिति है?

रिनपोछे जी– जब तिब्बत आज़ाद था, तिब्बती भाषियों की संख्या साठ लाख कही जाती थी। तिब्बत से बाहर इस भाषा को बोलने इनसे दो गुना होंगे। मंगोलिया में सारा बौद्ध अध्ययन तिब्बती भाषा के माध्यम से होता था और अब दोबारा हो रहा है। हिमालय शृंखला में पाकिस्तान के कुछ स्थानों से लेकर लद्दाख से होते हुए हिमालय प्रदेश, उत्तराखण्ड, सिक्किम, भूटान, मेघालय, अरूणाचल प्रदेश, फिर मंगोलिया और रूस में तीन छोटे गणराज्य काल्मिक, बुर्यात और थोबा में धर्म का अध्ययन तिब्बती भाषा में होता है। उनके बहुत-से विद्यार्थी कर्नाटक में पढ़ रहे हैं।

उदयन– क्या ये सारे लोग उसी पद्धति से अध्ययन कर रहे हैं जिसका आपने आरम्भ में ज़िक्र किया था।

रिनपोछे जी– बिल्कुल उसी पद्धति से। जब रूस कम्यूनिस्ट नहीं था, वहाँ के सारे ऐसे विद्यार्थी तिब्बत आकर बीस-पच्चीस वर्ष रहकर अध्ययन करके वापस जाते थे। कई वापस नहीं भी जाते थे। उसी तरह से लद्दाख आदि जगहों के छात्र अध्ययन के लिए तिब्बत जाते थे। अब उसकी जगह कर्नाटक जा रहे हैं।

उदयन– क्या स्वाधीन तिब्बत में चीन से भी विद्यार्थी आते थे?

रिनपोछे जी– चीन से कम विद्यार्थी आते थे। रूस के कम्युनिस्ट होने के बाद छात्रों का आना बन्द हो गया। रूस से भी, मंगोलिया से भी। तिब्बत में रूस के वे वृद्ध विद्यार्थी जो साठ से ऊपर थे, पढ़ रहे थे। वे पढ़कर वापस नहीं जा सकते थे। चीन और जापान के छात्र हमेशा से ही इक्का-दुक्का ही होते थे। वे अपनी भाषा में ही बौद्ध धर्म का अध्ययन करते थे।

उदयन– क्या मंगोलिया में बौद्ध धर्म तिब्बत से गया है?

रिनपोछे जी– मंगोलिया में इसी तरह गया है। चंगेज खाँ ने तिब्बत पर कब्ज़ा किया, उसके बाद मंगोलियायी शासक तिब्बती लामाओं के शिष्य बने।

उदयन– कुबलाई खाँ के तो तिब्बती लामा गुरू बने पर क्या उसके पहले भी बौद्ध विचार मंगोलिया में जाने लगा था?

रिनपोछे जी– बौद्ध विचार चंगेज खाँ के समय से ही थोड़ा-थोड़ा जाने लगा था। जब तिब्बत मंगोलिया के अधीन हुआ तब से ही मंगोलिया में धर्म का प्रचार शुरू हो गया था। चंगेज खाँ किसी बौद्ध गुरू के शिष्य नहीं बने थे, पर बौद्ध धर्म के अस्तित्व का ज्ञान उनको था और उसके प्रति सम्मान भी था। उनके समय में तिब्बती इतने कमज़ोर थे कि वे चंगेज़ खाँ को बहुत प्रतिरोध नहीं दे सकते थे इसलिए उसको कब्ज़ा में लेने उसे बहुत मार-काट नहीं करना पड़ा। दूसरा बौद्ध धर्म के प्रति वे अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णु थे, इतना निश्चित था। उनके बाद के सभी शासकों ने बौद्ध धर्म को

अपनाया। उसके पोते कुबलाई खाँ ने चीन और मंगोलिया में बौद्ध धर्म की स्थापना के लिए बहुत कार्य किया था। विहार स्थापित किये, मन्दिर बनवाया।

उदयन– मंगोलिया में बौद्ध विहार रहे हैं? और क्या अब बढ़ रहे हैं?

रिनपोछे जी– विहार रहे हैं और अब बढ़ रहे हैं। रूस के तीन गणराज्य और मंगोलिया बौद्ध धर्म को पुनर्स्थापित करने बहुत कार्य कर रहे हैं।

उदयन– इन जगहों पर पढ़ाने के लिए क्या तिब्बती भाषी गुरू लोग भारत से जाते हैं?

रिनपोछे जी– यहाँ से जाते हैं। कई ऐसे गुरू वहाँ हैं। उनके विद्यार्थी यहाँ आते हैं। मेरे ख्याल है कि कर्नाटक में मंगोलिया और रूस के ४०० से अधिक विद्यार्थी पढ़ रहे होंगे। मंगोलियायी और रूसी छात्र बराबर की संख्या में होंगे।

उदयन– क्या इनमें से कुछ शिल्पशास्त्र चित्रकला आदि भी सीखते हैं?

रिनपोछे जी– मैं एक-दो को जानता हूँ। उन्होंने यहाँ सीखकर मंगोलिया में थंका चित्रकला का स्कूल खोल रखा है। मैंने वह देखा है। उनका साधना से सम्बन्ध भले न हो, वे कला-परम्परा को जीवित रखे हुए हैं।

यहाँ आकर हमारी बात रुक गयी। उसके बाद रिनपोछे जी से बात दो महीनों बाद फिर शुरू हुई। इस बार वे व्याख्यान देने दिल्ली आये हुए थे, मैंने उनसे समय लिया और उनसे मिलने उनके दिये समय पर पहुँच गया। संयोग से वे वहीं ठहरे थे जहाँ मैं अमूमन ठहरता हूँ। हम देर दोपहर तक साथ रहे और इस बीच बात करते रहे। बीच-बीच में रिनपोछे जी के फ़ोन आ जाते, या हम खाने के लिए उठ गये और बातें की निरन्तरता टूट-सी गयी। पर इसके बावजूद विचारों का सिलसिला बना रहा।

उदयन– आपने इन्दिरा गाँधी सेण्टर फॉर आर्ट्स में कपिला वात्स्यायन के समय 'काल' पर आयोजित गोष्ठी में वक्तव्य दिया था। आप उसमें काल की बौद्ध धारणाएँ जैसे वैभाषिक, स्वातन्त्रिक, विज्ञानवादी और माध्यमिक चारों परम्पराओं का ज़िक्र करने से पहले यह कहते हैं कि हम काल को वस्तु नहीं, आरोपण मानते हैं। क्या आप इस विचार का कुछ विस्तार करेंगे? पहला इस दृष्टि से कि इसका दार्शनिक पहलू क्या रहा और दूसरा सामान्य तिब्बती या बौद्ध भिक्षुओं के जीवन में इस धारणा के अन्तस में बैठ जाने के बाद उसका व्यवहार किस रूप में हुआ?

रिनपोछे जी– विभिन्न दार्शनिक सम्पदाओं में काल की अलग-अलग मान्यताएँ है। लेकिन शब्दों के माध्यम से बहुत कुछ स्पष्ट करना कठिन है। काल को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं : वर्तमान, भूत और भविष्य। लेकिन ये तीनों ही संस्कृत धर्म के रूप में परिलक्षित नहीं होते। संस्कृत धर्म का अर्थ है उसका उत्पन्न होने, उसका रहना और उसका नष्ट होना। जो कुछ भी हितु से उत्पन्न

होता है, उसे संस्कृत धर्म बोलते हैं। बौद्ध धर्म की पारिभाषिक शब्दावली में यही कहा जाता है। पर काल वस्तु नहीं है याने इन्द्रियग्राह्य नहीं है। अवधि में घटित होने वाली चीज़ को उसकी उत्पत्ति और उसके समापन कर्म का प्रमाण रखने के लिए एक नाम दिया गया है जिसे काल कहते हैं। जैसे यह पृथ्वी है, इसमें दिन और रात का अन्तर है और उन दोनों के पूरे होने को एक दिवस माना जाता है। उस दिवस को हमने एक दिन का समय मान लिया। अगर यह पूछा जाये कि दिवस समय क्या है तो इसका जवाब यही होगा कि दिवस समय नहीं है। दिवस समय के अन्दर घटित होता है इसलिए सरन साहब का स्टीफन हॉकिंन्स की किताब 'ग्रेट हिस्ट्री ऑफ टाईम' पर यह कहना था कि समय का क्या इतिहास हो सकता है, दरअसल इतिहास समय के अन्दर होता है और समय के अन्दर होने वाले इतिहास को समय का इतिहास मानना ग़लत है। इतिहास की घटना हो, न हो, समय अपने हिसाब से रहता है जो इन्द्रियग्राह्य न होने पर भी उसका परिकल्पित रूप बराबर रहता है। बौद्ध धर्म की लगभग यही मान्यता है। शब्दों से जिसका नाम दिया जा सके, उसका प्रारूप होना चाहिए, पर समय का कोई प्रारूप हम परिलक्षित नहीं कर सकते। अवधि के प्रमाण को स्थापित करने यह नाम 'काल' दिया गया है लेकिन वह क्या है, कहाँ है इसका कोई परिलक्षण होने वाला नहीं है।

उदयन– आप यह कह रहे हैं कि काल एक ऐसी वस्तु है जिसका नाम तो है लेकिन वह स्वयं नहीं है।

रिनपोछे जी– लाक्षणिक रूप से उसकी परिभाषा सम्भव नहीं है।

उदयन– याने काल अस्तिमूलक नहीं है।

रिनपोछे जी– जी, वह अस्तिमूलक नहीं है। वह परिकल्पित है।

उदयन– इसी से जुड़ा एक और प्रश्न हैः भारत में युगों की कल्पना है। यह कल्पना भी है कि हर युग पिछले युग से अधिक गिरा हुआ होता है। कलयुग सबसे खराब उससे थोड़ा-सा ठीक त्रेता आदि। इन सभी युगों के चक्र की कल्पना है। असल में तो सभी युग एकसाथ रहते हैं क्योंकि वे कर्म-फल सम्बन्ध आश्रित हैं। अलग-अलग लोग एक ही साथ अलग-अलग युगों में हो सकते हैं। क्या युगों की ऐसी कोई धारणा बौद्ध परम्परा में है?

रिनपोछे जी– चार युग की बात हर जगह है। भारतीय परम्परा में हर जगह है। जिस युग में जिस तरह की घटनाएँ घटित होती हैं, उसी से युग का नाम भी पड़ता है। समय अपने से यह तय नहीं करता कि युग द्वापर होगा या त्रेता। मानव जीवन में जो घटनाएँ घटती हैं, उसी हिसाब से युग का नाम दिया जाता है। जैसे कि सत्युग में पाप नहीं होता था। बौद्धों की दृष्टि में द्वापर युग के नाम का कारण है, मानव समाज में चोरी और प्राणाधात (कत्ल) जैसे दो पाप उत्पन्न हुए। पाप की संख्या से युग द्वापर हो गया। त्रेता में इनके अलावा यौनाचार शुरू हुआ। जब सब पाप आ गये और लोगों में एक-दूसरे से झगड़ने की शुरूआत हुई, वह कलियुग कहलाया। ऐसा कहा गया है। समाज में जिस

प्रकार का व्यवहार होता है और मुख्य-मुख्य पापों का उदय होता है, उसी हिसाब से युगों का नामकरण होता है।

उदयन– क्या बौद्ध धर्म के पहले के तिब्बत में युगों का विचार था?

रिनपोछे जी– यह कहना ठीक होगा कि मैंने नहीं देखा, बल्कि मुझे नहीं मालूम। बौद्ध धर्म से पहले की बौन परम्परा की जानकारी मुझे नहीं है। लेकिन आज बौन साहित्य ज़्यादातर बौद्धों से प्रभावित होकर ही लिखा गया है।

उदयन– इसी से सम्बन्धित मृत्यु का विचार है। मृत्यु का विचार धार्मिक या दार्शनिक परम्पराओं को एक-दूसरे से अलगाते हैं। कमोबेश जितनी भी सामी परम्पराएँ हैं, उनमें मृत्यु के बाद दफ़नाया जाता है और मृतक फैसले के दिन का इन्तज़ार करता है। फिर एक दिन उसके पाप और पुण्यों का हिसाब होता है वगैरह। हिन्दुओं के अनेक सम्प्रदायों में दफ़नाने का विचार नहीं है। वहाँ शरीर को जलाकर उसे पंचतत्वों में मिलाने की बात है। फ़ारस में यह समझ है कि मृत्यु का क्षण ईश्वर से भेंट का क्षण है। तिब्बत में बौद्ध परम्परा में आचार्य पदमसम्भव ने मृत्यु के बाद के अन्तराल पर पूरी किताब 'अन्तरभाव' लिखी है। आप मृत्यु पर बौद्ध परम्परा के विचारों पर कुछ कहें। परमपूज्य के भी इस विषय पर तीन-चार व्याख्यान हैं।

रिनपोछे जी– अतिसूक्ष्म चित्त (जिसे आत्मवादी आत्मा कहते हैं) की सन्तति कभी समाप्त नहीं होती। उसी कारण पूर्वजन्म, अपरजन्म आदि होते हैं। चारवाक को छोड़कर बाकी सब परम्पराओं में पुनर्जन्म स्वीकृत है। आत्मवादी भी मानते हैं निरात्मवादी भी। चारवाक को छोड़कर सभी दार्शनिक परम्पराओं में यह मान्यता है कि चित्त सन्तति न शुरू होती है, न समाप्त। इसलिए जन्म-जन्मान्तर की बात करना होती है। बौद्ध दृष्टि से हमारी चित्त सन्तति एक शरीर को छोड़कर दूसरे में संक्रमित करती है, एक शरीर को छोड़ने के क्षण को मृत्यु कहा जाता है। जिस क्षण चित्त सन्तति एक शरीर के स्वामित्व को छोड़कर अलग होती है, वह क्षणिक होता है, उसे ही हम मृत्यु मानते हैं। उस क्षण के तुरन्त बाद वह अन्तराल के शरीर को प्राप्त करती है। अन्तराल का शरीर स्थूल शरीर नहीं होता। वह केवल मानसमय शरीर होता है। इस तरह चित्त सन्तति सूक्ष्म शरीर को प्राप्त करती है। उसे छोड़ वह चित्त-सन्तति स्थूल शरीर में प्रवेश करती है। वहाँ भी अन्तराल शरीर की मृत्यु होती है। वह अन्तराल शरीर से अलग होकर एक नये शरीर को ग्रहण कर लेती है, इस तरह अपरजन्म होता है।

उस मृत्यु को हम ऐसा मानते हैं कि साधारण व्यक्ति की जो सबसे पवित्र चित्त अवस्था सम्भव है, वह मृत्यु-चित्त है। उस समय, जितने भी स्थूल चित्त के प्रपंच, उनके कार्य है, वे समाप्त हो जाते हैं। मन सूक्ष्म चित्त में विलीन हो जाता है। सूक्ष्म चित्त मूल स्वरूप में क्लेश आवरण से अछूता है। वह उसके स्वभाव में नहीं है। सारे क्लेश उसके लिए आगन्तुक हैं, उसको ढाँक देते हैं लेकिन वे उसके

स्वभाव में प्रवेश नहीं करते। जब जीवित अवस्था में साधना के सहारे ऊँचे स्थान पर पहुँच जाते हैं, सूक्ष्म चित्त जाग्रत होकर क्रियाशील हो सकता है। साधारण मनुष्य जो साधक नहीं है, जिसे मार्ग प्राप्त नहीं है, उसके साथ ऐसा नहीं होता। पाप-पुण्य सूक्ष्म चित्त पर बीज के रूप में हैं, लेकिन वे उसके स्वभाव में जाते नहीं है। वे स्वभाव को कलुषित नहीं करते। सूक्ष्म चित्त राग-द्वेष-क्रोध के रूप नहीं होता। वह स्थिर बोध मात्र होता है। जब वह एक शरीर से निकलकर दूसरे में प्रवेश करता है, चाहे वह अन्तराल का सूक्ष्म शरीर हो चाहे अपरजन्म का स्थूल शरीर, उसका विषय के साथ सम्पर्क टूट जाता है क्योंकि जागृति में स्थूल चित्त में राग द्वेष बहुत होता है, ग़लतफहमी भी होती है, बोध भी होता है। ऐसा ही वह जीवनपर्यन्त चलता है क्योंकि वह शरीर के जागरण में है और वह अपवित्र जैसा है, वह कर्म से विपाक के रूप में मिलता है। कर्म क्लेश के माध्यम से होता है इसलिए जब तक विपाक शरीर है, वह सूक्ष्म चित्त को कार्य नहीं करने देता। स्थूल चित्त परिकल्पनाओं पर आधारित होता है। उससे कर्म उत्पन्न होता है, क्लेशों की उत्पत्ति होती है, जिसे भाव चक्र कहते हैं, वे बनते रहते हैं।

मृत्यु में सूक्ष्म चित्त एक से दूसरे शरीर में संक्रान्त होता है और उतने ही क्षण दो क्षण के लिए स्वाधीन हो जाता है और दूसरे चित्तों से आभारित नहीं होता। लेकिन यह इतने कम समय के लिए होता है कि वह कुछ अधिक कर नहीं पाता।

उदयन- सूक्ष्म चित्त की इस स्वाधीनता का समय बहुत कम होता है।

रिनपोछे जी- क्योंकि वह जैसे ही शरीर में प्रवेश करता है, इन्द्रियाँ आदि सक्रिय हो जाती है और वह प्रतिक्रियात्मक हो जाता है। और वह अधिकांश ग़लत धारणाओं पर चलने लगता है।

उदयन- यानि जिस क्षण उसे स्थूल चित्त प्राप्त होता है तभी शरीर भी प्राप्त होता है।

रिनपोछे जी- वे साथ ही प्राप्त होते हैं क्योंकि सारे स्थूल चित्त शरीरजनित होते हैं। जैसे चक्षु से चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता है, फिर वह विज्ञान स्मरण में चला जायेगा, उससे एक कल्पना उत्पन्न होती है। उसी तरह जब शब्द सुनेंगे, उसका ज्ञान होगा, फिर उससे कल्पना उत्पन्न होगी। अगर यह पूछा जाये कि बौद्ध दर्शन की दृष्टि से मृत्यु क्या है? उसका उत्तर यही हो सकता है : सूक्ष्म चित्त के स्थूल शरीर से संक्रान्त होने और स्वतन्त्र होने का क्षण! वह जैसे ही संक्रान्त होता है, यह शरीर शव हो जाता है। तब उसमें चेतन का अंश नहीं रह जाता। तब वह चेतन के स्वामित्व में नहीं रह जाता। जैसे महाभूतों से बना था, वहीं वापस चला जाता है। वह शरीर फिर काम नहीं आयेगा। इसलिए भारत के कई स्थानों पर तो उसे जला दिया जाता है, तिब्बत में जहाँ लकड़ी की कमी होती है, वहाँ वह गिद्धों को सौंप दिया जाता है, उससे वह इतना साफ़ हो जाता है, छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी नहीं बचता। जहाँ लकड़ी होती है, वहाँ वह जला दिया जाता है। लेकिन तिब्बत में कहीं-कहीं यह स्थानीय प्रथा है कि बरसात के दिनों में शव को जलाते नहीं हैं, उसकी मनाही है इसलिए इन दिनों में मृत्यु के बाद शव को लकड़ी के डिब्बे में रखकर ज़मीन के नीचे तीन-चार महीनों के लिए दफ़ना देते हैं और बरसात

ऋतु के समाप्त होने पर उसे निकाल कर जला लिया जाता है।

उदयन– आपने मृत्यु के बाद सूक्ष्म चित्त को सूक्ष्म शरीर प्राप्त होने के पहले अन्तराल की बात कही। क्या यह अन्तराल बेहद संक्षिप्त होता है और फिर सूक्ष्म चित्त को तुरन्त ही स्थूल शरीर प्राप्त हो जाता है। कई परम्पराओं में यहाँ प्रतीक्षा की बात भी कही जाती है।

रिनपोछे जी– यहाँ दोनों ही होते हैं। जगत की तीन धातु मानी गयी हैं, काम, रूप और अरूप। जब काम से रूप में जन्म होता है, तब अन्तराल की ज़रूरत होती है। काम धातु से काम रूप में जन्म लेने में अन्तराल की ज़रूरत होती है लेकिन जब काम धातु से या रूप धातु से अरूप में जन्म लेता है, उसमें अन्तराल की ज़रूरत नहीं होती। जैसे ही उसकी मृत्यु होती है, उसे तत्काल अरूप का जन्म प्राप्त हो जाता है क्योंकि उसमें रूप नहीं है। उसका सारा जीवन समाधि स्थिति में ही जाता है, उसे कोई बोध नहीं होता। साधारणतया यह कहते हैं कि अन्तराल भाव का जीवन सात दिन से अधिक नहीं होता। सात दिन में ही उसे दोबारा मृत्यु को प्राप्त होना होता है।

उदयन– यानि वह सूक्ष्म शरीर को सात दिन बाद त्याग देता है...

रिनपोछे जी– सूक्ष्म शरीर में रहते हुए भी यदि चित्त सन्तति को अपर जन्म नहीं मिलता, तब एक मृत्यु होती है और वह फिर अन्तरभाव में आ जाता है। यह सात सप्ताह तक चल सकता है। इस बीच वह सात-सात दिनों तक सूक्ष्म शरीर में रहेगा और मृत्यु को प्राप्त होकर अन्तरभाव में आ जाएगा। इसके बाद ऐसा नहीं होता। सात सप्ताह इसकी अन्तिम सीमा है। इसके बाद उसे स्थूल शरीर में अवश्य जन्म लेना होगा। इसीलिए मृत्यु के बाद उसके परिजन सात सप्ताह तक पूजा-पाठ करते रहते हैं। सात सप्ताह बाद बड़ी पूजा होकर यह समाप्त हो जाता है।

उदयन– तब तक उसका अपर जन्म हो ही गया होता है...

रिनपोछे जी– इस परिकल्पना में दार्शनिकों के कुछ मतभेद हैं। ये सात दिन मनुष्य के सात दिन हैं या जहाँ उसका जन्म होगा उसके सात दिन हैं। लेकिन पूजा-पाठ वाले मनुष्य के दिन के प्रमाण को स्वीकार करते हैं। अन्तराल इसलिए लम्बा होता है क्योंकि अगर पशु योनि में जन्म होने वाला हो तो वह हर समय नहीं हो सकता क्योंकि कुछ पशुओं में समय से ही माता-पिता का संयोग होता है, वह हमेशा नहीं होता। अगर किसी पशु विशेष में जन्म होना है, तो माता-पिता के संयोग की प्रतीक्षा करनी होती है। अगर किसी ऐसी योनि में जन्म लेना हो, जो इनसे अलग हैं तो समय विशेष की प्रतीक्षा नहीं करनी होती। अगर समय विशेष की प्रतीक्षा करनी भी हो और सात सप्ताह तक अपर जन्म सम्भव नहीं होता तो जन्म बदल जाता है।

उदयन– अगर किसी दूसरी योनि में जन्म होना है तो वह किस पर निर्भर है? क्या वह कर्मों के आधार पर तय होता है या किसी और तरह से?

रिनपोछे जी– आप किस योनि में जन्म लेंगे, यह कर्म पर निर्भर होता है। हर योनि में जन्म लेने को आपके पास अथाह कर्म हैं, बहुत-से कर्म संचित रहते है। इसलिए मृत्यु के समय जिस कर्म को एक हितु मिलेगा, उसी कर्म से अगला जन्म होगा। जो मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होते हैं उन्हें इसीलिए मृत्यु के समय दुःख नहीं देना चाहिए, क्रोधित नहीं होने देना चाहिए, निराश नहीं होने देना चाहिए क्योंकि अगर वह मृत्यु के समय शान्त चित्त हुआ तो उसके कर्मों में से अच्छे कर्मों को हितु मिल जायेगा, तो वह अच्छा जन्म ले लेगा। अगर उस समय उसका चित्त अशान्त है या कलुषित है तो अकुशल को सन्धि मिल जायेगी, या उन्हें हितु मिल जायेगा तो फिर उसका जन्म निम्न योनियों में होगा।

उदयन– मृत्यु के समय चित्त को शान्त करने की कुछ साधनाएँ भी हैं?

रिनपोछे जी– उसके लिए साधना पद्धतियाँ तो बहुत हैं पर वे गम्भीर साधकों के लिए हैं, साधारण साधकों के लिए नहीं। प्रारम्भ इस तरह किया जाता है : मृत्यु की प्रक्रिया को समझने की कोशिश करते हैं। उसके बाद उसे अभ्यास में लाते हैं। यह अभ्यास करते हैं कि मृत्यु की अवधि में अचेत होने से पहले क्या, कैसे हो रहा है, यह पता चलता रहे। जब हम जाग्रत अवस्था से नींद में जाते हैं, वहाँ भी कर्म होता है, पर हम उसे देख नहीं सकते क्योंकि उसका अभ्यास नहीं होता। अगर उसका अभ्यास करें कि अब नींद आने वाली हैं, अब मैं नींद को प्राप्त कर रहा हूँ, नींद में जाने पर मैं अचेत हो जाऊँगा, मैं उसके निकट आ रहा हूँ, वहाँ तक देखने का भी प्रयास किया जाता है।

सपने का उपयोग अन्तराल भाव के रूप में किया जाता है। लेकिन सपने को सपने के रूप में जानने के लिए बहुत अभ्यास की आवश्यकता होती है। आमतौर पर सपना सपना नहीं लगता। अभ्यास करने से सपने को सपने की तरह देखने की क्षमता आ जाती है। तब उसे अन्तराल भाव के रूप में ग्रहण किया जा सकता है और सपने से जागने को अपरजन्म की तरह। अगर कोई ऐसी मृत्यु हो जिसे अप्राकृतिक कहते हैं तो उसमें कोई कुछ नहीं कर सकता लेकिन यदि बीमार होकर या शरीर की वृद्धावस्था के कारण मृत्यु होती है, उसके पहले आपको कई आभास होने लगते हैं। सबसे पहले शरीर का पृथ्वी भाग छिन्न-भिन्न होने लगता है। तब हाथ-पैर हिलने-डुलने में दिक्कत होने लगती है। उस समय ऐसा आभास होता है मानो हर जगह धुँआ-धुँआ जैसा है। यह संकेत है कि आपके शरीर का पृथ्वी भाग अपने से मुक्त हो रहा है। उसके तत्काल बाद शरीर के जल भाग का क्षय होगा। तब ऐसा आभास होगा मानो आपके कमरे में पानी भर गया है या वहाँ झिलमिल-सा कुछ हो रहा है। उसके बाद मुँह सूख जायेगा और रक्त के प्रावाह का क्षय होने लगेगा। इस समय तक आकर मर रहा व्यक्ति बातचीत नहीं कर सकेगा। लेकिन चेतना तब भी रहती है। उसके पास वायु खत्म हो जाती है। उस समय मर रहे व्यक्ति को महसूस होगा कि उसे आग के कण (चिंगारियाँ) दिखायी दे रही हैं। जैसे किसी ने भूसे को आग लगाकर फैला दिया हो। यहाँ आकर साँस बन्द हो जाती है। इसके बाद भी चित्त शरीर में ही रहता है। इस सूक्ष्म चित्त को ऐसा अनुभव होगा मानो वह सफ़ेद चन्द्रमा की-सी रोशनी में देख रहा है। उसे तेज़ प्रकाश की अनुभूति होगी, उसके बाद उसे लाल रंग का तेज़ प्रकाश

दिखायी देगा। लाल रंग के तेज़ प्रकाश के समाप्त होते ही व्यक्ति अचेत हो जाता है। तब उसमें कोई चेतना नहीं रहती। वह चेतना तब वापस आयेगी जब सूक्ष्म चित्त शरीर से बाहर आ चुका होगा।

उदयन– जब सूक्ष्म चित्त शरीर से बाहर निकल आया, तब चेतना आ जायेगी?

रिनपोछे जी– उस समय मृत्यु हो चुकी होती है। सूक्ष्म चित्त के स्थूल शरीर से बाहर आते ही उसे अन्तराल शरीर मिल जाता है। उसका कोई ठोस रूप नहीं है। वह केवल चितमय शरीर है, मन का बनाया शरीर। वह कहीं भी जा सकता है। अगर उसके रास्ते में दीवार आयेगी, वह उसके पार निकल जायेगा। उसे कहीं भी जाने में बाधा नहीं है। उसका किसी भी स्थूल रूप से टकराव नहीं होता क्योंकि उसका कोई स्थूल रूप नहीं है। अगर उसे मनुष्य जन्म में आना है तो उसे माता-पिता के संयोग की प्रतीक्षा करना पड़ेगी। अगर कहीं और जन्म लेना होगा तो भी वह उसी तरह करेगा।

उदयन– इस सारी प्रक्रिया में साधक किस तरह व्यवहार करता है?

रिनपोछे जी– वह मृत्यु की प्रक्रिया शुरू होते ही बुद्ध या अपने गुरुजनों का स्मरण करने लगता है। वह अचेत होने से पहले प्रयास करता है कि उसके अच्छे (कुशल) कर्मों का फल उसे अपरजन्म में मिले। अगर वह अचेत होने से पहले अच्छा सोच रहा है तो इससे उसकी अपने कुशल (अच्छे) कर्मों से सन्धि हो जाती है और इसके कारण अपरजन्म अच्छा मिलता है। अगर वह क्रोधित होगा या ऐसी ही किसी भावना को अचेत होने से पहले, मन में लायेगा तो उसके जो बहुत से बुरे कर्म होंगे, चित्त की उनसे सन्धि हो जायेगी, तब वह नर्क में या पशु योनि में जा सकता है।

उदयन– आपसे मैं यह पूछना चाहता हूँ कि जब हम बौद्ध परम्परा में शून्यता कहते हैं तब हम क्या कह रहे होते हैं?

रिनपोछे जी– इसे सरल शब्दों में अभिव्यक्त करना थोड़ा कठिन है। वस्तुओं पर कोई चीज़ आरोपित की गयी है, उसका निषेध करना ही शून्यता है। मान लीजिए यहाँ घट रखा हुआ है तो यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि यहाँ घट नहीं रखा है। यह घट हमारी चित्तवृत्ति में स्वतन्त्र रूप से, अपने स्वभाव से अस्तित्वमान है, ऐसा हम इस पर आक्षेप करते हैं। जब हम इस पर सोचते हैं कि हम किस तरह से आक्षेप करते हैं, यह आक्षेप है या नहीं, उसका निषेध हो जाता है कि ऐसा नहीं है क्योंकि यह हमारे चित्त में धारणा की तरह नहीं है तब उस घट के हमारी चित्त की धारणा की तरह होने का निषेध हो जाता है। इस निषेध से शून्य हो जाता है। यह पहली तरह का निषेध है : पुदगल निरात्मा। इसके बाद धर्म निरात्मा, और इस तरह के बढ़ते हुए शून्यता को जानने का प्रयास करते हैं। तब स्व पर आत्मा के आरोपण का निषेध करते हैं। उसके लिए स्व की धारणा को जानना पड़ता है। वह सबसे भिन्न है। आत्मा कोई बनावट नहीं है, प्रतीत सम्पन्न नहीं है। वह स्वभावतः अपने से है। जैसे कोई हमें गाली देता है तो हम क्रोधित होते हैं, 'उसने मुझे गाली दी।' यह 'मैं' बहुत स्वतन्त्र रूप से मन में आता है, उसकी धारणा होती है। यह 'मैं' न तो शरीर पर होता है, न चित्त पर। उसका कोई

भी आधार नहीं होता। बिना आधार के ही 'मैं' की धारणा है, उस धारणा को हम किस तरह धारण कर रहे हैं, यह पहचानना कठिन है। इसलिए शून्यता की भावना करने वाले लोग पहले उसे पकड़ने की कोशिश करते हैं। जब आप बहुत उल्लसित हैं, कोई काम सफलतापूर्वक पूरा करते हैं तब 'मैंने यह काम किया' सोच कर हर्षित होते हैं या जब आप दुःखी होते हैं, आपको क्रोध आता है। तब यह प्रश्न पूछना होता है कि 'मैं' कहाँ है? मेरा सिर, मेरी छाती, मेरे अंग, यह शरीर आदि सब तो 'मेरे' है, पर यह 'मैं' नहीं। इसी तरह 'मेरा' सोच, 'मेरा' मन आदि को ढूँढ़ते हुए जायेंगे तो 'मैं' कहीं मिलता नहीं है। जब वह ढूँढ़ने से मिलता नहीं है तो वह नहीं है, उसके इस 'नहीं होने' को देखना ही शून्यता है। वह पुदगल निरात्मा या पुदगल शून्यता है। उसी तरह आप घट-पट को देखेंगे, तो वहाँ भी स्वाधीनता नहीं है। फिर है कैसा? है ऐसा कि शरीर, मन और भावनाएँ मिलकर एक समूह जुटाते हैं और उस पर एक नाम 'देवदत्त' या 'सोमदत्त' रखा जाता है और पर इनका 'मैं' खोजने पर मिलता नहीं है। खोजने पर वह मिलता नहीं लेकिन वह जो काम कर रहा है, वह क्या है? वह प्रतीत्य समुत्पन्न है। आपका मन, नाम, शरीर आदि एक-दूसरे से जुड़े हैं, एक-दूसरे पर आधारित हैं और इन सबको हटाकर जिस स्थूल स्व को हम ढूँढ़ रहे थे, वह नहीं मिलता। वह नहीं मिलता और उसका निषेध होना ही शून्य है। जो ठोस, स्वाधीन, स्वलक्षण चीज़ ढूँढ़ी जा रही थी, उसका निषेध हो जाता है, वह मिलती नहीं। वही शून्य है। अगर कोई चीज़ खोज में नहीं मिलती तो क्या वह नहीं है? ऐसा नहीं कह सकते। वह है। पर वह कैसी है? परस्पर आश्रित होकर एक ढाँचा बनता है, उसी से वह प्रतीत्य समुत्पन्न होता है। वह होता नहीं है, उसकी प्रतीति होती है। वह प्रतीति ही सारे काम करती है। वही जन्म लेती है, मरती है। कर्म संचय करती है, कर्म फल माँगती है। वह सब उसी प्रतीति में ही है।

उदयन- और वह संयोग से है?

रिनपोछे जी- संयोग से है।

उदयन- यह जान लेना कि...

रिनपोछे जी- यह घट-पट और 'मैं' किसी की अपेक्षा न करते हुए, निरपेक्ष रूप से, अपने आप में नहीं है, ये ही शून्यता है और 'निरपेक्ष स्व' की धारणा ही 'स्व' और 'पर' का भेद बनाती है। उसी भेद से राग-द्वेष और इसी तरह के अन्य क्लेश उत्पन्न होते हैं। यह समझ में आने पर कि 'स्व' और 'पर' परस्पर आश्रित है- क्लेशों का उत्पन्न होना कम हो जाता है और इसी के अभ्यास से सारे क्लेश समाप्त हो जाते हैं। वही शून्यता की भावना है, निरात्मा की भावना भी वही है।

उदयन- इससे यह निकलता लग रहा है कि विभिन्न अवयव साथ आकर ही कर्म करते हैं।

रिनपोछे जी- वह जो भी कर्म करेगा, उसका फल भी होगा, उससे कोई बच नहीं सकता। कर्म संचय का फल तो भोगना होगा।

उदयन- पिछले जन्म के कर्मों के फल का भी?

रिनपोछे जी– पिछले जन्म के फल का भी, इस जन्म का भी या उस कर्म संचय को समाप्त करने दूसरे कर्म करने होंगे जिन्हें साधनाएँ कहते हैं। जैसे आपने जीव हत्या की तो पाप संचय हुआ, उसकी छाप या बीज आपके मन में पड़ गया है। आप या तो उसका फल दुःख या वेदना के रूप में भोगकर समाप्त करेंगे या कोई अच्छा कर्म-संचय करके उस बुरे कर्म को समाप्त करेंगे। यह सोचना ग़लत है कि कर्म-फल-बीज इन दो रास्तों के बिना चला जायेगा। अगर बीज है तो या तो उसे जला दीजिए या उसे सालोंसाल रखे रहिए पर जब भी बोएँगे, उसका फल निकल आयेगा।

उदयन– इस चक्र से बाहर जाने का मार्ग बुद्धत्व की प्राप्ति में ही है?

रिनपोछे जी– वही है। सारे राग-द्वेष आदि सारे नकारात्मक भाव या सारे क्लेश आत्म-धारणा से उत्पन्न होते हैं। जब स्वाधीन, स्वलाक्षणिक, स्वतन्त्र 'मैं हूँ' की धारणा की समाप्ति हो जाती है क्योंकि वह निरात्मा को देख लेता है और तब 'स्व' और 'पर' का भेद समाप्त हो जाता है। जब ऐसा हो जाता है, न आप मेरे लिए 'पर' बचते हैं, न मैं आपके लिए 'पर'। न मैं 'मैं' बचता हूँ और न आप 'आप' बचते हैं। आप मेरे सन्दर्भ में उसी तरह हैं जैसे पूर्व और पश्चिम होता है : अपने स्वरूप में न पूर्व होता है, न पश्चिम। जहाँ आप बैठे हैं, अगर वहाँ सूर्य उगता है तो आप कहते हैं कि वह पूर्व है। अगर आप जगह बदल लेंगे, आपके पीछे की जगह सामने हो जायेगी, 'पूर्व'। और आपके साथ पश्चिम हो जायेगा। इसलिए जब तक स्वलाक्षणिक, स्वाधीन स्वरूप में किसी चीज़ के स्थित होने की धारणा है और जब तक वह होगी, उसके परिपेक्ष्य में बाकी चीज़ें 'पर' हो जायेंगी। इसलिए ऐसी स्थिति में क्लेश, स्पर्धा आदि बने रहेंगे। जब यह आत्मधारणा टूट जाती है, समता आ जाती है। समता आने पर राग-द्वेष के कारण कम हो जाते हैं। और होते-होते वे समाप्त हो जाते हैं। इसी तरह करुणा और शून्यता की भावना करते-करते क्लेशों को नष्ट करके बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।

उदयन– जब बुद्धत्व को प्राप्त व्यक्ति मृत्यु के क्षण में आता है...

रिनपोछे जी– जब बुद्धत्व प्राप्त होता है, वहाँ मृत्यु नहीं होती। चूँकि वहाँ मृत्यु के सारे कारण समाप्त हो गये होते हैं। वहाँ शरीर कर्म-क्लेश से विपाक रूप में नहीं है। बुद्ध का शरीर, चित्त और अन्य सब कुछ एक ही हैं। वह परभास्वर हैं, भासमान है। बुद्ध का हाथ भी ज्ञान है। वह हाथ मात्र नहीं है। वह एक-एक चीज़ को जानता है, मनस्वरूप है। उनका शरीर मन और वचन तीनों अभेद हैं। वहाँ मृत्यु और जन्म नहीं होते। अगर वो कहीं जन्म भी लेते हैं, उसे निर्मल काया कहते हैं। वे कर्म क्लेश के माध्यम से जन्म नहीं लेते, वे किसी कार्य-विशेष के लिए, किसी उद्देश्य के लिए मनुष्य या किसी और रूप में जन्म लेते हैं। वे स्वेच्छा से जन्म लेते हैं।

उदयन– 'बुद्धत्व को प्राप्त' के लिए पुदगल शब्द नहीं है?

रिनपोछे जी– 'पुदगल' का शब्द बुद्ध पर लागू नहीं होगा। वे व्यक्ति तो हैं पर पुदगल का अर्थ कुछ और है। पुदगल पूर्ण होता है, फिर क्षय होता है। 'पुद' याने 'पूर्ण' होना, 'गल' याने गल

जाना। हम लोग जन्म लेते हैं तो पहले सारा शरीर पूर्ण होता है, फिर बड़े होते हैं, फिर वृद्ध होते हैं और फिर शरीर गल जाता है, इसलिए इसे पुदगल कहते हैं। यह बुद्ध पर लागू नहीं होगा। बुद्ध हमेशा रहते हैं। वे कभी गलते नहीं है।

उदयन- आपने ही मुझसे कहा था कि जब शाक्य मुनि (गौतम) को बोध प्राप्त हुआ, उन्होंने कहा कि यह अनुभव कैसे बताया जाये, तो ब्रह्मा ने कहा कि आप इसे उपमान से बताएँ। फिर उन्होंने बताने के तीन ढंग बताये थे। क्या बुद्ध का अपने बोध को न बता पाया भी शून्य का ही लक्षण है?

रिनपोछे जी- न बता पाना, बुद्ध के स्वभाव में नहीं है। पर जगत के कल्याण के लिए ऐसा प्रतीत होता है कि बिना किसी प्रार्थना के बुद्ध अपने ज्ञान को लोगों पर थोपना नहीं चाहते। उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा है कि बिना किसी के आग्रह के आप धर्मोपदेश नहीं करिए। बौद्ध धर्म मिशनरी धर्म नहीं है। अगर कोई आदमी अपनी इच्छा से जानना चाहे तभी बताया जाता है। अगर उसकी इच्छा नहीं है तो हम नहीं बता सकते। इसलिए बुद्धत्व प्राप्त होने के बाद भी, जब तक ब्रह्मा और इन्द्र आकर उनसे प्रार्थना नहीं की, उन्होंने धर्मोपदेश नहीं किया। यह नहीं कि बुद्ध नहीं जानते कि उपदेश कैसे देने चाहिए। ब्रह्मा के साथ अपने वार्तालाप में वे इसे जगतिक व्यवहार कहते हैं। ऐसा नहीं है कि बुद्ध नहीं जानते थे और ब्रह्मा ने जानकारी दी। इस प्रसंग का सत्य जगतिक व्यवहार में देखना चाहिए। यहाँ वैभाषिक और स्वातन्त्रिक मतों की मान्यताएँ अलग हैं। वैभाषिक मानते हैं कि सिद्धार्थ बुद्ध नहीं थे। सिद्धार्थ एक बोधिसत्त्व थे और सिद्धार्थ का शरीर कर्म-क्लेश के विपाक रूप में है। इसलिए बुद्ध का शरीर भी पुराने कर्मों का अवशेष है, इसलिए उनके शरीर का क्षरण हुआ और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसके बाद बुद्ध अवशेष निर्वाण में चले गये इसलिए उनका कोई रूप नहीं है, रेखा नहीं है, उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। विज्ञानवादी और माध्यमिक कहते हैं कि सिद्धार्थ बुद्ध थे और बोधिसत्त्व होने की उन्होंने लीला की। लोगों को यह दर्शाने कि वे पैदा हुए, बढ़े, तपस्या की, बुद्धत्व प्राप्त किया आदि द्वादश बुद्ध कार्य किये। इसका अर्थ यह है कि बुद्ध का शरीर भी विपाक नहीं था। लेकिन महापरिनिर्वाण होना भी लीला थी। जगत व्यवहार भी लीला ही थी क्योंकि बुद्ध को मृत्यु प्राप्त नहीं होती। ये दो भेद है। लेकिन साधारण इतिहास की दृष्टि से वैभाषिक और स्वातान्त्रिकों की बात ज़्यादा ठीक लगती है।

उदयन- विज्ञानवादियों और माध्यमिक मतों पर देश की अन्य परम्पराओं की छाया बहुत है। वहाँ लीला के विचार के कारण बुद्ध कृष्ण के समानान्तर नज़र आने लगते हैं। शून्य पर विमर्श में उपमान हो सकता है, लक्षणा हो सकती है, निषेध हो सकता है। क्या इनके अलावा शून्य को इंगित का कोई रास्ता दिखायी देता है?

रिनपोछे जी- और नहीं दिखायी देता। वो आपको केवल यह बताएँगे कि आप अपने को खोजिए। वे आपको खोजने की तार्किक व्यवस्था बता देंगे लेकिन खोजना स्वयं ही पड़ेगा। बुद्ध खोजकर आपको नहीं दिखा सकते।

उदयन– यहाँ आप जिसे धर्म कह रहे हैं- विशेषकर धर्मचक्र कहते हुए, वह क्या है? धर्म के दो मायने हो सकते हैं, एक तो मज़हब या रिलीजन की तरह का और दूसरा, जैसा कि वासुदेव शरण अग्रवाल ने किया है, 'ऋत' है जो ब्रह्माण्ड का नियम है और उससे मनुष्य के सूक्ष्म चित्त से उत्पन्न स्वभाव का सम्बन्ध है।

रिनपोछे जी– धर्म बुद्ध का गढ़ा हुआ नया शब्द नहीं है। धर्म शब्द बुद्ध के पहले से ही संस्कृत में प्रचलित था। बौद्धों के दर्शन ग्रन्थों में धर्म का आशय वसुबन्ध की व्याख्यान युक्ति (बौद्ध वचनों की व्याख्या-मर्यादा का शास्त्र) में पर्यायवाची शब्दों और शब्दों के अनेक अर्थों के व्याकरण के सहारे बताया गया है, उसमें धर्म शब्द के दस अलग अर्थ बताये गये हैं। उनमें घट-पट आदि समस्त वस्तुओं के स्वभाव धारण को भी धर्म कहा गया है। रिलीजन या मज़हब के अर्थ में जब आप बौद्ध धर्म कहेंगे, उसमें दो ही अर्थ माने गये हैं : अधिगम और आगम।

अधिगम उसे कहते हैं जहाँ आपने कुछ साक्षात् कर लिया है, ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उससे क्लेशों का प्रहनन किया है, जैसे शून्यता का साक्षात् किया तो आत्मधारणा की समाप्ति हुई, इन दोनों के अंशों को, यानि ज्ञान के और निषेध के अंशों को अधिगम धर्म कहते हैं। इन दोनों को प्राप्त करने के लिए मार्ग हैं, साधनाएँ हैं। जैसे अनुमान ज्ञान के रास्ते पहले शून्यता को जानते हैं फिर उसका साक्षात् होता है। इन सब मार्गों को मार्गधर्म कहते हैं। मार्ग बुद्धत्व या अरिहन्तत्व को प्राप्त करने की प्रक्रिया को कहते हैं और फल इस मार्ग से प्रहननीय तत्व का प्रहनन करने और प्राप्य तत्व का साक्षात् करने को कहते हैं। ये दोनों अधिगम धर्म के कहलाते हैं। इस विषय को बताने वाले वांग्मय को आगम या बुद्ध वचन कहते हैं।

उदयन– मार्ग को कुछ और स्पष्ट करें? क्या यह मनुष्य के अपने स्वभाव से निर्धारित होते हैं?

रिनपोछे जी– किसी धर्म में प्रविष्ट होकर, जैसे यहाँ बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होकर, जब आप कोई फल प्राप्ति के लिए प्रयासरत होते हैं, उसे मार्ग प्रवेश कहा जाता है। उसमें पाँच सोपान हैः संभार मार्ग, प्रयोग मार्ग, दर्शन मार्ग, भावना मार्ग और अन्त में अशैक्षा मार्ग जिसमें पुदगल का अन्त हो जाता है। ये सब साधना के अंश हैं। साधना के मार्ग और उसका फल अधिगम धर्म के रूप में हुए और उसे दर्शाने वाले वांग्मय आगम हुए। इन दो के अतिरिक्त बौद्ध धर्म में और कुछ नहीं है। धर्मचक्र प्रवर्तन का अर्थ यह है कि बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया, और उस प्राप्त ज्ञान को शब्दों के माध्यम से अपने शिष्यों को सुनाया, इससे शिष्यों के मन में श्रुतिमय ज्ञान उत्पन्न हुआ। भगवान् बुद्ध ने जब 'यह दुःख है' कहा तो 'यह दुःख है' इस शब्द का श्रवण हुआ और उसके माध्यम से बोध हुआ। आगम का चक्र इधर से उधर हुआ। इसे ही प्रवर्तन् कहते हैं। कौंडेन के मन में दर्शन मार्ग उत्पन्न हुआ जिसने क्लेशों को शान्त किया और उसे मन में फल प्राप्त हुआ। इस तरह अधिगम धर्म का चक्र हुआ। जिस तरह एक दीप से दूसरा दीप जलाया जाता है तो दीपमाला का प्रवर्तन होता है, वैसे ही बुद्ध से कौंडेन

के पास गया, उनसे उनके शिष्य के पास, उनसे उनके शिष्य के पास गया। इस श्रृंखला को ही धर्म चक्र प्रवर्तन कहते हैं।

उदयन– मैंने धर्म का प्रश्न एक खास उद्देश्य से उठाया है। सामी परम्पराएँ, जो आधुनिक समय में भी बहुत सारे लोगों के भीतर उपस्थित हैं, में धर्म का स्वरूप यह है कि वह दूसरे के प्रति आपके दायित्व बोध से उत्पन्न होता है जिसके कारण व्यक्ति विशेष के स्वभाव की लगभग अवहेलना हो जाती है। वहाँ की श्रेष्ठ चिन्तक सिमोन वेल भी यही कहती हैं कि जन्म के क्षण से ही हमारा दूसरे के प्रति दायित्व हो जाता है। लेकिन आप जो कह रहे हैं उसमें दूसरे के प्रति हमारा दायित्व बोध आत्मधारणा के प्रहनन से स्वयं ही उत्पन्न हो जाएगा। इन दोनों दृष्टियों में यह मूल अन्तर दिखायी देता है।

रिनपोछे जी– बौद्ध धर्म का भी अन्तिम लक्ष्य परहित है, दूसरों की सेवा करना है। बुद्धत्व प्राप्त करने की इच्छा मात्र 'बुद्ध चित्त' नहीं कहलाती। परहित करने की इच्छा से बुद्धत्व को साधन के रूप में प्राप्त करना 'बुद्ध चित्त' कहा गया है। इसलिए अन्तिम लक्ष्य है, 'स्व' को विघटित कर काया, वाक् और चित्त के सारे कार्य परहित में ही समर्पित करना। यह तभी सम्भव है जब 'बुद्धत्व' प्राप्त हो। जब तक वह प्राप्त नहीं होगा, समस्त जगत के हित करने की क्षमता नहीं होगी। अन्य लोगों की चित्तवृत्तियों को जाने बगैर उनके हित-अहित को जाना नहीं जा सकता। परहित-अहित ज्ञान पूर्व रूपेण न होने पर परहित का काम नहीं किया जा सकता। स्व-ज्ञान प्राप्त करना, अपने को बहुत बड़ा ज्ञानी बनाने के लिए नहीं है, उसका उद्देश्य लोगों की सेवा करना, परहित है। बुद्धत्व प्राप्त होने के बाद परहित कार्य के लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने आप संचालित होता है। जैसे आकाश में उगे चन्द्रमा में यह इच्छा नहीं होती कि जहाँ-जहाँ पानी का कुण्ड हो, वहाँ-वहाँ उसकी छाया पड़े। बुद्धत्व प्राप्त होने के बाद जहाँ-जहाँ परहित की पात्रता होती है, वहाँ-वहाँ बुद्ध के कार्य सम्पन्न हो जाते हैं।

उदयन– आपके कहने से यह लग रहा है कि दोनों ही परम्पराओं में परहित का स्थान केन्द्रीय है लेकिन उसके स्रोत अलग-अलग हैं?

रिनपोछे जी– बौद्ध धर्म में परहित के लिए स्वयं को पुनर्गठित नहीं करना है, स्वयं को समाप्त करना है। जब स्व की धारणा समाप्त हो जाएगी, ज्ञान उत्पन्न होगा। ज्ञान से परहित अपने आप होगा।

उदयन– उस ज्ञान में ही परहित के सारे स्रोत हैं।

रिनपोछे जी– उसके बाद प्रयासरत होने की आवश्यकता नहीं है। परहित अनायास होता है। उसको प्राप्त करने का प्रयत्न धर्म हैं, उसको प्राप्त करने का मार्ग भी धर्म है। इस दृष्टि से मार्ग भी परहित है और उसका फल भी वही है। मार्ग और फल स्वार्थ के लिए नहीं हैं।

उदयन– इस तरह सोचने पर अपने शरीर का विनाश करना जैसा कि आत्महत्या में होता

है, अपने आप ही निषिद्ध हो जाता है।

रिनपोछे जी– जी हाँ। वह स्वहिंसा जैसा है। पर-अहित सीधे-सीधे या अपरोध रूप से पर-अहित ही होता है और वह पाप की श्रेणी में गिना जाता है। हिंसा की श्रेणी में गिना जाता है। परहित तभी सम्भव होगा, जब पर-अहित या हिंसा का स्रोत समाप्त हो जाता है।

उदयन– ...और वह आत्मधारणा है...

रिनपोछे जी– अंग्रेज़ी में जिसको ईगो कहते हैं, वही अहम् है। अहं का उद्घोष अहंकार है।

उदयन– जब हम धर्म को या नैतिकता को इस तरह देखते हैं तो हमें तमाम क्रान्तियों की विफलता का स्रोत समझ आ सकता है। फ्राँसीसी क्रान्ति से लगाकर आज तक जो तरह-तरह की क्रान्तियाँ हुईं, उनमें स्व या आत्म का, कम से कम उनके नेताओं में, त्याग नहीं हुआ। उससे हुआ यह कि उन नेताओं को पूरे समय यह लगता रहा कि वे देश या समाज के लिए बलिदान कर रहे हैं। आप बौद्ध धर्म की जिस तरह व्याख्या कर रहे हैं, उसमें बलिदान की भावना का कोई स्थान नहीं है। इस सन्दर्भ में आप आधुनिक क्रान्तियों को कहाँ रखेंगे? विशेषकर पिछले दो-तीन सौ बरस की क्रान्तियों को?

रिनपोछे जी– ये बहुत लम्बे विषय हैं। दलाईलामा जी ने फ्राँसीसी युवाओं से साक्षात् होते हुए कहा था कि अभी तक जितनी क्रान्तियाँ हुई हैं, वे सब या तो क्रोध या असहमति या द्वेष की प्रेरणा से हुई हैं। अब एक नयी क्रान्ति की आवश्यकता है जो करुणा और मैत्री की भावना से हो।

यह बहुत महत्वपूर्ण वक्तव्य है कि क्रान्ति भी हो पर उसमें द्वेष और प्रतिक्रिया की भावना न हो। यह कठिन कार्य है। अगर क्रान्तियों के अब तक के इतिहास को देखें, तो अधिकांश स्वार्थ की प्रेरणा से हुई मालूम पड़ती हैं। साईन्स और प्रौद्योगिकी के विकास के साथ हुए आधुनिकीकरण या प्रौद्योगिकीकरण में अपने स्वार्थ के लिए अपनी पूँजी के माध्यम से अत्याधिक लाभ उठाने की सोच उत्पन्न हुई जिससे कार्यकत्ताओं और किसानों का भी शोषण होता रहा। इसकी प्रतिक्रिया में क्रोधित होकर साम्यवाद की क्रान्ति हुई। वह प्रतिक्रिया मात्र थी। लेकिन क्रान्ति सम्पन्न होने पर केवल मालिकाना हक भर एक के पास से दूसरे के पास गया पर उसका पहले का व्यापक उद्देश्य नहीं रहा। हम यह नहीं कह रहे कि वे सब क्रान्तियाँ व्यर्थ थीं या उनके फलस्वरूप कोई काम नहीं हुआ, वह बहुत हुआ लेकिन उसकी प्रेरणा मैत्री और करुणा नहीं थी इसलिए अन्ततोगत्त्वा वे वहीं पहुँच गयीं जहाँ लोग पहले जा रहे थे। वे इसलिए विफल रहीं।

\+ + +

उदयन– आपने हमारी बातचीत की शुरुआत में पाँच विद्याओं का ज़िक्र किया था। ललित विस्तर में इससे कहीं अधिक विद्याएँ हैं। क्या ललित विस्तर में उल्लिखित विद्याओं के अध्ययन के कोई

संस्थान तिब्बत में विकसित हुए थे?

रिनपोछे जी- यह कहना होगा कि विद्याएँ हितु विद्या (जिसे न्याय शास्त्र भी कहते हैं, तर्क भी कहते हैं) और आध्यात्म विद्या होती हैं। जहाँ हितु विद्या का अध्ययन होता है, वहाँ आध्यात्म विद्या का भी अध्ययन हो, ऐसा ज़रूरी नहीं है। लेकिन जहाँ-जहाँ आध्यात्मिक विद्या का अध्ययन होता है, वहाँ-वहाँ अधिकांशतः हितु विद्या का अध्ययन अनिवार्य रूप से होता है। इसका तर्क यह है कि जब तक आप हितु विद्या ठीक से नहीं जानेंगे, आपका मन विश्लेषण करने में सक्षम नहीं होगा, विवेक करने में सक्षम नहीं होगा और आप आध्यात्मिक विषय को ठीक से समझ नहीं पायेंगे। इसलिए हितु विद्या का आध्यात्मिक विद्या के सहायक के रूप में अध्ययन करना चाहिए। इस कारण ये दोनों विद्याएँ अधिकांशतः विहारों में हैं। जहाँ भी अध्ययन की परम्परा होती है, वहाँ ये विद्याएँ पढ़ायी जाती हैं। शिल्प विद्या उतनी लोकप्रिय नहीं है। शिल्प विद्या में केवल भगवान बुद्ध, अरहन्तों और देवताओं के शिल्पों और चित्रों को चित्र लक्षण शास्त्र या बौद्ध ग्रन्थों के आधारों पर बनाने का अध्ययन किया जाता है। वहाँ लोककलाएँ बहुत विकसित नहीं हुईं। वे वहाँ नहीं हैं, ऐसा नहीं कह सकते, लेकिन वे विद्याओं की तरह नहीं पढ़ायी जातीं। जैसे कोई कुम्हार है तो वह अपना घड़ा बनाता रहेगा या कोई बुनकर है तो वह अपनी कलाओं को बनाता रहेगा। पर ये सारी कलाएँ पारिवारिक स्तर पर चलती रहती हैं। विशेषकर कालीन बुनने वाले बहुत प्रवीण लोग हैं। लेकिन उन्हें शास्त्र के आधार पर विद्या की तरह नहीं पढ़ाया जाता।

उदयन- चित्र और शिल्पों में बुद्ध, अरहन्तों आदि के सिवाय किसे बनाया जाता है?

रिनपोछे जी- देवताओं और तान्त्रिक देवों को बनाते हैं। थंका कला में सारा बुद्ध-चरित बनाया जाता है। उनके द्वादश कार्य या जातक कथाओं को भी अंकित किया जाता है। ये भित्ति चित्र भी होते हैं, पट चित्र भी।

चिकित्सा विद्या हर विहार में नहीं होती। उसके अलग विद्यालय होते हैं। इनमें ज़्यादातर गृहस्थ लोग सीखते हैं। चिकित्सा और ज्योतिष विद्या साथ सिखाये जाते हैं। इस पाँचों विद्याओं के विशेष रूप से बनाये विद्यालय तो नहीं है लेकिन यह जानना चाहिए कि चिकित्सा विद्या और ज्योतिष विद्या साथ-साथ सिखायी जाती हैं, न्याय और आध्यात्म विद्या और चित्रकला ज़्यादातर चित्र लक्षण बताने के लिए पढ़ायी जाती है पर इसके अलावा ज़्यादातर लोग इस कला को घरेलू परम्परा से ही सीखते हैं। अब यहाँ आकर विद्यालय बने हैं। लेकिन पुराने ज़माने में ऐसा था नहीं।

अमरीकी कला आलोचक थंका चित्रों को कला नहीं मानते। वे कहते हैं कि यह क्राफ़्ट है। ये कहने के पीछे उनका तर्क यह है कि थंका चित्रों में उसे बनाने वाले कलाकार का कोई योगदान नहीं है। वे पहले से उपलब्ध परिमाण को खींच लेते हैं, उन्हें सिर्फ़ रंग भरना भर होता है।

उदयन- आपने यह पहले भी कहा है और तब यह कहा था कि कुछ विद्वानों ने इस तर्क

का प्रत्याख्यान भी किया है। उन्होंने क्या तर्क दिये थे?

रिनपोछे जी– उन्होंने कहा कि शास्त्रीय परिमाण के उपयोग से भगवान् बुद्ध को बत्तीस महापुरुष लक्षण और अस्सी महापुरुष व्यंजन के ठीक उपयोग से चित्रित करना है लेकिन इससे चित्र में कितनी सुन्दरता आयेगी, कितनी जीवन्तता आयेगी कलाकार के हाथों में है। परिमाण कलाकार को निरंकुश होने से रोकने के लिए हैं। यह कहना ठीक भी है। सभी कलाकार विशेष परिमाण से ही बुद्ध का चित्र बनाते हैं, कोई बहुत अधिक सुन्दर होते हैं, कोई सुन्दर नहीं होते, कोई कुरूप हो जाता है। यहाँ सब तो कलाकार के हाथ में है।

उदयन– थंका की यह परम्परा किस हाल में है, तिब्बत में भी और भारत में भी?

रिनपोछे जी– तिब्बत में सांस्कृतिक क्रान्ति के ज़माने में सब समाप्त कर दिया गया था। लेकिन सत्तर के दशक से कुछ छूट मिली है। इस कारण बड़े-बड़े विहारों और संस्थाओं का कुछ पुनरुद्धार हुआ है। इसलिए तिब्बत में भी अभी यह कला थोड़ी बहुत चल रही है। भारत में हर परम्परा का कोई न कोई स्रोत पुनः स्थापित हुआ है। इसलिए बहुत अधिक न होने पर भी यह परम्परा लुप्त नहीं हो पायेगी, ऐसा लगता है।

उदयन– चीन के सांस्कृतिक आन्दोलन में तिब्बत में ठीक-ठीक हुआ क्या था? हमें यह पता है कि उसमें बहुत विनाश हुआ था।

रिनपोछे जी– उसमें सारी सांस्कृतिक मूल्य की इमारतों, चित्रों, कलाकृतियों को नष्ट किया गया। बौद्ध विहारों को जला दिया गया। बहुत-सी मूर्तियों को तोड़ डाला गया। साहित्य को नष्ट किया गया। इसके तहत पुस्तकालयों को जलाया गया। इसके अतिरिक्त ग्रन्थों की छपायी के लिये प्रयुक्त हज़ारों लकड़ी के पटों को जला दिया गया। संस्कृति की जानकारी से सम्पन्न लोगों को या तो जेल भिजवा दिया गया या मार दिया गया। स्थानों का नाम बदल दिया गया। पुरानी बौद्ध संस्कृति के नामों को बदल कर नये चीनी नाम रखे गये।

उदयन– यानि तिब्बत की सामूहिक स्मृति को नष्ट करने का प्रयास किया गया।

रिनपोछे जी– हाँ, उन्होंने स्मृति को नष्ट करने की चेष्टा की पर कर नहीं पाये। उस दौरान जिस सामग्री की हानि हुई, उसका कुछ नहीं किया जा सकता, जैसे लकड़ी पटों से छापने वाला छापाखाना जला दिया गया, उसे दोबारा बनाना मुश्किल है। लेकिन आजकल कम्प्यूटर से छपायी हो रही है, पर वह दूसरी बात है। जो साहित्य पूरी तरह नष्ट हो गया है, उसकी भी पूर्ति नहीं हो सकती। इस सब छोड़कर बाकी सब जैसे गिरा हुआ भवन, फिर बन जायेगा। अध्ययन केन्द्र भले ही पुराने जैसे न बनें, पर उससे कमतर केन्द्र लोग बना रहे हैं। इसलिए काफ़ी पुनरुद्धार हो गया है।

उदयन– भारत में सभ्यता का ऐक्य या आपसी जुड़ाव सबसे ज़्यादा जिन चीज़ों से व्यक्त होता

है, वह यहाँ की लोककलाएँ हैं। यह चीन से भारत का मूलभूत अन्तर है। हमारे मित्र और समाजविज्ञानी सुरेश शर्मा का कहना था कि चीन में लोककलाएँ नहीं के बराबर हैं। जैसे लोक नृत्य या लोककथाएँ चीन में थोड़ी बहुत ही थीं, जो थीं वे अब समाप्त हो चुकी हैं। यूरोप में भी लोककलाओं का लगभग लोप हो चुका है। वे लोग लोककलाएँ खत्म करते जाते हैं और साथ-साथ संग्रहालय निर्मित करते जाते हैं। भारत इस मामले में विलक्षण देश है कि यहाँ देश में सम्बद्धता का जाल, लोककलाओं का बनाया हुआ है। लोककलाएँ भले ही अलग-अलग स्थानों पर रही आयी हों, पर उनके सहारे जिसे हम सभ्यता बोध कहते हैं, प्रकट होता है। वह हर लोककला में उपस्थित होता है। इसी तरह तिब्बत की परम्पराओं और सभ्यता का ऐक्य किन चीज़ों में व्यक्त होता था? भारत में यह लोककलाओं के अलावा यह ऐक्य दार्शनिक परम्पराओं, मार्गी कलाओं, साहित्य, भाषाओं की निरन्तरता आदि में व्यक्त होता था। ये सब भारतीय सभ्यता के ऐक्य को व्यक्त करती हैं। सभ्यता का यह ऐक्य भारत की सरहदों से बाहर भी जाता है। मसलन अगर पाकिस्तानी लेखक सेंसरशिप और मार्क्सवाद से बच जाता है तो यह सभ्यता बोध उसमें दिख सकता है। वैसा ही सभ्यता बल्कि संस्कृति के ऐक्य का तिब्बत में प्रकटन कैसे होता रहा है?

रिनपोछे जी- तिब्बती सभ्यता भारत से अलग नहीं है। आपने जैसा भारत के लिए बताया, वह तिब्बत में भी है। वहाँ चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति के समय जो कुछ नष्ट किया गया है, उसको देखेंगे तो पायेंगे कि उसमें एक भी ऐसी लोककला या उसकी सम्प्रेषण विधि नहीं है जिसका स्रोत भारत में न खोजा जा सकता हो। चाहे वे धार्मिक कार्यकलाप हों या लोककला हों। लेकिन उनमें काल और स्थानान्तर से कुछ परिवर्तन अवश्य हुए। गायन, वादन और नृत्य की जो परम्परा आठवीं से सत्रहवीं शती तक भारत से तिब्बत गयी थी, वे आज तक अक्षुण्ण जैसी थीं और उसी को चीन ने नष्ट करने का प्रयास किया। सांस्कृतिक क्रान्ति में नष्ट हुई परम्पराओं के पुनरुद्धार के कार्य में रुकावट का कारण पश्चिम के प्रभाव का आना है। वह तिब्बत में और उसके बाहर भी हुआ है। उसके कारण उनमें कोई न कोई नयी चीज़ जुड़ जाती है और इसलिए इन परम्पराओं का मूल प्राचीन तत्व धीरे-धीरे लुप्त होने लगता है। जैसे भारत में अंग्रेज़ी के शब्दों के उपयोग के बिना यहाँ की स्थानीय भाषाएँ भी नहीं बोली जा पाती, उसी तरह तिब्बत में भी बहुत-से चीनी भाषा के शब्दों के बिना शुद्ध तिब्बती भाषा बोलने वाला अब लगभग कोई बाकी नहीं है। वे सामान, उपकरण या मशीन जो पहले तिब्बत नहीं थे, बाद में आये हैं, उन सब के नाम तिब्बती में नहीं हैं। वे केवल चीनी भाषा में ही हैं और इसलिए तिब्बत में उन नामों का प्रयोग हो रहा है। नाच-गाने में आधी तिब्बती आधी चीनी का प्रयोग रहा है, उसी तरह उनमें यहाँ आधा तिब्बती आधी पाश्चात्य भाषा या भारतीय भाषाओं का मिश्रण हो रहा है। ऐसा करने वालों का विश्वास है कि वे इस सबका विकास कर रहे हैं, परिष्कार कर रहे हैं इन्हें बेहतर कर रहे हैं। परम्परा वाले की दृष्टि में इस मिश्रण से परम्परा धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है।

उदयन- चीनी कब्जे से पहले सामान्य तिब्बती नागरिक के स्वयं को तिब्बती संस्कृति का भाग

अनुभव करने के कौन से व्यावहारिक उपस्कर थे? एक तो लोककलाएँ हो गयीं? दूसरा क्या धर्म था?

रिनपोछे जी– इसमें धर्म और कर्मकाण्ड हैं। स्थानीय कलात्मक वस्तुएँ भी हैं। स्थानीय गायन, नृत्य, वादन से भी यह भावना आती है। पर इनमें सबसे पहले तो धार्मिक अनुष्ठान ही आते हैं। विहारों में रोज़ प्रार्थना सभाएँ और कर्मकाण्ड होते हैं और फिर घर-घर में भिक्षुओं को बुलाकर बड़े घरवाले हर महीने दो-तीन दिन पूजा करवाते हैं। इसमें आठ-दस भिक्षुओं को बुलाया जाता है। कभी सूत्र पाठ होता, कभी प्रार्थना, कभी हवन होते।

उदयन– क्या इन कर्मकाण्डों आदि में आसपास के लोग भी शामिल होते हैं?

रिनपोछे जी– हाँ, हो जाते हैं और उनमें उस घर के रिश्तेदार भी आते हैं। लगभग हर महीने कोई न कोई तिथि पर त्यौहार होते हैं और उन्हें भी मनाया जाता है। जैसे श्रावण पूर्णिमा। इनमें सबसे बड़ा अवसर नववर्ष का होता है जो पाँच-दस दिनों तक मनाया जाता है। इस अवसर पर तिब्बती लोग एक-दूसरे की जगहों पर जाकर गाते हैं, नाचते हैं, बातचीत करते हैं। किसी बुजुर्ग की मृत्यु पर सात सप्ताह तक पूजा-पाठ चलता रहता है जिसमें किसी एक दिन गाँव या कुटुम्ब के सारे लोगों को बुलाकर खिलाता-पिलाया जाता है, साथ बैठकर प्रार्थना की जाती है। हर गाँव का एक सामुहिक मन्दिर होता है। उसमें साल में एक या दो बार बड़ी पूजा होती है। उसमें गाँव के सारे लोग इकट्ठा होते हैं। भिक्षुओं को पूजा के लिए आमन्त्रित किया जाता है। शाम के समय गृहस्थ लोग अपने कामों से निवृत्त होकर इन अवसरों पर मन्दिर आते हैं और मिल-जुलकर नाचते-गाते हैं। कभी-कभी यह सब आधी रात तक चलता है।

उदयन– क्या ऐसे अवसरों में वहाँ जाकर भिक्षु प्रवचन भी करते हैं या कर सकते हैं?

रिनपोछे जी– ऐसा कम होता है। कर तो सकते हैं, कुछ करते भी हैं। पर अधिकतर पाठ, प्रार्थनाएँ और अनुष्ठान ही करते हैं।

उदयन– फिर मठों में उपस्थित ज्ञान साधारण लोगों तक कैसे जाता है?

रिनपोछे जी– वह कठिन है। प्रारम्भ में जब बौद्ध धर्म तिब्बत पहुँचा था, उस समय भिक्षु और गृहस्थ एक जैसे ही धर्मोपदेश का श्रवण करते हैं लेकिन बाद में गृहस्थों की धर्म का गहन अध्ययन की प्रवृत्ति छूट गयी। इसके एक दो अपवाद होते हैं। इसलिए जन-साधारण में आस्था विकसित हुई पर धर्म का ज्ञान कम विकसित हो पाया।

उदयन– सांस्कृतिक क्रान्ति में जो भी हुआ विकास के नाम से ही हुआ था। आपकी विकास की क्या समझ है?

रिनपोछे जी– हम लोग की विकास की जो समझ है, उसे विकास मानने को कोई तैयार नहीं है। बौद्ध वांगमय के अनुसार विकास सबसे पहले ज्ञान का होना चाहिए। जब तक ज्ञान या प्रज्ञान का

विकास नहीं होता, आप कोई भी काम ठीक से नहीं कर पायेंगे। अगर ऐसा होता है तो ऐसे विकास से साक्षात् रूप से किसी की वृद्धि भले होती हो पर साथ में वहीं किसी चीज़ का नाश भी होता है। ऐसा विकास विकास नहीं है। जल को विभिन्न प्रकार से रोककर, संचय करके उससे बड़ा उत्पादन कर जल को दूषित करने से तो उसमें अगर उत्पादन का होता है और दूसरी ओर विनाश भी होता है। संसाधनों का विनाश करके जब किसी चीज़ की वृद्धि की जाती है तो वह विकास नहीं है। संसाधनों का सदुपयोग करके नयी चीज़ उत्पन्न होने के साथ-साथ संसाधनों की वृद्धि की प्रक्रिया भी न रूके। जैसे हम जब अनाज ज़मीन में बोते हैं तो उससे कई गुना फल उगता है तो वह विकास हो रहा है। उसी में से एक अंश दूसरे साल फिर बो दिया जाता है। उससे और उत्पादन होता है। इसकी जगह अगर हम सारा उत्पाद का भोग कर लें और हमारे पास अगले साल बोने को कुछ न बचे, तब क्या होगा? या आजकल जैसे टर्मिनेटर बीज़ आ गये हैं। यह सब विकास कम विनाश अधिक है। आज आप किसी चीज़ का दुरुपयोग करके कोई उत्पादन करने में मूल सामग्री के स्रोत को ही समाप्त करते जा रहे हैं। वह विनाश ही है। उसके साथ आपका अज्ञान भी बढ़ता है, अहंकार भी। इससे स्वार्थ भी अधिक पुष्ट होता है। इस तरह कार्य, कार्य का कर्त्ता और उसके परिणाम तीनों का ह्रास होता है।

उदयन- आप इससे बाहर निकलने का क्या रास्ता देखते हैं? क्या इसके लिए कोई संस्थाएँ खोली जायें या लोगों को तैयार किया जाये?

रिनपोछे जी- मैं कई बार लोगों से कहता हूँ कि मैं निराशावादी हूँ। इस दौर में अज्ञान को ज्ञान का मुकुट पहनाया जा रहा है और इसलिए अज्ञान को अज्ञान की तरह पहचाना नहीं जा रहा है। इसे साईन्स कहते हैं, प्रौद्योगिकी कहते हैं। इसके लिए लोग आई.आई.टी. से पढ़कर आते हैं। अगर आप उस सबको अज्ञान कहेंगे तो आप तुरन्त अल्पमत में आ जाएँगे और आपको मूर्ख समझा जायेगा। मूर्ख समझने तक तो ठीक है पर आपको पागल समझा जायेगा। इस परिस्थिति में हम अपने को सुधार सकते हैं, बाकी बहुत लोगों को सुधार पायेंगे, ऐसी तात्कालिक रूप से हमें उम्मीद नहीं है। कृष्णमूर्ति जी कहते थे कि अगर आप धारा के विरोध में न तैर सकें तो बाहर ही आ जाओ। यह हम इक्का-दुक्का लोग कर सकेंगे। लेकिन इसमें भी सरलता नहीं है।

अब ऐसा लगता है कि जब काफ़ी हद तक विनाश हो जायेगा तब मनुष्य को चेतना आयेगी। अभी साईन्स वाले कह रहे हैं कि अगर कुछ न किया गया तो पर्यावरण का ह्रास, पृथ्वी की गर्मी की वृद्धि से जलवायु परिवर्तन आदि चीज़ों से सभी जीव-जन्तु समाप्त होने की कगार पर हैं। प्रत्येक वर्ष न जाने कितने जीव-जन्तु समाप्त हो रहे हैं। इस विनाश को अब बहुत-से लोग स्पष्ट रूप से देख रहे हैं। बीस-पच्चीस वर्ष पहले पाश्चात्य चिन्तक कहते थे कि कुछ चुनौतियाँ, कुछ खतरे हैं लेकिन साईन्स और प्रौद्योगिकी इसका समाधान खोज लेगी। यह भी कहते थे कि जीव-जन्तुओं में परिस्थिति के साथ समन्वय की सामर्थ्य (एडोप्टेबिलिटी) बहुत है। इसलिए अगर पृथ्वी पर गर्मी बढ़ भी जायेगी तो हम उसमें रह लेंगे। इस समय ये दोनों ही प्रतिज्ञा नहीं है। अब साईन्स वाले समन्वय सामर्थ्य की

बात नहीं कर रहे और न यह कि हम समाधान खोज लेंगे। ये सारी प्रतिज्ञाएँ खण्डित हो चुकीं। पर जीवित रहने की अभिलाषा सबके हृदय में है। ऐसा सोचने वाला कोई नहीं है कि हम नष्ट हो गये तो हो जायें। कुछ उम्रदराज लोग सोचते हैं कि मेरा जीवन तो बीत जायेगा। मेरी उम्र के एक-दो आदमी अन्द्रेता में हैं। उनसे बात करते हैं तो वे कहते हैं, अरे यह छोड़िए, हमारे जीते जी कोई गड़बड़ होने वाली नहीं है। नयी पीढ़ी को जो भी होगा, वे देख लेंगे। इससे अधिक स्वार्थ और क्या हो सकता है।

विनाश के ख़तरे की जो घण्टी बज रही है, इससे हम चेत जाएँ तो चेत जाएँ। इसके अलावा भी हर वर्ष इतना अधिक प्राकृतिक विनाश हो रहा है, जहाँ पहले कुछ भी नहीं होता था। विभिन्न किस्म की बारिश, बाढ़, जंगलों में आग, भूचाल, सूखा। इतनी तरह के प्रकृति के संकेत आ रहे हैं, इससे नये लोग चेत जाएँ और कुछ करें। जैसा कि दो वर्ष पहले पेरिस अधिवेशन में सत्रह उद्देश्यों को तय किया था, कुछ लोग उसे करने तैयार हैं और कुछ युवक उसे बहुत गम्भीरता से आगे ले जाने के प्रयास में है। अगर ये लोग कुछ कर लें तो कर लें। यूरोप और अमरीका में प्राकृतिक आपदाओं से जो एक जगह से दूसरी जाने वाले शरणार्थियों की संख्या बढ़ रही है। वह भी बड़े खतरे की घण्टी है। उससे भी कुछ लोगों को चेतना आ रही है। हमारे पास अब तीन-चार बरस का समय है, उसमें लोग कुछ कर लें, वह भी यूरोप और अमरीका में होगा तो यहाँ भी हो जायेगा। वहाँ नहीं होगा तो यहाँ भी नहीं होगा। यहाँ अपने से जाग्रत होकर वह हो सकता है, ऐसा नहीं लगता। हम व्यक्तिगत रूप से यह कर सकते हैं कि हम यह बात लोगों तक पहुँचाते रहे। और हम अपने को इससे तटस्थ कर लें। 'धारा से बाहर निकलें।' धारा से बाहर निकलने पर ही हम कुछ कहने के अधिकारी होंगे। हम अपनी जीवन शैली को थोड़ा उससे अलग रखें और फिर लोगों को समझाएँ। उसका कोई परिणाम होगा, नहीं होगा, गीता की दृष्टि से, उसकी चिन्ता छोड़ देना चाहिए।

उदयन- तिब्बत में १९५०, बल्कि उसके कुछ बाद तक, खान-पान की परम्पराएँ क्या रही हैं? मैं कल्पना कर सकता हूँ कि वह अधिकांशतः प्रकृति-सम्मत रही होगी।

रिनपोछे जी- तिब्बत में सभी स्थानों पर खान-पान की परम्पराएँ एक नहीं, कई थीं। तिब्बत के हर क्षेत्र में वे अलग थीं। उनके भेद का आधार, ज़्यादातर उस स्थान में उगाया जाने वाला अनाज था। मेरा गाँव ज़रा नीचे स्थित था और वहाँ हम साल में तीन फ़सलें लेते थे। एक फसल में गेहूँ और जौ, दूसरी में मक्का और तीसरी में उड़द और इस तरह के कई अनाज उगाते थे। इसके अलावा मूली, गाजर, और एक मूली की जाति का पौधा जिसकी जड़ गोल और चपटी होती है। हम कोई फल का पेड़ उगाते नहीं थे, वे प्राकृतिक रूप से उगते थे। उनमें अखरोट, खुमानी, या सेब जो जंगली रूप में होता था। कई किस्म की सब्जियाँ भी उगाते थे; कई जाति के कादू आदि। हम यह सब खाते थे। इनमें सबसे अधिक जौ का प्रयोग होता था जिससे सत्तू बनाया जाता था और गेहूँ जिससे आटा बनाया जाता था। गेहूँ के आटे से मोटी रोटी या कई प्रकार के नूडल जिसे हम थूब्बा कहते हैं। दिन में एक बार जौ का सत्तू ज़रूर खाते थे। वे मुख्य खाद्य सामग्री थीं। चाहे अमीर हो चाहे ग़रीब सभी सत्तू

घोलकर खाते थे। सत्तू के साथ मिर्च या लसुन खा लिया करते थे। वह खाना बनाना बहुत सरल होता था। और दिन में एक बार रोटी या आटा की बनी कोई चीज़ खाते थे। हम चावल कम उगाते थे। बाद के वर्षों में चावल उगाना बढ़ गया है। कुछ स्थानों पर तब भी चावल उगाया और खाया जाता था वरना हम चावल खाते ही नहीं थे। सम्पूर्ण तिब्बत में आप कहीं भी जायें, सभी सत्तू खाते हैं। मैं कृषक लोगों की बात कर रहा हूँ। लेकिन वहाँ की बहुत बड़ी आबादी पशुपालन करती है। वे लोग जो ऊँचे स्थानों पर रहते हैं, उनके भागों में खेती नहीं होती। वे लोग मक्खन, दूध, दही अनेक प्रकार की चीज़ खाते थे। वे भी कहीं और से सत्तू मँगाकर रखते थे और थोड़ा-थोड़ा वह भी खाते थे। उन इलाकों में सब्जी तो लगभग होती ही नहीं थी। वे निचले इलाकों से मूली और उसकी अन्य किस्में ले जाते थे और उन्हें सुखा कर रखते थे। कृषक लोग भी पशु पालते थे। हर घर में चार-पाँच गायें तो होती ही थी। लेकिन उन इलाकों में अनाज ज़्यादा खाते थे। माँस अधिकांश लोग खाते थे। तिब्बत में शाकाहारी लोग पूरी जनसंख्या के दो-तीन प्रतिशत ही होंगे। ये लोग धार्मिक दृष्टि से माँस छोड़ देते थे वरना प्राकृतिक रूप से अधिकांश माँस खाने वाले लोग थे। मछली खाने वाले बहुत कम थे।

उदयन- उस ऊँचाई पर मछलियाँ बहुत होती ही न होगीं...

रिनपोछे जी- नदियों में मछलियाँ होती तो थीं पर उन्हें अपवित्र जैसा समझा जाता था। इसलिए मछली खाने वाले बहुत कम हैं। माँस खाने वाले सभी लोग मछली नहीं खाते।

उदयन- किन पशुओं का माँस खाया जाता था? क्या वहाँ माँस के लिए शिकार भी किया जाता था?

रिनपोछे जी- बकरी का पर उससे ज़्यादा भेड़ का माँस खाते थे। याक के बच्चों में मादा को रख लिया जाता था और नर याक कोई काम का नहीं होता है- इसलिए दो-तीन महीनों में उसे मार दिया जाता है। उसका माँस भी खाया जाता था। बकरी का माँस स्वादिष्ट नहीं माना जाता था, भेड़ का माँस अधिक खाया जाता था, उसे स्वादिष्ट माना जाता था। मादा याक का दूध पीते हैं और उसे मारते नहीं हैं। मादा याक और भैंसे के संयोग से एक संकर पशु उत्पन्न होता है (जिसका नाम हिन्दी में मुझे पता नहीं है), वह भी किसी काम का नहीं होता, उसका माँस भी खाया जाता है।

उदयन- वहाँ खाना कितने बार खाना खाया जाता है?

रिनपोछे जी- विहारों में अधिकांशतः भिक्षु लोग सुबह और दोपहर दो वक़्त खाना खाते हैं। गृहस्थ लोग तीन और चार बार खाने वाले हैं। तीन बार खाने वाले सुबह, दोपहर और शाम को खाते हैं। चार बार खाने वाले लोग सुबह जल्दी खा लेते थे, दोपहर को भी कुछ जल्दी खाते थे, फिर शाम तीन-चार बजे को नाश्ता कर लेते थे और फिर देर शाम छह-सात बजे खाना खाते थे। पशुपालक ज़्यादातर तीन बार खाते हैं क्योंकि उनके पास अनाज की कमी है। कृषक लोगों में चार बार खाने वाले अधिक हैं।

उदयन– आज के समय में दो बातें महत्वपूर्ण हो रही हैं। पहली यह कि अधिकतर सम्बन्ध विनिमयात्मक हो चले हैं, वे लेन-देन मात्र पर टिक गये हैं। उनका आधार करुणा नहीं बचा है। मानवीय सम्बन्धों का स्वरूप मुद्रा विनिमय जैसा होता जा रहा है। दूसरी बात है सर्वेलेन्स। आप आज किसी के भी बारे में, उसके चाल-चलन के विषय में पता कर सकते हैं। साथ ही चिकित्सा व्यवस्था विकराल होती जा रही है जिसमें बहुत-सी शोध करने ही नहीं दिये जाते। मनुष्यों का रहन-सहन तक बाहर से संचालित होता है। इस सारी स्थिति को आप कैसे देखते हैं? यह क्या हो गया है? मेरा आशय यह है कि आप इस स्थिति का बौद्ध दृष्टि से कैसे विश्लेषण करेंगे?

रिनपोछे जी– इस स्थिति का चित्रांकन करना सरल नहीं है। वह विकृति जो सहज रूप से आती है, वह हानिकारक नहीं होती। पर जब जानबूझकर प्रकृति को सहज ढंग से संस्कृति में जाने न देकर ज़बरदस्ती विकृति में ले जाया जाता है, तब उसे कहने का ठीक शब्द ढूँढ़ना पड़ेगा या गढ़ना पड़ेगा। ऐसे शब्दों का प्रचलित भाषा के शब्द-कोश में मिलना कठिन है। अगर आप कोई विष खा लें तो उसका प्रभाव तत्काल होगा, या तो आप उल्टी करेंगे, या दस्त होंगे या कुछ और होगा। पर आधुनिकता का विष इतना सूक्ष्म और अदृश्य है कि आप को सालों साल स्वस्थ रखे रहेगा, स्वस्थ होने का आभास देगा लेकिन जब वह आपके पूरे शरीर में फैल जायेगा तो उससे मुक्त होने का कोई उपाय बचेगा नहीं। फिर आपकी मृत्यु होकर रहेगी।

हितु प्रत्यय से आयी चीज़ों की सहज गति होती है, वह शुरू में प्राकृतिक रूप में रहती हैं, उससे जब कोई चीज़ विकसित होती है वह संस्कृति में प्रवेश कर जाता है। फिर सांस्कृतिक वस्तु में धीरे-धीरे शरीर के जैसे ही बुढ़ापा आता है। इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि इस समाप्ति से नया सृजन का प्रारम्भ होता है। मृत्यु अपरजन्म की पहली सीढ़ी है। मृत्यु से यह आशा बँधती है कि इसके बाद नया जन्म होगा और फिर विकास सम्भव होगा। इस तरह से संस्कृतियाँ चलती थीं। लेकिन आज तो हर चीज़ पर 'टर्मिनेटर' लगा दिया गया है। इससे मनुष्य के विवेक और उसकी विश्लेषण सामर्थ्य को ही मानो समाप्त कर दिया है। आज जो 'एजूकेशन' (जिसे शिक्षा तो नहीं कहेंगे) के नाम से चल रहा है, वह 'एजूकेशन' न होकर 'इन्डोक्ट्रिनेशन' (मतारोपण) हो गया है। आपके अपने सोचने के लिए बहुत थोड़ी-सी जगह छोड़ी गयी है, आपको उसमें से ही देखने होता है, आप इधर-उधर नहीं देख सकते। उसका परिणाम यह हुआ है : हम जीवनपर्यन्त बड़े-बड़े कार्पोरेशन के बाज़ार बन गये हैं। आज बाज़ार और व्यापार के अतिरिक्त कोई सार नहीं बचा है। इसलिए आप सारा जीवन कड़ा परिश्रम कर पैसा कमाईए और कमाये हुए पैसे को बाज़ार में खपा दीजिए जिससे कार्पोरेशनों के बाज़ार का ह्रास न हो। पुराने ज़माने में हिंसा, युद्ध, संघर्ष आदि राज पाने के लिए, शक्ति पाने के लिए, किसी को हटाने के उद्देश्य से प्रतिशोध लेने होते थे। आज वे सारे उद्देश्य समाप्त हो गये हैं। हमारे द्वारा उत्पादित हथियारों के बाज़ार में मन्दी नहीं आना चाहिए। उस बाज़ार को बनाये रखने के लिए हथियारों का उपभोग करते रहना पड़ेगा। इसलिए उस बाज़ार को बनाना विवशता हो गयी है।

बहुत-से राजनेता कहते हैं कि वे आतंकवाद को समाप्त कर देंगे। हम 'ज़ीरो-टॉलरेंस' रहेंगे। यह रोज़ कहा जाता है। लेकिन उसे समाप्त करने की इच्छा-शक्ति किसी में नहीं है।

उदयन- उसे समाप्त करने की कोई प्रक्रिया भी नहीं चल रही।

रिनपोछे जी- वह इसलिए क्योंकि आतंकवाद हथियार-उत्पादक-इंडस्ट्री का बहुत अच्छा बाज़ार है। उसे बनाये रखने में शासन मदद करते हैं। लोग मरते हैं मरते रहें, उससे क्या फ़र्क पड़ता है। अगर एक बन्दूक बिककर पचास आदमियों को मार देती है तो इनसे बाज़ार की वृद्धि ही होती है। आप याद होगा, हमारे ही जीवन में, वियतनाम की लड़ाई अठारह बरस तक चली थी। अगर वे उसे जीतना चाहते, उसे चौबीस घण्टों में जीत सकते थे। अगर उसे वापस लेना चाहते तो भी ऐसा चौबीस घण्टों में हो सकता था। लेकिन वह तब समाप्त हुआ जब अमरीका के युवकों ने उसे अस्वीकृत कर दिया। वरना अगर उनका वश चलता तो वह युद्ध आगे भी चलता रहता। हारना-जीतना युद्ध का उद्देश्य नहीं बचा। युद्ध बाज़ारवाद का ही अंग है। आज जो भी चीज़ हमारे हाथों में आती है, हम उसके गुलाम हो जाते हैं। चीज़ों के मॉडल में बदलाव होता है तो उन्हें फिर से दो-तीन साल बल्कि कई बार दो-तीन महीनों में ही दोबारा खरीदना पड़ता है। हमारा दिमाग इस तरह बना दिया है कि हम उन चीज़ों के बिना जी ही नहीं सकते। अब कोई आदमी यह कल्पना नहीं कर सकेगा कि वह स्मार्ट फ़ोन के बिना दस दिन भी रह सकेगा। अगर उसे बिना उसके दस दिन रहना पड़े, शायद वह पागल हो जाये। इस स्थिति को क्या कहा जायेगा? अब आप बिके हुए गुलाम से ज़्यादा गुलाम हैं। बिके हुए गुलाम को बीमार होने पर कुछ फ़ुरसत मिल सकती है लेकिन अगर आप आज गहन चिकित्सा ईकाई (आई.सी.यू.) में भी चले जायें, स्मार्ट फोन आपके साथ जायेगा। आप उसकी गुलामी छोड़ नहीं पायेंगे। इसलिए सरन का यह कथन कि नवीनता, स्वाधारकता (सेल्फ ग्राऊडिंग) और हिंसा ही आधुनिकता है, सच है।

उदयन- इस बीच दो बड़ी घटनाएँ हो रही हैं, पश्चिम और भारत के लोग तिब्बती बौद्ध दर्शन की ओर आकर्षित हो रहे हैं। इस का कारण शायद उस दृश्य से बाहर निकलने की है जो आपने अभी खींचा है। दूसरी तरफ इस आकर्षण की आलोचना भी हो रही है। इससे दो प्रश्न निकलते हैं कि आपको इस आकर्षक का क्या कारण लगता है। क्या यह अचानक हुआ है?

रिनपोछे जी- यह अचानक ही हुआ है। तिब्बत के धार्मिक शरणार्थियों के भारत आगमन के अभाव में बुद्ध धर्म का पाश्चात्य देशों में आज का सा आकर्षण नहीं होता। इस आकस्मिक घटना से यह आकस्मिक चीज़ हुई है। उसके मैं दो-तीन कारण देखता हूँ : पहला तिब्बतियों का विस्थापन और यूरोप-अमरीका में पारम्परिक धर्म या सामाजिक नीति से ऊब का होना। जब हम लोग भारत आये थे, हिप्पी संस्कृति चरम पर थी। वे सब व्यवस्था से अव्यवस्था में जाने की प्रक्रिया में थे। वहाँ जाने का उन्हें कोई रास्ता नहीं मिल रहा था। इसलिए अपने-अपने धर्मों में संशोधन कर 'न्यू एज' संस्कृति

का उदय हो रहा था। यह एक संयोग था। दूसरा कारण यह कि बौद्ध धर्म तार्किक धर्म है, इसमें विश्वास करने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् बुद्ध ने कहा है, 'मैंने ऐसा कहा है, इसलिए इसे मत मानो, तुम इसे अपने विवेक से जाँचों।' पाश्चात्य लोगों की दृष्टि से यह 'रेशनल' है। उन लोगों को 'रेशनल' के प्रति आकर्षण था। वे धर्म को छोड़ने चाहते थे पर उनमें धर्म को छोड़ने की हिम्मत नहीं थी। उनमें यह भी एक आन्तरिक तनाव था कि हम धर्मविहीन कैसे हो जायें।

उदयन– वह उन्हें अनाथ होने जैसा लगा होगा।

रिनपोछे जी– अपने धर्म से भी वे आकर्षिक नहीं हो रहे थे। इसलिए वे रेशनल धर्म के साथ आये। यहाँ वे आलोचना भी कर सकते थे।

उदयन– यहाँ खुलाव अधिक लगा होगा।

रिनपोछे जी– यह भी है कि आज साईन्स का ज़माना है और साईन्स के साथ चलने वाले बौद्ध धर्म के अतिरिक्त कम ही धर्म हैं। कुछ और भारतीय परम्पराएँ भी चल सकती हैं पर जितना साईन्स से आदान-प्रदान बौद्ध धर्म कर सकता है, उतना अन्यत्र कम है। आईन्टाईन ने भी कहा कि शायद बौद्ध धर्म साईन्स के साथ ठीक से चल पाता है। तीसरा दलाईलामा जी का वैज्ञानिकों के साथ संवाद पिछले चालीस वर्षों से हो रहा है। उसमें पाश्चात्य देशों के बड़े-बड़े भौतिक वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, तन्त्रिका-वैज्ञानिक आदि शामिल हुए, उनका आकर्षण हुआ। बौद्ध भिक्षुओं ने भी साईन्स को सीखने का प्रयास किया। साईन्स वालों ने सोचा, बौद्ध धर्म से साईन्स में क्या आ सकता है, इस तरह के आदान-प्रदान होने की सम्भावना देखी जाने लगी।

उदयन– मेरे एक जैववैज्ञानिक मित्र हैं पियेर सोनिगो। उनका कहना है शरीर का जो रूप विज्ञान ने परिकल्पित कर रखा है, वह रोबोट का है। उसके कारण शरीर की समझ में कई मुश्किलें आ रही हैं। इसलिए अब वे शरीर को 'वन' की तरह देख रहे हैं। इस वन में अलग-अलग कोशिकाएँ मानो अलग-अलग वृक्ष हों। ये सारे वृक्ष संयोग से एकत्र हो गये हैं। जैसा कि आप कह रहे थे कि शरीर मन आदि संयोग से एकत्र हो गये हैं और 'स्व' का स्थान इनमें बनता नहीं है। इसलिए साईन्स का बौद्ध दर्शन से सम्बन्ध बनता अवश्य लग रहा है।

रिनपोछे जी– यह संयोग से हुआ है। पिछले साठ बरसों में बौद्ध धर्म और दर्शन का प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हुआ है, अफ्रीका हो या उत्तरी अमरीका, दक्षिण अमरीका आदि कहीं पर जायें तो ऐसा शायद ही कहीं हो कि आपको बौद्ध धर्म के समूह न मिलें। इस काम को योजना बनाकर, पैसा खर्च कर मनुष्य के माध्यम से नहीं किया जा सकता। ये अपने आप कैसे हुआ, इसकी व्याख्या करना मुश्किल है। दलाईलामा भी यह भी कहते हैं कि जहाँ बौद्ध धर्म नहीं हैं, उन देशों में बौद्ध धर्म का प्रसार नहीं करना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि बौद्ध वांगमय तीनों चीज़ें हैं : धर्म, दर्शन और

साईन्स। धर्म बौद्धों के लिए है। दर्शन और साईन्स सबके लिए है। कोई व्यक्ति बौद्ध धर्म को माने बिना भी बौद्ध दर्शन और साईन्स को अकादमिक विषय की तरह सीख सकता है। यह भी एक खुलापन है। इस प्रसार का परिणाम सौ-दो सौ साल बाद ही पता चलेगा।

एक बात मैं बार-बार कहता हूँ कि लोग कहते हैं- तिब्बती बौद्ध धर्म। यह सही नहीं है। तिब्बती भाषा में संरचित बौद्ध धर्म कह सकते हैं लेकिन तिब्बतियों ने बौद्ध धर्म में लेश मात्र भी अपनी ओर से जोड़ा नहीं है। जो कुछ भी भारतीय परम्परा में था वही वहाँ गया, यहाँ के ही मूल शास्त्रों का तिब्बत में अनुवाद किया गया। बौद्ध धर्म के साथ क्षेत्र का नाम जो जोड़ते हैं- जैसे जापानी बौद्ध धर्म, चीनी बौद्ध धर्म आदि वह ग़लत करते हैं। उसे किसने शुरू किया मालूम नहीं। यह पुराना नहीं है, सौ-दो सौ साल से ही पाश्चात्य लोगों के लिखने से प्रचलित हुआ है। लेकिन ईसाई धर्म के साथ ऐसा इस्तेमाल नहीं होता जैसे अमरीकी ईसाईयत या इतालवी ईसाईयत आदि। इस्लाम में भी यह नहीं है। हिन्दू धर्म में भी यह नहीं है, इण्डोनेशियायी हिन्दू धर्म या भारतीय हिन्दु आदि। यह केवल बौद्धों के साथ जोड़ा गया है जिसे किसी पाश्चात्य विद्वान ने जोड़ा होगा। धर्म को अगर किसी देश से जोड़ना है तो भारतीय बौद्ध धर्म कह सकते हैं क्योंकि यहाँ उसका उदय हुआ। बाकी सारे स्थान-कारक शब्द जैसे चीनी बौद्ध धर्म, जापानी या तिब्बती बौद्ध धर्म आदि का उपयोग अनुचित है। धर्म को सार्वकालीन और सार्वदेशीय होना होगा, तभी वह धर्म होगा। उसे भाषा से जोड़ सकते हैं क्योंकि वांगमय भाषा में रहता है। जैसे पाली भाषा संग्रहीत बौद्ध धर्म, तिब्बती भाषा में अनुदित बौद्ध धर्म यह कह सकते हैं।

उदयन- क्या साधना पद्धतियाँ भी क्या हर देश में एक-सी ही है?

रिनपोछे जी- साधना पद्धतियों में तो यह और भी ज़्यादा है। तिब्बती साधना पद्धति के हर कदम का स्रोत भारत में हैं : किस भारतीय सिद्ध ने साधना करके साक्षात् किया है, कौन-से बौद्ध वचन से वह आयी है, किस विद्वान ने उसकी व्याख्या की है, ये सब उन्हीं नामों से जानी जाती हैं।

उदयन- इसलिए बौद्ध धर्म की साधना पद्धतियाँ ऐसी भी नहीं हैं जो तिब्बत में जुड़ी हों।

रिनपोछे जी- ऐसी एक भी साधना पद्धति नहीं है। अगर तिब्बत में कोई नयी साधना पद्धति जोड़ भी दे तो उसका सब खण्डन करेंगे और उसे नहीं मानेंगे। ऐसा किसी ने जानबूझकर नहीं किया लेकिन यदि किसी प्रभाव के कारण जुड़ गया तो भी उसे विद्वानों ने तत्काल हटा दिया।

मरीने पेत्रोशियन की कविताएँ

अंग्रेज़ी से अनुवाद : उदयन वाजपेयी

मरीने पेत्रोशियन अर्रेमेनियायी भाषा की अद्वितीय कवयित्री हैं। वे पिछले वर्ष रज़ा फ़ाउण्डेशन, नयी दिल्ली द्वारा आयोजित एशिया कविता समारोह में भाग लेने दिल्ली आयी थीं। मेरी भेंट उनसे तभी हुई। उनकी कविताएँ सुनते हुए यह महसूस हुआ मानो कोई सीधी-सादी सतह पर चलते हुए खतरनाक घाटी में गिरने का सा अनुभव हो रहा हो। उनकी कविताओं की, जैसा कि पाठक लक्ष्य करेंगे, ऊपरी सतह बिल्कुल सादी है और उसे पढ़ते हुए यह अनुभव नहीं होता कि आप किसी गहरे गहन अनुभव से गुज़र रहे हैं। पर जैसे ही आप उसे पढ़कर समाप्त करते हैं आपको यह अनुभव होता है मानो आप किसी विभीषिका से गुज़र रहे थे। यह कविता लिखने का शायद सबसे मुश्किल ढंग है क्योंकि मरीने पेत्रोशियन की कविताओं में कविता होने का ज़रा भी आडम्बर नहीं है। यहाँ कवि साधारण शब्दों में अप्रत्याशित गहरी दृष्टि उद्घाटित करती है और इस तरह रोज़मर्रा इस्तेमाल होने वाले शब्दों को नयी अर्थवत्ता से स्पन्दित कर देती है। उनका जन्म येरेवान, अर्मेनिया में १६ अगस्त १९६० को हुआ था, वे कविताओं के अलावा निबन्ध और अख़बार में स्तम्भ भी लिखती हैं। उनकी कविताओं की कई किताबें अर्मेनियायी भाषा में प्रकाशित हैं, जिनमें से कुछ के शीर्षक कुछ इस प्रकार हैं- कविताएँ, पहली पुस्तक; (१९९३); अर्मेनियायी समुद्र-तट पर (२००६) वह बन्दूक जिससे गोली चली थी (२०१४)। उनकी पहली पुस्तक अर्मेनिया के भूतपूर्व सोवियत संघ से स्वतन्त्र होने के दो वर्ष बाद प्रकाशित हुई थी। मरीने केलिफोर्निया, वियना, न्यूयार्क शहर आदि में प्रवासी लेखक रह चुकी हैं। इन दिनों अर्मेनिया में ही रहती हैं।

-अनुवादक

बारिश एक-सी हो रही है

बारिश सब पर
एक-सी हो रही है
छोटे पर, बड़े पर
खुशकिस्मत पर, बद्किस्मत पर
बारिश हर ओर हो रही है
हमेशा से हो रही है

मैं पैदा नहीं हुई थी, वह हुई थी
बिजली जैसी चीज़ नहीं थी, वह हुई थी
आदमी आदमी खाता था, वह हुई थी
बारिश होते मैं देख सकती हूँ,
बारिश मुझे नहीं देखती
मैं खुश हूँ या उदास
भेड़िये मेरे माँस पर
उत्सव मनाएँ,
उसे फ़र्क नहीं पड़ता
बारिश मनुष्य के दूसरी तरफ़ है
हम सब उसके लिए कुछ नहीं हैं
वह सब पर एक-सी हो रही है
छोटे, बड़े पर
होशियार, बेवकूफ़ पर
नीच और उस पर जो
नीच नहीं है।

थम गयी बारिश, तुम यहाँ नहीं हो

तुमसे मैं बात करना चाहती हूँ,
तुम यहाँ नहीं हो
अम्मा

तुमसे मैं पूछना चाहती हूँ
हम बारिश में
क्यों खड़े रहे थे?
भीतर क्यों नहीं गये
मतलब, हम क्यों नहीं गये भीतर
अम्मा

मैंने तुम्हारा हाथ
कस कर पकड़ा था
पर वह गीला था
और तुम बोलती नहीं थीं
तुम कभी नहीं बोलती थी
अम्मा

अब
बारिश थम गयी है
और तुम यहाँ नहीं हो
और तुम कभी नहीं होगी
अम्मा

दो लोगों के बीच

दो लोगों के बीच
हमेशा एक सड़क होती है
जिस पर कारें भागती हैं

अगर तुम सड़क पार कर भी लो
तुम पाओगे
वह क्षणभर पहले वही कर चुका है
कि वह फिर से सड़क के
दूसरी ओर हो सके

दो लोगों के बीच
हमेशा एक सड़क होती है
कारें भागती हैं जिस पर

सूर्य और काला कुत्ता

उस शहर में
मेरा कोई दोस्त या परिचित नहीं था
लेकिन होमर के बारे में
उन्हें वह पता था
जो मुझे भी था
उन्हें पता था, होमर अन्धा था
और बहुत पहले मर गया था
बहुत बहुत पहले
लेकिन कभी
एक होमर था
जैसे मैं हूँ
जैसे तुम हो
जैसे एकीलिस था
हेलेन भी
और हेक्टर भी
हालाँकि मैं इस शहर में एक भी आदमी को नहीं जानता
हालाँकि मैं उनकी भाषा नहीं बोलती
न ही यूनानी मेरी भाषा बोलते थे
लेकिन मैं सूर्य को खूब जानती थी
जब वह हर सुबह उगता था
और मैं उदासी को भी खूब जानती थी
जो बिना आहट आ जाती थी
और मेरे हृदय को दबोच लेती थी
नियति की तरह
जो इडिपस के सामने आयी थी
काले कुत्ते की तरह !

हर चीज़ का अन्त

मैं चाहती हूँ कि इतनी ढेर-सी बर्फ़ गिरे
कि मैं चकित हो जाऊँ
इतनी चकित कि
बोल न पाऊँ
चल न पाऊँ

मैं चाहती हूँ इतनी ढेर-सी बर्फ़ गिरे
कि वह मुझे पूरी तरह ढँक ले
कि मैं भूल जाऊँ कि
मुझे अपनी डबलरोटी खरीदना है
कि मैं भूल जाऊँ
मुझे घर जाना है

कि मैं भूल जाऊँ
कि मैं ठण्ड में ठिठुर कर मर सकती हूँ
कि मैं भूल जाऊँ
कि मृत्यु सब कुछ का अन्त है
जब बर्फ़ खूब गिरेगी
सब कुछ को ढँक देगी
डबलरोटी की
ज़रूरत खत्म हो जाएगी
जब बर्फ़
आकाश के
पक्षियों तक को ढँक देगी
घर की ज़रूरत
खत्म हो जाएगी

अगर यह अन्त है
तब तो अन्त
उससे कहीं अधिक खूबसूरत है
जितना मैं सोचती थी

अब यह शहर तुम्हारे सामने पेश है

दिन भागते हुए बीत गये, भागते हुए बीत गये
और अब यह शहर तुम्हारे सामने पेश है
यह शहर जिसकी ढेरों गलियाँ
तुम्हें सब देती हैं
वह सब जो तुम जाने कब से
खोजते रहे थे और आखिरकार पा गये थे
लेकिन उन्हें खोजने की प्रक्रिया में
तुमने अपनी दूसरी प्रिय ढेरों चीज़ें खो दीं

और अब यह समझना मुश्किल है कि
अपने सामने पेश इस ऐश्वर्यशाली शहर को पाकर
जहाँ की सैकड़ों गलियाँ
तुम्हें सब दे रही हैं
वह सब दे रही हैं जो तुम
जाने कब से खोजते रहे थे और
आखिरकार पा गये थे,
तुम खुशी से रो रहे हो?
या खोजने और पाने की
लम्बी प्रक्रिया में
अपनी प्रिय चीज़ों के खो जाने के
दुःख से रो रहे हो?

चादर

(सोविक के लिए, उसके भाई की मृत्यु के बाद)

अपने से अनजाने व्यक्ति
की मृत्यु पर
तुम्हे अलग उदासी घेरती है

एक तरह की
अकथ उदासी

और तुम पहचान लेते हो
कि यह उदासी
हमेशा तुम्हारे
साथ थी

तुमने सिर्फ़ उसे
महीन लगती
चादरों से
ढँक रखा था

और अब
ऐसे व्यक्ति के शरीर को देखकर
जो जा चुका है
तुम्हें लगता है
कि तुम्हारे भीतर की
महीन चादरें
फट रही हैं
एक के बाद एक

शीर्षक विहीन

मेरा हृदय दुःखी है
मुझे अपनी माँ
और मेरी अपनी याद आती है
जब मैं इतनी छोटी थी कि
मेरा सिर हमारी खिड़की तक नहीं पहुँचता था
और मुझे याद है कि
जब मैं छोटी थी बिना किसी कारण
हमेशा उदास रहती थी
वह बिना कारण की उदासी थी
स्थायी और भारी
फिर मैं बड़ी हो गयी
अब मेरा दुःख स्थायी नहीं है
बीच बीच में
हर्ष के कुछ अन्तराल भी आते हैं
पर अब माँ कहीं भी
खोजे नहीं मिलती
वह स्थायी रूप से
जा चुकी

सोवियत संघ, बचपन की स्मृति

स्टेशन का हॉल
शोर से भरा
अनेक आवाज़ें
कोई मेरा हाथ पकड़ लेता है
शायद मेरी माँ
लेकिन हम अकेले नहीं हैं

पिता निश्चय ही कहीं क़रीब ही हैं
केवल बहन साथ नहीं है
शायद वह अब हर कहीं नहीं है
मुझे याद है हमारे आसपास के सभी लोग बतिया रहे हैं,
चल रहे हैं
भाग रहे हैं
शायद ट्रेन क़रीब है
लेकिन हम हिलते तक नहीं
एक जगह खड़े
हम बोलते नहीं
कोई जल्दी नहीं
बहुत समय बाकी है
अभी तो

सुकुमार प्राणी

मनुष्य
नाजुक प्राणी है
आसानी से डर जाता है
उम्मीद खो देता है आसानी से
आसानी से मर जाता है।

मनुष्य हमेशा
कँटीली सेही जैसा है

भले ही वह ऊपर से
भालू जैसा हो
या मगरमच्छ जैसा ही,
उसका हृदय

बहुत तेज़ी से धड़कता है
सेही के नुकीले काँटों के नीचे
धड़कते हृदय की तरह

यह ज़रूर है
सेही
मार डाले जाने और
खा ली जाने से
डरती है

मनुष्य
प्रेम न किये जाने से।

बसन्त था ग्रीष्म था

बसन्त था ग्रीष्म था फिर से बसन्त था
बारिश हुई बर्फ़ पड़ी फिर पिघल गयी
बहुत-सी चीज़ें होने को थीं, नहीं हुई
न कभी होंगी।

बर्फ़ की बून्दें केवल बसन्त भर जीवित रहती हैं
मैं अपने पीछे कई बसन्त छोड़ आयी
पर फिर से सूर्य चमकता है मानो कुछ हुआ ही न हो
मानो कोई हमेशा के लिए खोया न हो

सर्दियाँ हैं, ठण्ड है पर मेरे पास हीटर नहीं है
और मुझे पता है बसन्त आता ही होगा
तुम ठण्डी हो गयी थी और तुम्हें पता था कि तुम्हारे लिए बसन्त नहीं आने वाला
सुबह से मैं तुम्हें याद कर रही हूँ-

तुम्हारा शरीर किस तरह पीड़ा में डूब गया था
सुबह से मैं तुम्हें याद कर रही हूँ और रो रही हूँ।

सर्दियों में बर्फ़ गिरी

तुम दूर सरकते जा रहे हो
बर्फ़ की तरह–
वह गिरी थी एक रात
और उसने सब ढँक लिया था
सारी सड़कें बन्द कर दी थीं
हर आवाज़ चुप कर दी थी
हर दरवाज़े पर इकट्ठा हो गयी थी

अब रास्ते खुल गये हैं
दरवाज़े खुल गये हैं
और तुम दूर सरकते जा रहे हो
बर्फ़ की तरह
जो दूर सरकती जाती है
जब मैं उसे गर्म अंजुलि में
भरने की कोशिश
करती हूँ।

शरीर का हल्कापन

सुख
चीज़ों का हल्कापन है
शरीर का हल्कापन
चलन का हल्कापन

जब हम सुखी होते हैं- चीज़ें पीड़ा नहीं देतीं
शब्द पीड़ा नहीं देते
असुन्दरता पीड़ा नहीं देती
भद्दा व्यवहार पीड़ा नहीं देता
स्मृति पीड़ा नहीं देती
अतीत पीड़ा नहीं देता
भविष्य पीड़ा नहीं देता
क्योंकि जब हम सुखी होते हैं
अतीत नहीं होता
और न भविष्य ही
सब 'अभी' में बदल जाते हैं
हर, बिल्कुल हर कुछ आकर 'अभी' को भरते हैं
और हर्ष में बदल जाते हैं
गहरे हर्ष में
बिना सीमाओं के हर्ष में
बिना ब्लेक होल्स के

सुख
सारे आयामों के परे का आकाश है
जहाँ मैं और तुम
एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं
हम एक-से हैं
सुख में
हम एक-से हैं

हर कोई क्यों दौड़ा जा रहा है

हर कोई क्यों दौड़ा जा रहा है
बात करने को कोई बात नहीं है

हमने इतनी सारी नहरें खोदीं
इतने सारे पेड़ लगाये
इतने सारे शहर बसाये
लेकिन तब भी लोग भूखे हैं
वे पैसा कमाने दौड़ें जा रहे हैं
जितना रईस हो देश
उतना तेज़ दौड़ता है
दिन-ब-दिन
तेज़ और, और तेज़ दौड़ता है
बात करने को कोई नहीं है

वस्तुओं का स्वर्ग

कोई आसपास नहीं है
कहाँ हूँ मैं ?
मुझे यहाँ अच्छा लग रहा है
वह क्या आवाज़ है ?
मनुष्य की नहीं लगती
वस्तुओं से आ रही है
एक तरह की भुनभुन
वस्तुएँ भुनभुन कर रही हैं
लेकिन बिल्कुल हल्के-से
सिर्फ़ इतनी कि तुम्हे महसूस हो कि वे वहाँ हैं
कि वे अच्छा महसूस कर रही हैं
यह स्वर्ग हो सकता है
वस्तुओं का स्वर्ग
मैं मरी नहीं हूँ
वस्तु में बदल गयी हूँ
मुझे यहाँ अच्छा लग रहा है

दुर्योधन का सच और दूसरी कविताएँ

आस्तीक वाजपेयी

जनमेजय

राजा का यज्ञ शुरू हुआ और साधुओं
ने गम्भीर मुद्रा साधी।
लाल, काले, पीले, नारंगी साँप आकर
गिरने लगे। यज्ञ कुण्ड से बास आने लगी।
थोड़े सच के टुकड़े, उम्मीद के कार्य
और थोड़ा-सा संकोच भी आहूति में भस्म हो गया
उसका पूर्वज युधिष्ठिर जब अकेला कुत्ते के
साथ पहाड़ चढ़ रहा था तब वे बिलों में
छिपे थे। वे अवाक् थे, उनकी खोह स्वर्ग
के रास्ते में थी क्योंकि स्वर्ग के चूहों को भी वही खाते थे।
जनमेजय के पिता को तक्षक ने मारा था
सो वे भी मारे जा रहे थे।
वे रेंगते थे, वे घृणित थे।
यह सही नहीं कि आस्तीक ने यज्ञ रोका।
वह रुक ही नहीं सकता था।
वह अपने हाथ में छोटे-छोटे रेंगते साँपों को लेकर भागा था।

वह जंगल में छिप गया।
वे घृणित थे, उन्हें अकारण मारना उससे भी
घृणित; किसी को भी मारना अकारण
ही था, हर हत्या घृणित थी।
जनमेजय खुद को भी मार रहा था

उसे गेस चेम्बरों से निकलती चीखें
सुनायी नहीं दे रही थी।
उसे यह अभी पता नहीं था कि हिंसा
अन्ततः मनुष्य को प्रासंगिकता से दूर ले जाती है
वह खुद में हार है, उसके सहारे सिर्फ़ उन्हें
हराया जा सकता है जो लड़ ही नहीं रहे थे।
अब नयी शताब्दी में उसने बचपन से
आराम की आहूति दे दी है।
वह न्याय करता है, जनमेजय सोचता है कि
इसके बाद क्या बचेगा या शायद नहीं सोचता।
वह संसार बन चुका है।
अब वह सपने, कल्पनाएँ, बचपन की यादें
भस्म करने लगा है।
वह अकेला हो गया है, अब खुद को भस्म कर रहा है।
वह रात में गहरी नींद हो गया है
अपनी नींद में सपना हो गया है।

वह सपने का ब्रह्मण हो चुका है
वह वैशम्पायन होकर खुद को ही महाभारत
सुना रहा है। फिर एक बच्चा बनकर खुद
अपने ही यज्ञ की उत्पत्ति सुन रहा है।
अपने सपने में वह जनमेजय फिर जनमेजय हो गया है।
मोगरे की तीखी गन्ध में खुद होने के
कई प्रयास और अपनी खुदी से पछताकर
वह सिर्फ़ स्वप्न हो रहा है।
खुद में घट रहा है और सर्प गिर
रहे हैं हवन में।
अन्त में वह खुद भी भस्म हो रहा है
अपने सपनों से दूसरों के सपने भस्म कर रहा है।
अब वह उस पहले भागे हुए आस्तीक को

भी सपने में पकड़ चुका है। वह अब
सब हो चुका है। वह आस्तीक के ही
साँपों की असंख्य पुश्तों को मारता जनमेजय
हो चुका है। वह किसी को खत्म न करने
वाली ताकत बन गया है। वह हर एक तानाशाह
बन गया है। वह हर एक शिकार बन गया है।

फाटक खुल रहा है, पेड़ों के बीच
ठण्डी हवा चल रही है।
बारिश के बाद पत्तियों से
आँसू जैसा पानी टपक रहा है।
रात में कुत्ते भौंक रहे है।
वह पगडण्डी पर गीली मिट्टी पर
खड़ा है। पेड़ की परछाई में छिप
गया है। वह हवा के साथ मिलकर
खुली खिड़की से आ गया है।

अब वह कहाँ है, कहना मुश्किल है।

ऋष्यशृंग

फूलों पर बैठी मधुमक्खियों के ऊपर
चिपके हुए पराग उसने बचपन से देखे हैं।
वह अपने भीषण एकान्त के कोने से जानवर
और फूलों को बढ़ते देख रहा है।
वह घास पर चल कर पेड़ के सामने
खड़ा है। रोशनी उसके ऊपर से
फिसलकर छोटे कीड़ों पर पड़ रही है।
वे रेगतें है और नये पैदा हो जाते हैं।

वह एक इच्छा लिये खड़ा है, शक्ति उसकी
उपमा है और एकान्त उसकी साधना
उसके अन्दर सारे सम्भव एकान्त है।
वह समुद्र की गहरायी में गिरा
जहाज हो सकता है जिसमें असंख्य
नर-मादाओं के कंकाल कमरों में बेतहाशा तैरते हैं।
वह पेड़ पर बैठा रात में चिल्लाता बाज
भी है। इर्द गिर्द के मैदान का विलाप।

वह पेड़ों को पागलों की तरह गले
लगाता है और जीवन प्रस्फुटित हो जाता है
क्योंकि जीवन ही हो सकता है।
वह माँ का न होना पिता के सर्वत्र होने में छिपा चुका है।
अकेला वह भागता है नदी का पीछा
करते हुए, वह बहती है जंगल
की ओर, घाटी से निकलते पत्थरों
पर अपनी कल-कल की गूँज को
जंगल की खामोशी से मिलाते हुए
वह एक के बाद एक उगी झाड़ियों के
भीतर की असंख्य सम्भावनाओं में उसे
ढूँढ रहा है, किसी और की विस्थापित
आकांक्षा जो अब उसके अन्दर है।
वह धूप की काली सड़क पर पड़ती
तीक्ष्ण ऊष्मा हो सकता है।

मृत्यु के बाद अपनी माँ की
सम्भावनाओं को बारिश की पत्तों पर
गिरती बूँदों और उसके बाद फिर
उगते नये कोपलों में सोख चुका है।
वह बीहड़ बन गया है, सुबह उड़

रहा है, तप कर रहा है, चुप बैठा
है, चिल्ला रहा है। अनवरत हो रहा है
बस हो रहा है।
वह इच्छा फिर आ रही है
और रात के प्रशान्त काले में
किस दिशा में भाग रही है
इसका ठिकाना नहीं है।
वह पाठशाला जाता एक बच्चा
बन गया है। वह दुनिया को
पहली बार देख रहा है, हर बार

वह अपने छोटे पैरों से
मैदान में भाग रहा है, वह
पहली बार हर बार की तरह
आश्चर्यचकित हो रहा है।
उसको देख देवता चिढ़ गये हैं
एक दुबला आदमी जंगल
की झोपड़ी में बैठा आँखों में
ऐसे आँसू लिए जो गिर सकते
हैं पर गिरते नहीं। समूचे ब्रह्माण्ड
की शक्ति को संजोये, इच्छा को
बिना समझे और जिज्ञासा की चटायी बिछाये बैठा है।
जंगल में एक सरसराहट होती है
वह खड़ा हो जाता है, उसके
रोंगटों के साथ पूरा जंगल खड़ा हो जाता है।
मधुमक्खी के शरीर पर रखे
पराग के फूल पर पड़ने
के बाद की तरह वह खिल जाता है।

वह आ रही है।

जलते खेत

सड़क पर धूल उड़ रही है,
गाँव की पागल धूल जो सूखे खेतों से बहती है।
खेत में खड़े किसानों की आँखों से बचते हुए, जो आँखें अब
धूल को अपने से बाहर रखना सीख चुकी हैं।
बड़ी आँखें, झुर्रियाँ, बिखरे बाल,
अम्मा के हाथ में तीन छोटे सन्तरे
बारिश हो रही है,
गाँव के बीच से बह रहा नाला उफान पर है।
खेत भीग रहे हैं।
जिन्होंने गेहूँ नहीं काटे वे
डर से, जो बाहर खड़े हैं ठण्ड
से और जो मेरे सामने खड़े
लड़ रहे हैं, क्रोध से काँप रहे हैं।

सहज क्रूरता मन में सब के बह रही है
कल-कल कर ईर्ष्या।
जो समृद्ध है वे ग़रीब होने
का रोना रो रहे हैं और जो वाकई
ग़रीब है, अपमानित होने का इन्तज़ार कर रहे हैं।
वे रो नहीं रहे, वे इस उम्मीद में
हँस रहे हैं कि कोई उनसे ठीक से बात कर ले।
बारिश ने खेतों की मिट्टी को
पिघला दिया है, एक अशोक का
पेड़ बिजली पड़ने से जल गया है।
ये लोग बाहर अपनी क्रूरता और टुच्चापन
और खराब हो गये गेहूँ के बीच थोड़ी
मानवता अपने घर सुरक्षित ले आये हैं
बुढ़िया अपने दो सौ रुपये में से पचास

की चाय पिलाने की पेशकश करती है,
सन्तरा देकर कहती है 'खाओ, पिओ, राज करो।'
बारिश में बाहर निकल जाती है।

थोड़ा-सा

बालकनी के बाहर शहर टिमटिमा रहा है।
हवा ज़ोर से चल रही है।
पेड़ दिख रहे हैं अलग-अलग।
मैं मनुष्य के बनाये इस मकान में
मनुष्यों से दूर रहने का आनन्द ले रहा हूँ।
मुझसे मेरा लेखन दूर हो रहा है।
वह मुझे इस सब रोज़मर्रे के झमेलों में
झूमने के लिए अकेला छोड़ देना चाहता है।
मेरे सामने सूरत शहर की बत्तियाँ भोपाल
के तालाब पर पड़ती रोशनी बन रही हैं।
सफ़ेद दीवार की सफ़ेदी थोड़ी पीली पड़ गयी है।
उसमें खुले हुए परदे से
थोड़ी सुबह मिल रही है।
इस जगह थोड़ी-सी जगह बची है
कुत्तों के सोने के लिए और थोड़ा-सा
समय बच गया है क़ागज़ पर लिखने के लिए

थोड़ा-सा मेरा बचपन बच गया है जैसे
थोड़ा-सा धीरज अपमान में बचता है।
मैं जो हूँ की सड़ांध में थोड़ा-सा
मैं जो हो सकता हूँ ताज़ा बचा है।
बहुत थोड़ा-सा शक बचा है अपने विफल
होने के बोध पर। बस एक ताने के बराबर।

काश कि मैं कोई और होता
या कम से कम खुद से निराश नहीं होता
थोड़े-से इंसान बचे हैं जो इंसान हों।
थोड़े-से ही शब्द हमेशा से थे
मेरे पास, अब थोड़ा-सा ही कवि बचा हूँ।
बहुत सारे तनाव के बीच थोड़ा-सा ही सभ्य बचा हूँ।
थोड़ा ही जो बचा हूँ यदि न रहूँ
किसी को थोड़े ही फर्क पड़ेगा ?
पहली बारिश के बाद जैसे कोई खेत
में थोड़ी-सी घास उखाड़ दे।

सूखा पेड़

गुड्डन ताऊ के लिए

एक रास्ता है,
दो तरफ खेत हैं
एक तरफ सूखा पेड़।
पेड़ का खण्डहर, जिस पर मेरी
बिदकी हुई निर्लज्ज इच्छाएँ कूद रही हैं।
मैं ज़िन्दगी के रोज़मर्रे से थक गया हूँ।
मुझे अपना सच अपनी पूरी विचित्रता के बावजूद व्यक्त करना है।
वह नहीं है कहने या लिखने लायक,
उसमें मेरी मूर्खताओं और सीमाओं के फर्श पर दुनिया का मैल बिखरा पड़ा है।
इंसान का अहंकार और क्रोध।
उसकी महत्वाकांक्षाओं और शराब का नशा।
टुच्चेपन और ईर्ष्या से सने तर्क,
अपनी लगातार छोटी और ऊबाऊ ज़िन्दगी को
सही और सार्थक और महत्वपूर्ण बताने वाले झूठ।
उस पेड़ पर अब मुश्किल से मैं

देख पाता हूँ एक पीली चिड़िया जिसकी प्रजाति का मुझे नहीं पता।
उसमें ठण्ड की रात के शहर की सड़क पर चलती
ढेरों गाड़ियों के बीच खड़ी गाय का अकेलापन भी है।
सड़क के बाजू में अपने साथी, किसी गाड़ी से
कुचले हुए पिल्ले को चाटते हुए दूसरे पिल्ले का
आश्चर्य है जो शायद कभी दुःख नहीं बनेगा।
उसमें वे शब्द हैं जिनसे हम संसार
को समझते हैं और ध्वस्त भी करते हैं,
जिनकी शिनाख़्त एकान्त करता है,
जिनसे ढेरों कविताओं के बीच कुछ पढ़ने लायक
पंक्तियाँ लिखी जाती हैं।
लेकिन इससे भी ज़्यादा वे शब्द,
जिनसे हिंसा से टूटे हुए को संभाला जाता है,
जिनसे प्रतिस्पर्धा में हारे हुए को दिलासा दिया जाता है।
जिनमें उन देवताओं की स्तुति करते हैं, उनकी
जिन्होंने अगर केवल यही दुनिया बनायी है तो उनकी
इंसानियत पर मुझे शक है, ऐसे लोग जिनकी
दैवीयता पर शक नहीं किया जा सकता।
इनमें ठोंगी बाबाओं से प्रताड़ित लोगों की चीख के शब्द,
और असहाय देवताओं का रुदन भी है।
मेरा अकेलापन अब पीली चिड़िया के घोंसले से उठने वाला है।

थोड़ा-सा सच

गुड्डन ताऊ के लिए

मेरे पास केवल थोड़ा-सा सच बच गया है।
जिसे डिब्बे में बन्द कर मैंने भेज दिया है
धूल की काली आकृतियों के बीच फर्श का रंग बचा हुआ है।
कहाँ, मैं भूल गया हूँ

शायद वह इस धूल में ही मिल गया है,
कहीं गया नहीं है, या फिर जाकर
धूल बनकर लौट आया है,
लोगों की अपमान करने की प्रवृत्ति से डर कर जंगल भाग गया है।
जंगल की घास में, लम्बी घास में मिल गया है, सागौन के लम्बे पेड़ों पर लिपट गया है।
जंगल को पहली बार देखने वाले बच्चे की जिज्ञासा में मिल गया है।
जानवरों की आवाज़ों में और जंगल के सुनसान में भी थोड़ा रिस गया है।
उसे पता है कि जितना वह मेरा सच है
उतना किसी दूसरे का झूठ होगा
सो वह उस दूसरे से बच रहा है।
अपने आशय को खोकर आज़ाद होने की कोशिश कर रहा है।
बाँस के घने झुरमुट में अपना मतलब छोड़ आया है।
अब वह कुछ शब्द भर बचा है आशय से मुक्त।
जंगल में बाकी शब्द भी खो गये हैं
किसी हिरण पर सवार, शेर की
अँधेरे में चमकती आँखों के भीतर अब एक शब्द बचा है।
बारिश और सुबह की ओस में घुलकर केवल एक अक्षर बचा है।
एक पहाड़ी कोरबा के हाथ वह अर्थ
और शब्द से मुक्त अक्षर कच्ची
मिट्टी की दीवार पर लिप दिया जाता है।
अब वह कुछ नहीं बचा,
देखो वह आता है अन्त के बाद।

द्रोण

तुझे देने बहुत है मेरे पास
लेकिन ज़्यादातर वे बातें हैं जो
दे पाऊँगा या नहीं, पता नहीं।

यादें और संस्कार के अलावा
कुछ खास नहीं
संस्कार शस्त्र नहीं हैं,
संस्कार हत्या भी नहीं है।

क्या सिखाऊँ तुझे ?
सिखाता हूँ कि युद्ध में जीत असम्भव होती है,
हार निश्चित और पतन स्वभाविक।

हिंसा से हमेशा अपमान होता है,
न्याय नहीं होता।

धनुष उठाओ और सीखो वह सब
जो सिखने के बाद
तुम राजकुमार भले बन जाओ
कभी इंसान नहीं बन पाओगे।

समझ जाओ कि यह लेकर मुझसे भी
लड़ोगे और उससे भी कहीं ज़्यादा
खुद से लड़ोगे।

देखो यह वज्र, इसे थामने पर
घमण्ड मत करना क्योंकि घमण्ड
शस्त्र का नहीं, मनुष्य का गुण है।

यदि इसके प्रयोग को समझ जाओगे
तो खुद को बड़ा वीर मत समझना,
बड़े वीर भयंकर हत्यारे होते हैं।

किसी और से कुशल हत्यारा होना
गर्व की बात नहीं।

तुम्हें अस्त्रों से भी ख़ौफनाक कुछ
और सिखा रहा हूँ, नष्ट करने की अभिलाषा,
हो सके तो भूल जाना।

सत्य और धर्म के नाम पर हिंसा करने से बचना,
यदि हो सके तो सत्य और धर्म को
परिभाषित करने से भी बचना।

यदि यह लगता है कि युद्ध से
कुछ अच्छा हो सकता है तभी लड़ना।

इसका अर्थ बस यह होगा कि तुम
वह नहीं सीख पाये हो जो मैं
सीखा नहीं पाया हूँ और वह
सीख गये हो जो सीखाने से
बचते हुए मैंने सीखा दिया है।

ग़लतियों पर शर्मिन्दा भले हो जाओ
दूसरों की गलतियों पर उन्हें अपमानित मत करना।
दण्ड अपराध पर देना, ग़लती पर नहीं।

अब धनुष उठाओ, मुझे पता है
पशोपेश मे हो, भूल जाओ,
बस धनुष उठाओ और चलो शुरू करते हैं।

मैं प्रार्थना करता हूँ कि मुझे
और तुम्हें इसके लिए
देवता क्षमा करें।

दुर्योधन या सत्य

पानी ज़्यादा ठण्डा नहीं था।
तालाब का पानी, हरा पानी, ठहरा पानी।
जब वह तल पर बैठा
तभी उसने देखा
मछलियाँ उसका माँस खा रही थी।

युद्ध के मध्य में दुर्योधन ने गदा चलायी
दो वीरों के रथ तोड़े, घोड़ों के मुँह मोड़े।
कुरुक्षेत्र के मध्य में खड़ा वह अपना खौफ़
दूसरों की आँखों में देख आनन्दित हो रहा था।

वह नहीं जानता था कि उसे ऐसा भ्रम दिया गया था कि
वह जीत सकता है,
जबकि युद्ध स्वयं पराजय है।
कोई नहीं जीतता और सब हारते हैं।
वह नहीं जानता था कि उसका हठ उसे छोड़कर
आसमान में मिल जाने वाला था।

वही हठ लोगों का स्वभाव बनने वाला था।
उसका पिता राजा था, इसलिए उसे लगता था
वह राजा बनेगा, यह उसका सच था।

उसका सच दूसरों का सच नहीं था।
सदियों बाद गेलिलियो अदालत में बोलने वाला था
अपनी साँसों के नीचे कि 'वह हिलती है।'
लेकिन गेलिलियो के सच में विनय था।
उसके सच में केवल उद्दण्डता थी।

क्या उद्दण्ड सच, सच नहीं रहता।
सच से विनय की उम्मीद तो वे भी नहीं करते थे
जो दुर्योधन को हरा रहे थे।
दुर्योधन को पता था कि उसके सच को
सच का नाम उसकी जीत दे सकती थी।
अमरीकियों के हाथों प्रताड़ित जापानी महिलाओं की तरह
वह जानता था कि विजय ही
जीत को वैधता देती है।
हारे हुओं की चीखें इतिहास के गहरे कोहरे में छिप जाती हैं।
वह नहीं जानता था कि गाँधी शताब्दियों बाद
अपने सच के लिए मार दिये जाएँगे,
जब समय बदलेगा तब उन्हें भी गालियाँ दी जाएगी।
वे लोग जिन्होंने देश के लिए एक दिन
कारावास में नहीं बिताया, कहेंगे
'गाँधी ने देश तोड़ा।'

क्योंकि सच जब जीतता नहीं
निर्ममता से कुचला जाता है।
दुर्योधन पानी की आवाज़ को
अपनी आवाज़ के ऊपर सुन रहा था।
उसे लगा यह उस समय के युद्ध की
ज़मीन पर कम्पन है।
तालाब में वह साफ़ दिख रहा था।
तालाब में जैसे एक समन्दर छिप गया था।
किनारे पाण्डव खड़े थे।
उनमें भी थकान थी और
उनके पास भी एक सच था।
वे भी आँखों में सैकड़ों मृत योद्धाओं का
खून लिये खड़े थे।

दुर्योधन ने युधिष्ठिर को
तालाब के पानी के पार देखा
दोनों एक दूसरे को देख रहे थे।
धर्मराज को एक क्षण के लिए समझ आया
कि वह दोनों एक ही थे।
वह हस्तिनापुर जिसके लिए दुर्योधन लड़ रहा था
कुरुक्षेत्र में खत्म हो गया था
जिस धर्म के लिए युधिष्ठिर लड़ रहा था
वह कुरुक्षेत्र से पीठ दिखाकर भाग गया था।

उसे नहीं पता था कि सालों बाद
वही धर्म फुर्तवेगंलर के साथ खड़ा था
जब वह खाली आडिटोरियम में भी
संगीत का संचालन कर रहा था।
उसे यह बताना ज़रूरी लगा था कि
वह हिटलर का नहीं, बिथोवन का जर्मनी था।

दुर्योधन जानता था कि कल्पना में सच
को महफूज रखा जा सकता है, क्योंकि
कल्पना जीवन की उत्पत्ति करती है।
वह बाहर निकला, तालाब बिखर गया।
भीम के सामने खड़ा हुआ तो देखा
वही तालाब भीम की आँखों में आ गया था।
भीम वीर था पर वह अपनी
कल्पना से अधिक लोगों को मार चुका था।
वह भी दुर्योधन की तरह बेइन्तिहाँ
हार चुका था।

लड़ाई के बीच कृष्ण ने इशारा किया
भीम ने गदा उठायी, बलराम दूसरी तरफ

पलट गये, गदा के जाँघ पर पड़ने के एक क्षण पहले
मेरी दिवंगत माँ जीवित होकर मेरे पिता
के साथ बूढ़ी हो रही थी।
सत्य भ्रम में मिल गया,
गदा चली, क्षणभंगुर सत्य गिर गया,
धर्म जीत गया।

दोस्त

दो गौरइयाँ बागीचे में छोटी कटी हुई
घास पर चल रही हैं।
मैं सड़क को बागीचे में बैठकर देख रहा हूँ।
एक लड़का जो सड़क पर चल रहा है
एक सुन्दर लड़की जो सड़क पर खड़ी है
उसे घूरते हुए आगे चला जाता है।
मेरी मृत्यु मेरे पीछे उग रहे छोटे-
छोटे धनिये के पौधों को उखाड़ती है।
वह कभी-कभी ठण्ड में धूप सेंकने आ जाती है।
मैं उसके साथ जाने से डरता हूँ।
मुझे पता नहीं जब ले जाएगी तो कहाँ ?
वह भी इसलिए डरती है, उसे भी नहीं पता कहाँ।
वह एक दिन बोल रही थी
कि कभी मनुष्य की इच्छा
पूरी नहीं होती सिवाय उसके।
आदमी जवानी में कुछ चाहता है और
बूढ़ा होते-होते वही तीव्रता से चाहता है।

मैं सुन रहा था कि हवा तेज़ चल रही थी
नीम के सूखे पत्ते गिर रहे थे।

तुम कहाँ ले जाना चाहती हो?
उसे भी पता नहीं।
मैं रोज़ कहाँ जाता हूँ?
मुझे भी पता नहीं।
एक दिन ऐसे ही गौरइयाँ चल रही होंगी
और मैं मृत्यु के साथ जाकर देखूँगा कि
वह कहाँ जाती है।
अपनी इच्छाओं को
धनिये के पौधों के बीच बिखेर दूँगा।
कोई दूसरा आकर ठण्ड में
वहाँ बैठकर गर्मी तापेगा।
मैं जब सोकर कल उठूँगा तब उससे यह कहूँगा।
वह वही खड़ी होगी चुपचाप।

दोस्त कुछ कहते नहीं हैं
वे समझते है कि एक समय के बाद
हमारे पास उनके लिए केवल खामोशी होती है
फिर भले ही हमें पता न हो
कि आगे कहाँ जाना है।

स्वरों में निष्कम्प ठिठकती

मिथलेश शरण चौबे की कविताएँ

अस्पृश्य

बहते हुए रक्त के आवेग की वजहें दो नहीं थीं
सिर झुकाए ढलान से उतरते हुए
एक ही कल्पना उतरती थी
लुढ़कता था एक ही विचार

निरुद्विग्नता के अलोप में एक ही दीवार की ओट थी

पीठ से टिके हुए स्मृतियों को खुरचते
लाल धारियों की छाप पड़ती
सुर्ख थी जीवन की एक आवृत्ति

एक बाढ़ आदिम के बादलों से अनादिम के जीवन तक
फैलती इस तरह कि
सब कुछ डूब गया जीवन और मृत्यु भी
पाना और बचना भी

लौटती उम्रें और सीलती दीवारें बुलाती हैं फिर
बगैर हाँफ़े चढ़ते कदम सिर्फ़ भ्रम हैं
धड़क उठती बेधड़क इच्छाएँ थम हैं
अस्पृश्य उपस्थित हूँ ये भी क्या कम है

रक्त एक ही आवेग से बहा था।

भभक

पार्श्व से हवा और किरणें
आती एक साथ
लहराने चमकाने की भिन्न
क्रियाओं में लीन

धुन सामने से उठती बगैर स्वर के
स्वरों के निष्कम्प में ठिठकती

उपस्थिति के विस्तार में
पलती
शाश्वत होने की निराकांक्षा

जलते काग़ज़ों में धुँधाता समय
धीमी आगताहट में घिसटता समय
स्थिरोत्सुकता में प्रवाहित समय

होना भस्म होने-सा भभकता है।

सिर्फ़

हवा नहीं थी
कि सरसराहट-सी गुज़रती
कपकपाहट-सी दर्ज होती देह में
छटपटाहट-सी आत्मा में

पानी नहीं थी
कि तरलता से गला देती
हलक में उतरने को सुगम करती

राह बना ही लेती बाधाओं के बीच

समय ही नहीं थी
कि जकड़ लेती अपने से
भटकाती अपनी उर्वर उपस्थिति से
स्थगित करती अपने कुछ अंशों में

केवल स्मृति तो बिलकुल नहीं थी
कि एक बार ही सही
विस्मृति में चली जाए
अतीतमोह की तरह बखान में ही बच सके
चमके अफ़सोस के वीरान में

और अकेली कल्पना तो एकदम नहीं थी
कि उड़े फिरे संग साथ
भरे रंग अनन्त रागों के अनन्तिम स्वर
भर उठे रोम-रोम उदग्र औत्सुक्य में

थी वह वही
उतनी कि सत्य जितना ठहरता है
विचार जितना अडिग
प्रेम की निश्छलता जितनी
आँसुओं का बहाव अविरल
जितना जीना होता जीने में
जितना बचता मृत्यु में
मौन में टंगा एक शब्द उच्चरित
प्रार्थना में कातर पुकार

थी स्वयं मौजूद हस्बमामूल इतनी
कि है एक निरन्तर ज़िन्दगी की तरह

गुज़रते हैं उसमें
हवा पानी समय स्मृति कल्पना ..।

जगहें

वस्तुओं मनुष्यों
जानवरों पक्षियों

बारिश की दुपहरों
सर्दियों की शामों

लहलहाती फसलों
छोटे सुन्दर फूलों
विशालकाय वृक्षों
झर-झर बहते झरनों
उतरती बाढ़ की नदियों

घटते-बढ़ते चाँद
तमतमाये सूरज
नक्षत्रों भरे आकाश
सूने अवकाश

पक्षियों और पतंगों की कतार से
भरे आकाश

कण्ठ और वाद्यों से निकलते स्वरों
चारों तरफ से आती
बहुविध ध्वनियों
जीवन और मृत्यु की निरन्तर आवृत्तियों

अभिव्यक्तियों निर्मितियों
वंचनाओं जिज्ञासाओं कामनाओं
किस्सों-कविताओं
रहस्यों-रोमांचों
भावों-अभावों
उत्तरों-अनुत्तरों
राग-विरागों में

डूबे खोये बने अधबने
लड़खड़ाते सम्भलते
बढ़ते रुकते

जान नहीं पाते अकसर
घर - अपना घर

दूर कहीं इन सबके
टूट-टूट जाता जब मन
दिख पाता है दर

जगहें बाहर फैली दिखती
हम जगहों के अन्दर

जगहों से बनते-बनते
जगहों से बाहर जाते
बाहर-बाहर रह जाते

अब सपनों में ही पाते।

आहट

बहुत कम लगती
एक चौड़ी-सी दरार से
हड़बड़ी में आता चूहा
सधे विनम्र कदमों और विश्वस्त चालाकी से
खिड़की से उतरती बिल्ली
अनजाने ही अन्दर की यात्रा से अनभिज्ञ
रोशनदान से आ गयी चिड़िया

कुछ नहीं कर पाने की तरह आती निष्क्रियता
करने न करने के बीच ठिठकी अन्यमनस्कता
हारकर अवसाद को छुपाने का अभिनय करती उदासी

सत्ता की विरुदावली में मग्न अखबार के कोने में
सिमटती जल सत्याग्रह करते निर्वासितों के
गलते पैरों की खबर
कमज़ोर बता दिये गए निरीह मनुष्यों की
अलक्षित रह जाती आहें
बचपन की मैत्री के विरुद्ध
अभिजात्य के दारुण पलों को सहती मित्राकांक्षा

अयोग्य सन्देहास्पद और त्याज्य बना देने पर
उतारू स्वार्थी चपलताएँ
गिड़गिड़ाने के विरुद्ध
अपने को जाहिर करने को उद्यत विश्वास
बहुत-सा खोने के बावजूद
और भी खोते हुए
निरभिमानी बना रहता मन

संसार अनसुना करता है जिन्हें
उपस्थिति के व्याकरण से अपदस्थ
होने की ज्यामिति से खारिज
सम्भावना की पतंग को
काटने की हिंस्र चेष्टा-सा

सब एक बार
और निश्चित ही
बार-बार से विलग एक बार
अपनी आहट दर्ज कराते हैं
नहीं सुने जाने की आशंका के विरुद्ध।

निरुपाय

बाघ की चारदीवारी में अचानक गिरा मनुष्य
आयु के जोखिम की हिदायतों से घिरा किशोर
फरेबों की फेहरिश्त में बंध जाती सुन्दर युवती

लोकतन्त्र की नियति में धँसती अवाम
बुद्धिजीवी कहे गये लोगों में भटकता एक नैतिक विचार
निष्क्रियताओं के गल्प में सक्रिय उम्मीद

ढेर सारे संकटों के किनारे खड़ा एक उदासीन निराकरण
भीड़ भरे रास्ते से गुज़रती अनजानी शवयात्रा
जलती दुपहरी की जीभ पर निर्मल पानी का स्वाद

देह से सघन झरता आत्मा का विलाप
आत्मा के शोक को सहेजती देह
आत्मा और देह की लहूलुहान उत्कण्ठाओं के बीच

अपने होने को खोजता सुख

धारणाओं के विरुद्ध
आगे जाने के उपक्रम में लगी नवता
चलन से बाहर हुए सिक्कों को सहेजता बचपन
साइकल के चक्कों को
गली-मोहल्ले में घुमाती फिरती
क्रीड़ा के कौतुक को देखती विपन्नता

पा लेने हासिल करने काबिज होने की
अनुदार क्रियाओं को जज्ब करते सारे उपाय
हमारे होने की निरुपायता के निष्कम्प बिम्ब हैं।

मछली प्रेम

मछली बहुत प्रिय है
वनस्पतिशास्त्र के अध्यापक को
अन्य मनुष्यों को ज़िन्दगी में
कई अन्य चीजें प्रिय होती हैं
उस तरह नहीं

मछली बनाकर खिलाने वाले तो
बहुत ही पसन्द हैं उन्हें
जैसे बढ़ई को लकड़ी कुम्हार को माटी
किसान को पानी लड़की को स्वप्न
और गधे को घास पसन्द है
उस तरह नहीं

मछली बनाकर खिलाने वालों को

अपनी कविताएँ सुनाना तो
इतना ज़्यादा पसन्द है उन्हें कि
बाज़ार को चाइना के उत्पाद
प्रौढ़ स्त्री को अब भी माँ का साथ
अकेलेपन में विपन्न अतीत में उतरना चाहता मन
धर्म के नाम पर हाहाकार मचाते निपुण धुरन्धर
उनके सामने कुछ भी नहीं

मछली बनाकर खिलाने वालों के
गढ़े हुए किस्सों पर तो
बेइंतहा मुग्ध हैं
वनस्पतिशास्त्र के अध्यापक
उस तरह नहीं जैसे
कश्मीर पर पाकिस्तान संसार पर अमेरिका
संस्कृति पर बाज़ार प्रधानमन्त्री पर भक्तगण
क्रिकेट पर अभिनेत्री नौकरी पर युवा
अनैतिक पर राजनीति
आपदा राहत इन्तजामों पर नेता और अफ़सर
बचे हुए अनाज़ थोड़ी सी प्याज और
एक दूसरे की आँखों में शेष बची ज़िन्दगी पर किसान

मछली बनाकर खिलाने वालों से अपनी तारीफ़ सुनना
खुद उनकी प्रशंसा करना
सर्वश्रेष्ठ अपरिहार्य कर्म है
वनस्पतिशास्त्र के अध्यापक की निगाह में इन दिनों
वैसे नहीं जैसे
बैंकों से पैसा हड़पना उड़ान व शराब कारोबारी की निगाह में
आरोपी अभिनेता को सच्चा मनुष्य बताना
फिल्म समीक्षक की निगाह में
बलात्कार और नृशंस हत्या के अपराधी की आत्महत्या पर

उसे निडर व साहसी बताना वकील की निगाह में
दुष्कर्मों के अभियुक्त पाखण्डी धर्माचार्य को निरपराधी
कहकर उसकी पूजा करना अनुयायी की निगाह में
भर्ती व प्रवेश के महाघोटाले और उससे सम्बद्ध चालीस
अस्वाभाविक मौत को मामूली कहना तत्कालीन मुख्यमन्त्री की निगाह में
भयावह सूखे से कर्जदार पाँच हज़ार किसानों की
आत्महत्याओं सहित तमाम विकराल जन समस्याओं
और सरकारी विफलताओं को टुच्ची खबरों से ढँकना
मीडिया की निगाह में

मछली पसन्द नहीं जिन्हें
मछली बनाना और खिलाना नहीं आता
उनसे चिढ़ है वनस्पतिशास्त्र के अध्यापक को
जैसे उन्हें बेमौसम बारिश तेज़ धूप
कपकपाती ठण्ड से चिढ़ है
जैसे नमीं की आत्मा हवा के दुखों
और शाम की उदासी से चिढ़ है
जैसे खुशामद नहीं करते मनुष्यों
नहीं छापते सम्पादकों पत्र-पत्रिकाओं
और कथा नहीं कहते कवियों से चिढ़ है

मछली खिलाते वक़्त कविता सुनना
अपनी किस्सागोई सुनाना जिन्हें नहीं आता
उनकी नज़र में नितान्त बेहूदे और अयोग्य हैं वे
जैसे कि बहुधा युवा हैं इन दिनों
मछली खाने के बाद की तृप्ति और प्रशंसा से
आत्ममुग्ध हुए जाते
वनस्पतिशास्त्र के अध्यापक को
ऐसा नहीं कर सकने वाले कमतर लगते हैं
और करने वाले ज़ाहिर है श्रेष्ठ

अलिखित

दृश्य में ठिठककर
वर्णन के स्थगित में
अप्रकट की अभीप्सा के साथ
अदृश्य के कगार पर
रोक लिया था जिसे

रूप ने गढ़ना शुरू किया
विचार ने आना
कल्पना की उमंग ने जिजीविषा दी
होने की निराकांक्षा ने जिद

समय ने फैलने के पंख
असमय ने रुकने की धीरता
पास न होने के जटिल सच ने
विलोम सच की अभीप्सा

यदि नहीं लिखा गया
तो भी उत्कट सच है
अनलिखा।

काया

अनगिनत चलती-फिरती कायाओं को देखती
आँखों को सम्भाले
एक मनुष्य के होने की
अद्वितीयता की तरह
निपट साधारण सी दिखती

एक खूबसूरत काया होने के
असंख्य दुखों से बनता टूटता सिमटता
मौजूद हूँ
कहते हैं जिसे : आत्मा का घर
होने न होने की शाश्वत पहचान
सुख-दुःख के बेमानी अनुभवों का
बहीखाता
निरुपाय दुनिया से विमुख होती
नश्वरता
अनश्वर के छल को तिरोहित करता विलाप

जिसे गलना है खपना है
एक अदद काया-स्वप्न के साथ।

टमाटर

उभरते हुए चटक लाल के पीछे
छुपी हुई गन्ध में गहरी आश्वस्ति है स्वाद की
हालाँकि ज़्यादातर हत्या ही है भूख की
यह हत्या कितनी तृप्तिदायक है
हिंसा का यह दृश्य कितना अहिंसक है

मनुष्य के विलीन होते चटक आत्मा रंगों
होने की लुप्त खुश्बुओं के वक़्त
तुम औचक अगहन का उदात्त हो

मुग्ध हो देखना, कसकर छूना, खाकर तृप्त होना
हमारी इच्छा में तुम्हारा नष्ट होना बदा है

अबूझ है कि इतने पानीदार के मातृत्त्व को
मार देता है ज़्यादा पानी

कुछ पानीदार होने का रौब हम भी चाहते हैं।

भटा

बहुरूपिये का अचरज
सच में कितना एक रूप है
सुन्दर हर बार उतना ही
वर्षों पहले आकांक्षा थी हमारी ज्यों

कई तरहों से बनते
इतना कौन बनता है !
नर्म त्वचा के अन्दर का मांसल रस
तृप्तियों की ललक में डुबोता
कि अँगुलियों में चिपक गये को
छोड़ने का मन नहीं करता

मन छोड़ता कहाँ है मनमाफ़िक को

बेपरवाही के परिणाम भी सुखद हो सकते हैं
जैसे उगे हुए
बहुस्वादवैभवपूर्ण

रूप वैचित्र्य और
स्वादों की भिन्नता
हमारे होने से भी प्रकट होते !

लौकी

किसी को सिर्फ़ उसके
होने से ही चाहा जाता है
जैसे चाहना होने का भराव है

छरहरी से स्थूल तक
स्वाद से तृप्ति तक
संघर्ष से जीवन तक
सम्बोधनों में सीमित करते
होने को

प्रेम और मजबूरी
दोनों की पृथक चाहना से
सम्बोधित तुम
मुलामियत का ऐसा तेवर कि
बिना साजो सामान भी रसभरी

अतिरिक्तों से अलंकृत दुनिया में
निरलंकृत अर्थपूर्ण होने के लिए
तुम्हारी ओर टकटकी लगाकर
देखता हूँ।

पाँच असमिया कविताएँ

एम. कमालुद्दीन अहमद

अनुवादः दिनकर कुमार

तगर

तुम मेरी चाहत का खनिज

उसी से गढ़ लिये जा सकते हैं
स्नेह के अनेक सुघड़ पात्र

हाँफ़ता हुआ पुरुष-अश्व
प्रेम के एक घूँट पानी के लिए

कच्ची खदान
तुम्हारा तेजस्वी मन
घोड़ा दौड़ाकर जाने की वासना
तमाम पुरुष अश्वारोहियों की

तगर की पंखुड़ियाँ एक एक कर गिरती है
रिक्त तगर पेड़

इस तगर के घुमक्कड़ फूल
दिल से होकर गुज़र जाते हैं

तुम्हारी चाहत के लिए तलबगार
पलकों के नीचे से चले जाते हैं

तगर तुम मेरी चाहत का खनिज हो
कई जन्मों तक चाहा तुम्हें
बीसवीं सदी में चाहा था तुम्हें
इक्कीसवीं सदी में भी तुम मेरी चाहत का खनिज

*तगर–असमिया के उपन्यासकार डॉ. बिरंचि कुमार बरुवा के मशहूर उपन्यास 'जीवनर बाटत' का एक किरदार

विश्वनाथ घाट पर

गोधूलि के विश्वनाथ घाट पर
प्राण को बाँधकर आ गया था
नाव के एक शृंग में

नज़रों के सामने नदी किनारे से कौंध रही थी
सुनहरी फसल की झलक

उषा के अटेरन का काता हुआ धागा
लहूलुहान
उसी से वक़्त कपड़ा बुनेगा नीले आकाश में

विश्वनाथ घाट के उस असीम सूनेपन को
रोक सकता है
लहूलुहान करता हुआ धागा

रक्ताक्त डाकिया

सीमावर्ती ज़मीन पर खड़ा होकर रुका
रक्ताक्त डाकिया

गगनचुम्बी मोबाइल टावर ने
सोख लिया है
अनुभूति के सारे रंगों को
लाल नीला सफ़ेद

क्षितिज की तरफ धावमान
डिजिटल अश्व
उसकी दौड़ में
फटकर क्षत विक्षत होता है
डाकिये का हृदय

नहीं
आकाश में लम्बाई के साथ बिछे हुए

नीलेपन का तलबगार
रक्ताक्त डाकिया

परित्यक्त घरों को पार कर

परित्यक्त घरों को पार कर
आगे बढ़ता रहता हूँ

निगाहें टिक जाती हैं
फूस वन पर
कच्चू वन पर

रात की ओस को भी सोख लिया है
परित्यक्त घरों ने

हथेली से होकर
गुजर गयी है
वंचना की कितनी लहरें

परित्यक्त घरों को पार कर
आगे बढ़ता रहता हूँ
फूस वन जलकर खाक हो जायेंगे
कच्चू वन में नहीं टूटेगी हँसिया
और
राह में घास
उगेगी

झिलमिलाता हुआ
पड़ोस मिलेगा
जलचित्र की तरह दमकते हुए
घर
मिलेंगे

पताका

पताका उड़ती है
अन्तर में हवा चलने पर

इतने दिन हवा
खामोश रही थी
मन के दायरे में

पताका उड़ती है
मन की डाल पत्तों के
देह की धूप की शिराओं में
मचलने पर

वंचना की आग के धुएँ ने
अपनी आँखों में ही जाल पसारा
उस आग को खदेड़ने के लिए
पताका उड़ती है

पताका उड़ती है
हृदय में
कलेजे का लहू पोतकर

फरफर आवाज़ के साथ
पताका उड़ती है

बॉदलेयर की कविताएँ

चयन एवं अनुवाद : सुरेश सलिल

बॉदलेयर की कविता में दिलचस्पी जब पैदा हुई, बाज़ार में अंग्रेज़ी अनुवाद में उपलब्ध उनका एक पतला-सा संकलन खरीदा था जो दशकों मेरे पास रहा, उसमें से दो कविताएँ 'साम्यताएँ' (कॅरेस्पांडेंसेज़) और 'एक इकारस का रुदनगान' अनुदित कर पाया था कि मित्रों की कृपा से किताब हाथ-बेहाथ हो गयी। सन् २०१० में मित्रों की ही कृपा से बॉदलेयर की कविताओं का एक संस्करण हाथ आया, पेंगुइन क्लासिक्स सीरीज़ में प्रकाशित 'सिलेक्टेड पोयम्स'। कैरोल क्लार्क द्वारा सम्पादित इस द्विभाषी संस्करण में मूल फ्रेंच कविताओं के साथ उनके प्रोज़ ट्रान्सलेशन किये गये हैं। उपरोल्लिखित दो कविताओं के अतिरिक्त, यहाँ प्रस्तुत सभी कविताएँ उसी की सहायता से अनुवाद की गयी हैं। कविताओं का अर्थ समझने में गद्य-मसौदों से मदद ली गयी है और काव्य-विन्यास मूल के अनुरूप रखा गया है।

बॉदलेयर का पूरा नाम चार्ल्स पियेर बॉदलेयर था। १८२१ में पेरिस (पागी) में जन्में, वे अपने माँ-बाप के एकमात्र पुत्र थे। वे जब छह साल के थे, उनके पिता का निधन हो गया और उसके एक साल बाद उनकी माँ ने कर्नल ऑपी से दूसरा विवाह कर लिया। बाद के वर्षों में बॉदलेयर में अपने सौतेले पिता के प्रति घोर घृणा और उपेक्षा का भाव लक्ष्य किया गया।

पढ़ाई-लिखाई के लिए बॉदलेयर को लाइसी लुई-ले-ग्रां में भर्ती कराया गया। वहाँ राष्ट्रीय लैटिन काव्य प्रतियोगिता में उन्हें दूसरा स्थान प्राप्त हुआ। तब भी दो साल बाद ही, अनुशासनहीनता का आरोप लगाकर उन्हें वहाँ से निकाल दिया गया। कुछ दिनों वे एक लॉ स्कूल में भी पढ़े, किन्तु उस दौरान उनके रहन-सहन और बात-व्यवहार में बोईमियन प्रवृत्तियाँ ग़ौर की जाने लगीं, जिनसे उनका पीछा छुड़ाने के लिए उनके सौतेले बाप ने उन्हें हिन्द महासागर के एक लम्बे समुद्री अभियान पर भेज दिया। लेकिन जो फ़ानी दुनिया में अमर कहाने आते हैं/ वे कब माया-मोह में फँसकर अपना समय गवाँते हैं!... लिहाज़ा बॉदलेयर, उस अभियान को अधूरा छोड़कर, मुट्ठी-भर कविताओं के साथ, पेरिस वापस लौट आये। उसके बाद, जीवन के अन्तिम दौर में की गयी दुर्भाग्यपूर्ण बेल्जियम-यात्रा के सिवा, वे कभी किसी विदेश-यात्रा पर नहीं गये।

पेरिस वापस लौटकर, वयस्क होते ही वे, १८४२ में इले-सें लुई के एक फ़्लैट में चले गये और खुद को पेरिस के कला-जगत में पूरी तरह रमा दिया। उस दौरान की, कलाकृतियाँ आदि खरीदने की, उनकी 'फ़िज़ूलख़र्ची' देखकर माँ-बाप चौंके कि अपनी मितव्ययिता से जो पूँजी इसके जीवन-यापन के लिए हमने जोड़ी है, उसे जल्दी ही यह फूँक-ताप डालेगा। लिहाज़ा उस पूँजी पर नियन्त्रण के लिए उन्होंने एंसेल नाम का एक वकील नियुक्त कर दिया। वकील साहब यद्यपि अच्छे स्वभाव के थे और बॉदलेयर के प्रति सहानुभूतिशील भी, लेकिन उनसे भी बॉदलेयर की कभी नहीं

पटी।

उसके बाद बॉदलेयर आर्थिक रूप से कभी निश्चित नहीं रह पाये। हरदम लेखन-प्रकाशन-वक्तृताओं के जरिये धनार्जन की चिन्ताओं से ग्रस्त रहे और कर्ज़ का बोझ उन पर बढ़ता गया। १८६६ में वे बेल्जियम की साहित्यिक यात्रा पर गये और वहाँ उन पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा। पहले दिल का दौरा पड़ा, फिर आंशिक पक्षाघात और अन्त में पूरी तरह शरीर सुन्न। वहाँ से वापस लाकर उन्हें पेरिस के एक यतीमी अस्पताल में भर्ती कराया गया, जहाँ १८६७ के अगस्त महीने में उनका निधन हो गया। विडम्बना देखिए कि जब बॉदलेयर ने अन्तिम साँस ली, पेरिस भयंकर बारिश की गिरफ़्त में था (अगस्त में आमतौर से पेरिस बरसात से सराबोर रहता है), लिहाजा कलाकार मातीस, कवि वर्लेन आदि चार-पाँच लोग ही उनकी अन्त्येष्टि में शामिल हो पाये। उसी ज़माने में कभी ग़ालिब ने कहा होगा- 'पड़िए गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार/और गर मर जाइए तो नौहारख्वाँ कोई न हो।'

बॉदलेयर के जीवनकाल में उनका सिर्फ़ एक कविता संग्रह प्रकाशित हुआ, 'ले फ़्लुर दुआ' (दि फ़्लावर्स ऑफ़ इविल- अनिष्ट के पुष्प' : १८५७)। उस पर फ्राँस की अदालत में मुक़दमा चला और छह कविताओं को अश्लील बताकर प्रतिबन्धित कर दिया गया। (पेरिस और फ्राँस में उन दिनों अश्लीलता के बड़े दिलचस्प पैमाने थे, जिन्हें एक स्वतन्त्र लेख में ही विस्तार से व्याख्यायित किया जा सकता है।) वे कविताएँ फ्राँस में १९४३ तक प्रतिबन्धित रहीं। उन प्रतिबन्धित कविताओं को बॉदलेयर ने अपने प्रवासकाल में बेल्जियम से प्रकाशित कराया। उनमें से एक ('निपट उन्मत्त एक औरत के प्रति') इस प्रस्तुति में शामिल है।

बॉदलेयर की कविता में अन्तर्वस्तु के स्तर पर पेरिस के भद्रलोक समाज, संस्कृति, लालसा, उपभोगतावाद और सड़क पर मानवजीवन के अभाव, उपेक्षा और वेदना के तीखे और मार्मिक चित्र भावक की संवेदना को झकझोरते हैं। अपने सच्चे अर्थों में बॉदलेयर विश्व कविता में आधुनिकता के महान अग्रदूत थे। अमरीका में ह्विटमैन को यदि अपने जीवनकाल में सिर्फ़ एक उल्लेख्य प्रशंसक इअर्सन मिला तो फ्राँस में बॉदलेयर को भी एक ही उल्लेख्य प्रशंसक विक्तोर ह्यूगो मिला। बॉदलेयर के निधन के बाद भी फ्राँस का भद्रलोक साहित्य-समाज अरसे तक उनके प्रति उदार नहीं हो सका। बॉदलेयर की कलेक्टेड राइटिंग्स का पहला खण्ड (कविता खण्ड) जब प्रकाशित हुआ और उसकी प्रति उस समय के फ्रेंच साहित्य के एक महाधीश को भेजी गयी तो वह ऐसे बिदका जैसे बिच्छू को देखकर कोई बिदके। उसने उसे कचरापेटी में फेंक दिया। आज उन महाधीश का नाम कोई नहीं जानता और बॉदलेयर, बकौल टी.एस.इलियट, दुनिया की कविता में आधुनिकता के जन्मदाता हैं।

बॉदलेयर ने फ्राँसीसी में कला समीक्षा, साहित्य समीक्षा की भी आधारशिला रखी और प्रभूत गद्य लेखन किया। उन्होंने एडगर एलेन पो की कहानियाँ भी फ्राँसीसी में अनूदित कीं। विक्तोर ह्यूगो के बाद, निर्विवाद रूप से, बॉदलेयर फ्राँसीसी साहित्य के पहले महान व्यक्तित्व हैं।

इस प्रस्तुति में, बॉदलेयर के निधन के बाद पहली बार प्रकाशित उनकी कुछेक गद्य कविताओं के अनुवाद भी दिये गये हैं। यहाँ जो कविताएँ शीर्षक विहीन हैं, वे अपने मूलरूप में भी शीर्षक विहीन हैं।

बॉदलेयर की इन कविताओं के अनुवाद का प्रकारान्तर से, उत्प्रेरण वरिष्ठ कवि-सुहृद श्री अशोक वाजपेयी से मिला। उनके प्रति हार्दिक आभार।

अनुवादक

दिनान्त

नीरस और धुँधली रोशनी में वह
दौड़ती है, नाचती है और तड़पती है बेवजह-
ज़िन्दगी बेहया और तीखी।
और इस तरह, जैसे ही क्षितिज पर
उभरती है विषयासक्त रात
सब कुछ का शमन करती- भूख का भी
कवि कहता है स्वयं से : 'अन्त में !
मेरी आत्मा, मेरी रीढ़ की भाँति, उत्कट भाव से
निवेदन करती है विश्राम के लिए
अन्त्येष्टि के सपनों-भरे हृदय से
मैं लेट जाऊँगा पिठबला
लपेट लूँगा खुद को तुम्हारे पर्दों में,
ओ स्फूर्तिप्रद अन्धकार !'

ख़ून का चश्मा

कभी कभी मैं अनुभव करता हूँ- मेरा खून लहर-लहर बह रहा
लयबद्ध सिसकियाँ भरता- जैसे कोई चश्मा
साफ़ साफ़ सुन सकता हूँ उसे-
लम्बी छलाँग भरता कलकल ध्वनि
किन्तु व्यर्थ है देह को छूना - ज़ख़्म ढूँढ पाने को।

शहर से गुज़रता हुआ, मानो किसी सटी हुई रंगभूमि में
बढ़ता है फ़र्श के पत्थरों को
छोटी छोटी टिपरियों में तब्दील करता
हरेक जीव की प्यास बुझाता
चराचर को लाल रंगता हुआ

कहता रहा हूँ प्रायः उग्र-उतावली अंगूरी शराबों से
दिन भर को जड़ीभूत कर दें भव-त्रास को
जो मुझे खाये जा रहा
अंगूरी आँखों में और अधिक स्पष्टता
कानों में और अधिक तीक्ष्णता लाती है

मैंने चाही सब कुछ बिसरा देने वाली नींद, प्रेम में
प्रेम किन्तु फ़कत बिछावन सुइयों का
ताकि पेश कर सके
पीने को कुछ उन निष्ठुर बालाओं को।

अपराह्न गान

तुम्हारी कुटिल भृकुटियाँ
यद्यपि तुम्हें देती हैं अनूठा रूपरंग
जो किसी फ़रिश्ते का नहीं,
मनमोहनी आँखों वाली जादूगरनी !

तुम्हारी आराधना करता हूँ मैं
ओ मेरी चंचल, मेरी बेमिसाल उमंग
अपनी आराध्य प्रतिमा के प्रति
किसी पुजारी की निष्ठा के साथ

बंजर और जंगल देते हैं अपने इत्र
तुम्हारे बंडैल बालों को
तुम्हारे सिर पर बुझौवल और रहस्य के काँटे

तुम्हारी देह के आसपास तैरती है खुश्बू
जैसे किसी धूपदानी के चारों ओर
सन्ध्या-सरीखी मोहिनी डालती हो तुम

ताती, मायाविनी अप्सरे !

आह ! वशीकरण-अभिमन्त्रित घुट्टियाँ
नहीं कर सकतीं समता तुम्हारी अलस मोहिनी की
और तुम अवगत हो उन प्रेमल स्पर्शों से
मुर्दे को जो जीवन दे देते हैं

तुम्हारे नितम्ब प्रेम-निमग्न हैं
तुम्हारी पीठ और वक्षों के साथ
और तुम उत्तेजित करती हो बिछौनों को
अपनी ऊब-भरी ठवनों से

यदा कदा शान्त करने अपना मायावी आवेश
एक संगीन भंगिमा के साथ
ढँक लेती हो तुम मुझे
दंशनों और चुम्बनों में

टूक टूक करती हो तुम मुझे
ओ निगूढ़ सुन्दरते, एक छलना हँसी से
फिर लिटा देती हो हृदय पर मेरे
चन्द्रमा जैसी सौम्य - कोमल अपनी दृष्टि

मखमल से सज्जित तुम्हारी पादुकाओं और
रेशम से सौम्य तुम्हारे पाँवों तले
बिछा देता हूँ मैं अपना अभेद आनन्द
प्रतिभा अपनी, अपनी नियति

मेरी आत्मा तुम्हारे द्वारा उपचारित
तुम्हारे द्वारा रौशन और रंजित !
और स्फोट आवेग का अनिर्वार
मनहूस साइबेरिया में मेरे !

पूर्व-जीवन

लम्बी अवधि तक रहा मैं विस्तीर्ण ड्योढ़ियों के नीचे
रंजित करते थे जिन्हें सागरीय सूर्य शताधिक रोशनियों से,
विशाल खम्भे जिनके ऊँचे और ठाठदार
सन्ध्या समय उन्हें बॅसाल्ट गुफ़ाओं की सी शक्ल दे देते थे

घुमड़ती गरजती ठठाती लहरें
प्रतिबिम्बित करतीं छवियाँ आसमानों की,
विपुल संगीत के अपने सारे सशक्त तार
एक तरह की भव्य और गूढ़ शैली में
मेरी आँखों में झलकते सूर्यास्त के रंगों से मिला देतीं

वहीं रहा मैं प्रशान्त इच्छाओं के मध्य...
वहीं रहा मैं प्रशान्त इच्छाओं के मध्य घिरा हुआ
नीले आसमानों, लहरों, झलमल रोशनियों और
नग्नप्राय दासों से, ख़ुश्बुओं से तरबतर

ताड़ और नारियल के पत्रों से
जिन्होंने मुझे पंखा झला, और
जिनकी एकमात्र सार-सँभाल थी-
उस उदास गोपन को अनावरित करना
प्रेमविह्वल रखा मुझे जिसने।

निपट उन्मत्त एक औरत के प्रति*

तुम्हारी मेधा, तुम्हारी चेष्टाएँ, तुम्हारी छवि
इतनी सुन्दर जैसे कोई सुन्दर भूदृश्य,
हँसी वैसे ही थिरकती है तुम्हारे चेहरे पर
जैसे निर्मल आकाश में शीतल समीर

छुआ जिसे तुमने गुज़रते हुए पास से
चौंधिया गया वह बदमिज़ाज आदमी
तुम्हारी द्युतिमान धज से-
फूटती हुई तुम्हारी बाँहों से, कन्धों से

आकर्षक रंग, जिनसे छितराती हो तुम
अपनी साज-सज्जा, रोंपते हैं
कवियों के मानस में - फूलों के
किसी गाथागान का बिम्ब

सनक भरी वे पोशाकें प्रतीक हैं
तुम्हारी विविधवर्णी आत्मा के,
उन्मत्ते, उत्तेजित हूँ मैं तुम्हें लेकर
नफ़रत करता हूँ मैं तुम्हें उतनी ही जितना प्रेम।

कभी कभार किसी रंगारंग बाग़ में
घसीटता हुआ अपनी तन्द्रा को साथ
अनुभव किया है, मानो वह सब व्यंग्य हो
सूर्यालय मेरा वक्ष फाड़ता-उधेड़ता

और बहार ने, सब्ज़ पत्तियों ने
इतनी अवमानना की मेरे हृदय की
कि मैंने एक फूल को सज़ा दी
प्रकृति की इस निपट ठिठाई की।

लिहाज़ा, मैं चाहूँगा कि किसी रात
चाहत का क्षण जब ठकठकाये

---

* यह उन कविताओं में से एक है, जिन्हें कवि की प्रथम (और प्रतिनिधि) काव्यकृति 'अनिष्ट के पुष्प' (Le Fleurs Du Mal) के प्रथम प्रकाशन काल में ही फ्राँस की न्यायपालिका ने प्रतिबन्धित कर दिया था। उनका प्रकाशन एक स्वतन्त्र पुस्तिका के रूप में बेल्जियम में हुआ था। सम्भवतः समूची १९वीं सदी में वे कविताएँ फ्राँस में प्रतिबन्धित रहीं।

किसी कायर की तरह बेआवाज़ रेंगता
पहुँचूँ मैं तुम्हारे हुस्न के ख़ज़ाने तक

दण्डित करने तुम्हारी रुचिर देह को वहाँ
मुक्कों से थुरने तुम्हारा मूक-विवश वक्ष,
और तुम्हारी चकित-विस्मित कटि में
करने एक ज़ख़्म बड़ा और खोखला

और, ओ अकुलाहट से भर देनेवाली मधुरिमे,
इन अधिक सुन्दर अधिक चकित-
कर देने वाले नये होंठों से
अपना विष तुममें उँडेलने।

बिल्ली

आ मेरी प्यारी बिल्ली,
यहाँ - मेरे प्रेमातुर हृदय पर!
पंखों से पकड़ कस कर
मुझे अपनी सुन्दर आँखों में मग्न होने दे-
धातु और गोभेद के उनके मिश्रण से

मेरी अँगुलियाँ जब सहलाती हैं आहिस्ते-आहिस्ते
तेरा सिर, तेरी लचीली पीठ
और मदमस्त होते हैं हाथ मेरे
तेरी विद्युत देह की छुअन से

देखता हूँ अपने मानस चक्षुओं में अपनी सहचरी को,
उसकी दीठि तेरी जैसी, आनन्दमयी ओ!
तेरी ही जैसी गूढ़ और ठण्डी

किसी ब्लेड की तरह काटती-चीरती हुई

और पैरों से सिर तक उसके चतुर हावभाव
एक ख़तरनाक खुश्बू का बहाव
चारों ओर भूरे शरीर के उसके।

रूप-चित्र

रोग और मृत्यु ने राख-राख कर दी
वह सारी आग जो हमारे लिए धधकी

वे बड़ी-बड़ी आँखें, बहुत उत्सुक-बहुत कोमल
वह मुख जहाँ मेरा हृदय डूबा,
वे चुम्बन, किसी मरहम जैसे असरदार
वे भावावेग, सूर्य किरणों से अधिक उत्कट,
क्या भला बचा उनका?

भयानक है यह, ओ मेरी आत्मा!
कुछ भी नहीं, एक चित्रालेख के सिवा;
तीन खड़िया रंगों में, बहुत बहुत फीका-

जो मेरी तरह मरता हुआ निर्जन में
और जिसे, काल-वह वीभत्स बूढ़ा
पोछता है नित्य अपने कठिन-रूक्ष डैने से...

जीवन और कला के ओ दुष्ट छलछाती
मार नहीं पाओगे स्मृति में मेरी कमी, उसे
मेरा विलास थी जो मेरा प्रभामण्डल थी!

शोक का कीमिया

सोत्साह प्रज्ज्वलित करता है तुम्हें एक व्यक्ति
अपर अपना सारा शोक तुममें रख देता है, ओ प्रकृति!
पहले को कहते हैं 'जीवन और दीप्ति'
अपर को कहते हैं 'दफ़्न, याने अन्त्येष्टि'

अज्ञात हर्मीस[1], तू मेरा सहाय्य रहा
भय से भी मरता रहा मुझे सर्वदा
तू मुझे बनाता है मीदास[2] के जैसा
कोई भी कीमियागर दुखी-व्यथित नहीं वैसा

तेरी ही कृपा से बदलता हूँ मैं स्वर्ण को अयस् में
बदलता हूँ तेरी ही कृपा से, स्वर्ग को नरक में

बादलों के कफ़न में खोज निकालता हूँ एक परमप्रिय शव
आकाशीय पुलिनों पर बनाता हूँ एक विशाल शवाधान

दुर्भाग्य

इतना भारी बोझा उठाने के लिए
किसी व्यक्ति को, सिसिफस,* तुम्हारे जैसा साहस चाहिए
हम यद्यपि करते हैं काम अच्छे हृदय से,
कला दीर्घरूपा है, समय भागता हुआ तीव्र गति से

1. यूनानी देवता हर्मीस त्रिस्मीगिस्तुस, जिसे कीमिया का आविष्कारक माना जाता है। अपने मूलरूप में यह मिस्र का देवता 'थोथ' है, जिसका रूपान्तरण यूनानियों ने अपने वहाँ हर्मीस के रूप में किया।
2. यूनानी पौराणिकी के अनुसार, फ्रीगिया का राजा, जिसे यूनानी देवता 'बाखुक्ष' से वरदान मिला था कि वह जिस को छुएगा वह सोने में बदल जाएगी।

* यूनानी पौराणिकी का एक चरित्र, जो निरर्थक जीवन जीने के लिए अभिशप्त था। उसे मृत्युलोक (नरक) में एक विशाल पाषाणपिण्ड को ढोकर पहाड़ की चोटी पर ले जाना और फिर नीचे लुढ़का देना होता था। यह क्रम अनवरत जारी रखने का उसे दण्ड मिला हुआ था।

प्रसिद्ध लोगों की समाधियों से दूर
एक एकाकी समाधि क्षेत्र की ओर
हृदय मेरा, किसी बेआवाज़ ढोल जैसा
जाता हुआ - अन्त्येष्टि राग की ताल देता

अनेक रत्न पड़े हैं सोये
अँधेरी विस्मरणशीलता में खोये
दूर- गैंतियों से, साहुल सूत्रों से दूर

अनेक पुष्प अनिच्छापूर्वक
खोते हुए अपनी महक
किसी रहस्य जैसी मधुर -
गहरे एकान्तों में।

एक इकारस* का रुदनगान

प्रभुदित और प्रसन्न वदन हैं
गणिकाओं के प्रेमी;
पर मेघालिंगन से हैं
मेरी बाँहें क्षत-विक्षत

आभारी हूँ नभ की नील गहनताओं में दीप्ति
अतुलनीय नक्षत्रों का मैं-
देख पा रहे सूर्यों की स्मृतियाँ भर ही
मेरे नेत्र निमज्जित

---

* दुःसाहस का प्रतीक इकारस, यूनानी द्वीप-राज्य क्रीत के सम्राट मिनोस के राज्य शिल्पी दाइदलस का पुत्र था। दाइदलस ने दुनिया की प्रथम मूल भुलइया 'लेबिरिंथोस' बनायी थी। किन्तु किसी कारण असन्तुष्ट होकर मिनोस ने पिता-पुत्र दोनों को जीवनभर को कैदखाने में डाल दिया। दाइदलस ने कारागार से निकल भागने के लिए मोम के पंख बनाये। उसने इकारस को सतर्क भी किया कि इन पंखों के सहारे वह अधिक ऊँचाई तक न जाये, किन्तु इकारस उड़ता हुआ सौरमण्डल तक चला गया और जलकर राख हो गया।

व्यर्थ चाहना की थी मैंने
अन्तरिक्ष के केन्द्र छोर के अन्वेषण की;
किस आग्नेय दृष्टि से, मेरे
पंख टूटते-से लगते हैं- नहीं जानता

ज्वाला में सौन्दर्य-राग की जलकर भस्म हुआ है
अपने को उस नरककुण्ड में देने का गौरव-पद
पा न सकूँगा- जो मेरी समाधि कहकर
जाना जाएगा।

सहृदय घृणा

उस भयानक क्रुद्ध आसमान से,
तुम्हारी नियति जैसे प्रताड़ित
कौन से विचार अवतरित होते हैं
तुम्हारी छूँछी आत्मा में?
उत्तर दो, अविश्वासी!

अत्यन्त लोभ से खींच ले जाया गया
गूढ़ और अनिश्चय की ओर मैं,
लैटिन-स्वर्ग से निर्वासित ओविद* की भाँति
बिसूरूँगा नहीं मैं।

सागर तटों की भाँति विदीर्ण आसमानों
तुममें मेरा गर्व स्वयं का अवलोकन करता है

---

* वर्जिल के बाद रोम का महानतम कवि ओविद (ज. ४३ ई.पू.) रोम के भद्रलोक में पला-बढ़ा था और अपनी श्रांगारिक कविताओं के लिए अत्यन्त लोकप्रिय था। किन्तु किसी अज्ञान-अस्पष्ट कारण से रूष्ट होकर सम्राट ऑगुस्तुस सीज़र ने, ५० वर्ष की उम्र में उसे एक वीरान द्वीप में निर्वासित कर दिया। वहाँ उसने 'मेटामार्फोसिस' और 'कास्ती' नाम के दो अमर काव्यों की रचना की। वहीं ६० वर्ष की उम्र में परिवार, देश-समाज से दूर उसकी मृत्यु हुई।

तुम्हारे विस्तीर्ण शोक-विषण्ण बादल
मेरे स्वप्नों के शववाहन हैं
और तुम्हारी प्रकाशकिरणें नरक का प्रतिबिम्ब हैं
जहाँ मेरा हृदय घर जैसा अनुभव करता है।

हंस[1]

पेरिस बदल रहा है! किन्तु कोई हलचल नहीं मेरी उदासी में!
नये प्रासाद, मंच-मचान, ब्लॉक, पुराने आबाद इलाके-
सब कुछ मेरे लिए एक प्रतीक कथा
और मेरी प्रिय यादें शिलाखण्डों से भारी।

लिहाज़ा, यहाँ उसी लूव्र[2] के सम्मुख
तंग करता है मुझे एक बिम्ब :
मुझे अपने महान हंस का ख्याल आता है
उसकी विक्षिप्त चेष्टाएँ; किसी निर्वासित जैसा
हास्यास्पद और भव्य, व्यथित एक अविरल आकांक्षा से;

और फिर तुम्हारा, अन्द्रोयाके[3]
छूट गिरी एक बलिष्ठ पति की बांहों से,
अब एक बदनसीब गायगोरू : वंचक पीरस की गेरइयाँ में बँधी,
मूर्च्छित-झुकी हुई एक खाली क़ब्र की बग़ल में,
हेक्टर की विधवा, आह्! ... और ब्याहता हेलेनस की।

---

१. 'ताब्ला पारीसियाँ' काव्य शृंखला में इसी शीर्षकवाली कविता का दूसरा अंश
२. पेरिस का विश्वविख्यात कला संग्रहालय
३. त्रोय युद्ध में त्रोय पक्ष के महान योद्धा हेक्टर की पत्नी।
युद्ध में हेक्टर के बध के उपरान्त वह अकिलीस के पुत्र पीरस के हिस्से आयी, उससे एक पुत्र की माँ बनी।
एक अन्य वृत्तान्त के अनुसार, पीरस के निधन के बाद वह हेलेनस के साथ ब्याही गयी थी।

ख्याल आता है उस नीग्रो औरत का
छीजी और क्षयग्रस्त, खूँदती हुई कीचड़
और फटी-फटी आँखों खोजती हुई
गुम होते नारियल के दरख़्त गर्वित अफ्रीका के
कोहरे की विशाल दीवार के पीछे;

उस किसी का, जो खो चुका वह जिसे
वापस नहीं लाया जा सकता दोबारा कभी भी,
और उनका, जिन्हें पीने को हैं फ़क़्त आँसू
उनका जो किसी समय मादा भेड़िये की तरह
व्यथा और उदासी मुँह में ले लेते हैं;
दुबले यतीमों का, जो फूलों की तरह मुर्झा रहे।

और उस बयाबाँ में जहाँ मेरी आत्मा भटभटाती है खोई हुई
एक पुरानी याद अपना बिगुल बजाती है पूरी आवाज़ में!
मैं जहाज़ियों की बाबत सोचता हूँ, किसी द्वीप में खोये,
क़ैदियों की बाबत, जहाजियों की बाबत...
और दूसरे बहुतों के बाबत भी...

साम्यताएँ *

प्रकृति एक मन्दिर है, जिसके जीवित खम्भे
भरमे शब्दों को उगने का यदा-कदा अवसर देते हैं
मानव उसे पार करता है संकेतारण्यों से होकर
जो अपनी भीतर की आँखों से उस पर चौकस रहते हैं

जैसे कहीं दूर से आकर किसी निगूढ़ गहन संगति में;
जिसका विस्तार रात्रि-सा, स्पष्टता-सा;

* अंग्रेज़ी अनुवाद में शीर्षक 'कॅरेस्पांडेंसेज़'; इसे फ्राँसीसी प्रतीकवादी कविता का प्रस्थान बिन्दु माना जाता है।

गहरी अनुगूँजें मिलती हैं,
उसी भाँति अनुकूलित रहते गन्धराग, स्वर, वर्ण परस्पर।

ऐसे भी हैं गन्धराग, जो निर्मल हैं शिशु-देह सरीखे
शहनाई से मृदुल, हरित शाद्वल प्रान्तर से,
और दूसरे विकृत-प्रदूषित, विजयोन्मत्त, समृद्धि से लसे,

अम्बर, मृगमद, अगरू और लोबान-सरीखी
गणनातीत वस्तुओं के विसरण के स्वामी
आत्मिक-सांज्ञिक समाधियों की महिमा गाते।

प्रेम और कपाल

(एक पुराना उत्कीर्णन)

मन्मथ* बैठा है
मानवता के कपाल पर,
और इस सिंहासन पर आसीन पालकी
अपने विवेकहीन हास्य के साथ
मुदित मन
चारों ओर फूँक रहा बुलबुले,
उड़ते हैं हवा में जो इस तरह
मानो ईश्वर के सुदूर सिरे के लोकों में
पहुँच कर ही फूटेंगे

चमकदार-सुकुमार भूमण्डल
पूरी ताक़त से उड़ान भरता है,
फटता है, उगल देता है अपनी आत्मा
किसी सुनहरे सपने जैसी नाजुक

---

* युनानी पौराणिकी के 'क्यूपिड' के लिए। वह अफ्रोदिती (वीनस) का बेटा था और प्रायः उसको चित्रण शिशु रूप में माँ की गोद में हुआ है। उस उम्र में भी इतना शरीर कि एक बार अपना बाण माँ के ही वक्ष में चुभो दिया। बख्शा उसने स्वयं को भी नहीं, और इस तरह 'साहके' के साथ उसका नाम जुड़ा।

सुनायी देती है मुझे, हरेक बुलबुले पर,
कपाल की गिड़गिड़ाहट
और पीड़ायुक्त क्रन्दन :
'कब विराम लेगा यह बर्बर-बेहूदा अहेर ?'...

'हत्यारे पिशाच, तेरी यह क्रूर छवि
छितरा रही जो यहाँ-वहाँ-
मेरी मेधा है, मेरा रूधिर है
और मेरी देह है।'

अजनबी

'तुम सबसे बढ़कर किसे प्यार करते हो, अबूझ आदमी,
पिता को, कि माँ को, कि भाई या बहन को ?'
'मेरा कोई पिता नहीं, कोई माँ नहीं, बहन या भाई नहीं।'
'दोस्त ?'
'अब तुम एक ऐसा लफ़्ज बरत रहे हो, जिसका मतलब
आज दिन तक मुझे पता नहीं।'
'तुम्हारा मुल्क ?'
'नहीं जानता वो किस अक्षांश में है।'
'हुस्न ?'
'मैं बेशक उसे प्यार करता, बशर्ते वह कोई देवी होता और मृत्यु से परे होता।'
'सोना ?'
'उससे मुझे वैसी ही नफ़रत है, जैसी तुम्हें ईश्वर से।'
'तब किसे प्यार करते हो तुम, अबूझ अजनबी ?'
'मैं बादलों को प्यार करता हूँ... गुज़रते हुए बादलों को-
व्वो!... वहाँ!... उन हैरतअंगेज़ बादलों को।'

कुत्ता और इत्र की शीशी

'अच्छे कुत्ते, सुन्दर कुत्ते, प्यारे पप्पी,
आओ, ज़रा, सूँघो तो ख़ुश्बू इस अतर की!
बेहतरीन अतर ये मैं लाया जहाँ से
वो है सबसे अच्छी दूकान शहर की।'

आता है कुत्ता, हिलाता हुआ पूँछ
जो मेरे ख़्याल में, इन नामुराद प्राणियों में
हँसी और मुस्कुराहट मुहैया करानेवाली एक ही निशानी है।
आता है कुत्ता और अपना गीला नथुना
शीशी के खुले मुँह के पास ले जाता है
और ख़ौफ़ से भरकर - बिदक कर
भौंकता है मुझ पर
उलाहना-सा देता हुआ।

'बदक़िस्मत कुत्ते, अगर मैंने तेरे आगे
विष्ठा का एक ढेर पेश किया होता
तो तूने उसे मगन-मन सूँघा होता, और शायद...
खाया भी होता...
'लिहाज़ा, ओ मेरी अभागी ज़िन्दगी के नालायक़ सँगाती,
तू भी बमपुलिस जैसा ही निकला
जिसे कभी कोई नहीं पेश करता लज़ीज़ ख़ुश्बुएँ,
पेश करता है चुनिन्दा बदबुएँ।'

नस्लदार

वो भोंडी है, हालाँकि मज़ेदार।

वक़्त ने और इश्क ने अपने पंजों से उसे नघोचा है और बेरहमी के साथ सिखाया है कि जवानी और ताज़गी के दौरान हरेक पल और हरेक चुम्बन की क़ीमत क्या होती है।

सचमुच भोंडी है वो, एक चींटी, एक मकड़ी, मर्ज़ी हो तो कंकाल भी कह लो, मगर वो ख़ुराके-इश्क़ भी है, लफ़्जे- महारत, एक जादू। कुल मिलाकर जज़्बे से भरपूर।

वक़्त ने उसकी हरकतों के तालमेल को- ज़िन्दादिल तालमेल को-तोड़ा नहीं है, न ही उसकी हड्डियों की बनावट की नाक़ाबिले-बयान नज़ाकत को। इश्क़ ने बच्चे की किलकारी-जैसी उसकी मिठास को दूषित नहीं किया है, और वक़्त हल्का और बारीक़ नहीं कर पाया है उसके अयाल के देशों को, जिनसे वो जिस्मानी ख़ुश्बुओं में धूप से नहाये, प्रेमल और आनन्ददायी, दक्षिणी फ्रांस के, शहरों की सारी हैवानी मर्दानगी टपकाती है।

वक़्त और इश्क़ ने बेकार ही धँसाये उसमें अपने दाँत, वे उसके धूँधले किन्तु शाश्वत बाल्यवक्ष की मोहिनी को कम करने के सिवा उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते।

छीजी हुई शायद, मगर ऊबी और थकी नहीं। अब भी जोश से भरपूर। किसी को भी उन नस्लदार घोड़ों की बाबत सोचने को मजबूर कर दे, जो छकड़ा गाड़ी या ख़स्ताहाल इक्के में नधे होते हुए भी पारखी की नज़र से बच नहीं पाते।

याने कि बेहद शाइस्ता और जिस्मानी तलब से भरपूर! वो इस तरह इश्क़ करती है, जैसे कोई शरदऋतु में करता है। आप सोचेंगे शीतकाल की आहट उसके दिल में एक नयी आग दहका रही है और उसकी नज़ाकत की जी-बरदारी क़तई और रत्ती-भर थकी हुई नहीं।

भीड़

भीड़ से सराबोर होने का उपहार सभी के हिस्से नहीं आता। भीड़ का आनन्दोपभोग करना एक कला है, और सिर्फ़ वहीं व्यक्ति मानव प्रजाति का उपयोग, जोशे-जवानी के साथ, थिरकने-रँगरलियाँ मनाने में कर सकता है किसी परी ने जिसके कान में मन्त्र फूँका हो, जब वह पालने में था : छद्मवेशों और मुखौटों में रुचि, घर से सख़्त नफ़रत, और आवारगी का नशा।

भीड़ भड़क्का, एकान्त : एक जैसे, परस्पर अदला बदली करते शब्द सक्रिय और उर्वर

कवि के लिए। वह व्यक्ति, जो अपने एकान्त को आबद्ध नहीं कर सकता, किसी हंगामा-ख़ेज़ भीड़ में न एकाकी हो पायेगा, न इसमें सक्षम ही होगा।

कवि इच्छानुसार अपने आप में रहने और कोई अन्य होने के अतुलनीय विशेषाधिकार का आनन्द लेता है। एक शरीर की तलाश करती हुई भटकती आत्माओं की भाँति, इच्छानुसार किसी के भी या हर किसी के व्यक्तित्व में प्रविष्ट हो सकता है। सिर्फ़ उसी के लिए सब कुछ उद्घाटित है। यदि कुछ जगहें उसे अगम्य प्रतीत होती हैं; इसलिए कि उसकी दृष्टि में, वे दर्शनीय नहीं।

निस्संग, सहृदय पादचारी इस सर्वव्यापी अन्तरंगता से एक विलक्षण उत्तेजन प्राप्त करता है। वह, जो सहज भाव से स्वयं को भीड़ के अनुकूल बना सकता है, विह्वल कर देने वाले सुखों से अवगत है, और अहंमन्य व्यक्ति, किसी सन्दूक की भाँति बन्द रहता है, और मोलस्क की भाँति भीतर से भीतर करवटें बदलता रहनेवाला कातिल आदमी उनसे सदा वंचित रहेगा।... वह अपने स्वयं के हित सादी वृत्तियाँ, सारी ख़ुशियाँ और सारी कमबख़्ती, जो परिस्थितियाँ उसके सामने पेश करती हैं, अंगीकार करता है।

लोग जिसे प्रेम कहकर पुकारते हैं; बड़ी छोटी चीज़ है, बहुत ही सीमित, बहुत ही क्षीण और मन्द - इस अनिर्वचनीय व्यभिचार, आत्मा की इस अनिर्वचनीय वेश्यावृत्ति की तुलना में, जो स्वयमेव वार देती है पूरी तरह : कविता, प्रेम, अप्रत्याशित रूप से, गुज़र रहे अजनबी पर।

दुनिया के सौभाग्यशाली लोगों को, यदा-कदा, यह दिखाना अच्छा है (भले महज़ पल-भर को, उनके जड़ अहंकार का पानी उतारने के लिए) कि ख़ुशियाँ हैं, उनकी ख़ुशियों से श्रेष्ठतर, विपुल और विलक्षण। धरती के छोरों पर निर्वासित- उपनिवेश कायम करने वाले लोगों को हाँकने वाले मिशनरी-पुरोहित निस्संदेह इनमें से कुछ निगूढ़ उत्तेजनाओं से अवगत हैं, और विपुल कुल (जो उनकी प्रतिभा ने स्वयं के लिए सृजा है) के अंक में अवस्थित हैं, कभी-कभार हँसते होंगे उन पर जो उनके अशान्त भाग्य और इतनी शुद्धता वाले उनके जीवन पर तरस खाते हैं।

कलाकार का पाप-स्वीकार

शरद के दिनों का समापन। कितने बेधक हैं ये! ओह्, वेदना के बिन्दु तक खुले हुए!

चूँकि वहाँ कुछ रुचिर अनुभूतियाँ हैं, जिनकी अस्पष्टता तीव्रता को बाधित नहीं करती- और असीम से बढ़कर कोई तीक्ष्ण बिन्दु नहीं।

कितना आह्लादक है आकाश और सागर की विशालता में अपलक दृष्टि को विसर्जित कर देना! एकान्त, निस्तब्धता, अतुलनीय निर्मलता उस नीले की! एक नन्हा पाल थरथराता हुआ क्षितिज पर, उसकी लघुता में, और उसके एकाकीपन में मेरे असाध्य अस्तित्व की एक छवि, तरंगों की विरसलय - सोचती हुई ये सादी चीज़ें मुझमें से गुज़र कर, या मैं सोचता हुआ उनमें से गुज़र कर (क्योंकि स्वप्नों के फैलाव में 'स्व' अविलम्ब खो गया); वे सोचती हुई मैं दुहराता हुआ, किन्तु सुरीले अन्दाज़ में, और एक तरह की चित्रकारिक शैली में- निपुण संकेतों के बिना, हेत्वानुमानों के बिना, निष्कर्षों के बिना।

एक ही बात; ये विचार मुझमें से आयें, या वस्तुओं में से उभरें, शीघ्र ही उत्कट हो जाते हैं। प्रबल वासना सिरजती है एक रुग्ण अनुभूति, और रचनात्मक वेदना। मेरी रगें, बेहद तनी हुई, उत्पन्न करती हैं अब मात्र कर्णभेदी और सृजनात्मक कम्पन।

और अब आसमान की गहनता मुझे भय से भरती है, उसकी सुस्पष्टता मुझमें गुस्सा जगाती है। संवेदनहीन सागर, अपरिवर्तित दृश्यलोक मुझमें विद्रोह जगाते हैं...।

ओह्, क्या निरन्तर खटना होगा, या निरन्तर पलायन करता रहेगा रमणीय? प्रकृति, निर्दय छलने, सदाविजयी प्रतिद्वन्द्वी, अकेला छोड़ दे मुझे! बन्द कर दे मेरी इच्छाओं को, मेरे गर्व को लुभाना। सुन्दर का अध्ययन एक अनुयुद्ध है, जिसमें कलाकार पराजय से पहले याचना करता है।

बाग़ी

गुस्से से आगबबूला एक फ़रिश्ता
यक् ब यक् प्रकट होता है किसी उक़ाब जैसा,
झपट कर पकड़ता है बाल नास्तिक के
मुट्ठी में कसकर, और झकझोरता हुआ
कहता है, 'जानना होगा तुम्हें नियम-कानून!
(मैं तुम्हारी भलाई सोचनेवाला फ़रिश्ता हूँ, कान खोलकर सुन लो!)

'गाँठ बाँध लो, कि तुम्हें ग़रीबों, पापियों, अपंगों और
मन्दमति लोगों के साथ, बिना किसी हीले-हवाले के,
प्यार से- मोहब्बत से पेश आना है,
ताकि प्रभु यीशु जब प्रकट हों
अपने परोपकार, दयाभाव और प्रेम का प्रतीक गलीचा उनके स्वागत में तुम बिछा सको!
यही है प्रेम और मोहब्बत! तुम्हारा हृदय पूरी तरह
पत्थर हो जाए; इससे पहले ही प्रभु की महिमा में
लौ लगाओ! वही सच्चा सुख है, जिसकी खुशियाँ टिकाऊ हैं।'

और फ़रिश्ता, स्वाभाविक ही, अपने सबसे प्रियपात्र को
ताड़ना देता हुआ, पापी को बज्र- जैसे मुक्कों से यातना देता है, किन्तु-
गुस्ताख़ बाग़ी का हरदम एक ही जवाबः 'नहीं, मैं नहीं।'

••

मेरी सहचरी 'सोसाइटी स्टार' नहीं,
वह आवारागर्द, वह अगर टिमटिमाती-झिलमिलाती है
तो मेरी आत्मा से प्रतिबिम्बित रोशनी की वजह से।
नक़ली और बनावटी दुनिया की आँखों में अदृश्य उसकी सुन्दरता
सिर्फ़ मेरे उदास दिल में पुष्पित होती है।

जूते ख़रीदने के लिए उसने अपनी आत्मा बेच दी;
ऊपर वाला हँसेगा, अगर मैं इस बदनाम चीज़ के साथ
होते हुए भी पाखण्ड करूँ और ऊँचे उसूलों का ढोंग भरूँ
जबकि मैं अपनी बुद्धि को बेचता हूँ और लेखक बनना चाहता हूँ।

सबसे बुरी बात यह है कि वह विग पहनती है,
उसकी बदरंग घाँटी पर से सारे खूबसूरत काले बाल उड़ चुके हैं
मगर उसके माथे पर- किसी कोढ़ी के माथे से भी ज़्यादा भोंडे
और बदशक्ल उसके माथे पर प्यार-भरे चुम्बनों की बारिश थमी नहीं।

वो भेंगी है, और किसी फ़रिश्ते की बरौनियों से भी बड़ी काली बरौनियों से
घिरी, उसकी विलक्षण दृष्टि का प्रभाव ऐसा हे, ख़ासकर मेरे
लिए, कि वे सारी आँखें, जिनके लिए लोग खुद को कोसते रहते
हैं, उसकी काले दायरों से घिरी, यहूदियों-जैसी आँखों की बराबरी नहीं कर सकतीं।

वो महज़ बीस की है, पहले से ही गिरी हुई उसकी छातियाँ
दोनों ओर तूँबी जैसी लटकती,
तब भी, हर रात खुद को उसके जिस्म पर घसीटता-रगड़ता,
किसी दुधमुहें बच्चे की तरह उन्हें चिचोड़ता और काटता हूँ।

और हालाँकि अक्सर ताँबे का एक सिक्का तक नहीं होता उसके पास
कि वो जिस्म की मालिश करा सके, कन्धे चमकमा सके,
मैं ख़ामोशी के साथ सहलाता हूँ उसे आहिस्ते-आहिस्ते
मैग्दालन* के जलते पाँवों से बढ़कर उत्ताप के साथ।

क़िस्मत की मारी बेचारी! खुशी और संतोष से ऊबचूब,
फूहड़ हिचकियों से फूले-सिकुड़े उसका सीना,
तो उसकी उखड़ी साँस की खड़खड़ाहट से मैं बता सकता हूँ
कि इसने यतीमों के किसी अस्तपाल की रोटियाँ तोड़ी हैं अक्सर।

उसकी फटी-फटी परेशान हाल आँखें बेरहम रातों के दौरान,
महसूस करती हैं कि बिस्तर के बग़ल की ख़ाली जगह में
दो आँखें और नज़र आ रहीं,
हर आने वाले के लिए बार-बार अपना दिल खोलते रहने से
डरी हुई रहती है अँधेरे में, सोचती रहती है भूतों के बारे में।

अगर कहीं दिख जाये, ऊटपटाँग-बेढंगे कपड़ों में
गिरती-पड़ती हुई किसी वीरान-उजाड़ गली के मोड़ पर

---

* बाइबिल (न्यू टेस्टामेंट) में एक प्रसंग के अनुसार इस पतिता का उद्‌गार ईसामसीह ने किया था।

किसी ज़ख़्मी कबूतर की तरह सिर-आँखें डाले, और
नंगे पाँवों गन्दी नालियों में से घिसटते;

गालियाँ और लानतें मत थूकने लगियेगा जनाबेआली
उस बेचारी के रँगे पुते चेहरे पर, भूखकुमारी ने जिसे
जाड़े की एक शाम खुले आम
अपना घाँघरा उठा देने को मजबूर कर दिया था।

वह जिप्सी औरत सब कुछ है मेरी
मेरी दौलत, मेरी माणिक-मोती, मेरी रानी, मेरी बेग़म।
वही है जिसने मुझे अपने कुल फ़त्हयाल आगोश में भरकर
बसैयाँ लीं, और अपनी बाँहों की दरमियानी गर्मजोशी से मेरे दिल की परवरिश की।

उपसंहार

(१)
दिल से सन्तुष्ट, मैं एक ऊँची इमारत के अन्दर गया, जहाँ
से कोई शहर के समूचे फैलाव का नज़ारा कर सकता है-
यतीमों के अस्पताल, चकले, वैतरणी, नरक, क़ैदखाने वग़ैरह-वग़ैरह।

जहाँ हरेक जुल्म अत्याचार एक फूल की तरह पुरबहार होता है,
तुझे पता है, ओ शैतान, मेरी सारी मुसीबतों के हिमायती,
कि मैं वहाँ यूँ ही टसुवे बहाने नहीं गया था,
बल्कि किसी बूढ़ी रखैल से लसे किसी बूढ़े लम्पट की तरह
जिस्मखोरी के तल तक पैठ कर लुत्फ़ लेना चाहता था, जिसकी
नारकीय माया मुझे फिर जवान कर देने में कतई चूक नहीं करती।

चाहे तुम अभी सोई हुई हो भोर की भारी-गहरी परतों में
लिपटी, तुम्हारी साँस रुँधी हुई हो, या सोने के बारीक तारों

के बेलबूटों वाली साँझी ओढ़नी ओढ़े थिरक रही हो,

मैं तुझे प्यार करता हूँ बदनाम राजधानी! तवायफ़ो, डाकुओ,
इस तरह तुम भी अक्सर खुशियाँ पेश करते हो, जो आम
और गँवार लोग नहीं समझ सकते।

(२)
फ़रिश्तो, सोने और जवाहरात से लदेफदे, ओ तुम!
गवाह बनो, कि मैंने अपना फ़र्क एक निपुण अत्तार
और एक पवित्र आत्मा की भाँति निभाया
हरेक चीज़ में से उसका सारतत्व निकाला,
तुमने (ओ पेरिस) मुझे अपना कीचड़ दिया और मैंने उसे सोना बनाया।

कविताएँ

नूपुर हजारिका

सुबह की बातें

सुबह जो बातें तुमने कही थीं
वे शाम होते ही ढल गयीं
सूरज की किरणों के साथ
सुबह मैंने तुम्हारी बातों को
सजाने की कोशिश की
खिलती हुई रंगीन कलियों से
शायद मन के बाग में कलियाँ खिल उठें!

मैंने देखे
हरे पेड़-पत्तियाँ
सूरज की पहली किरणों के साथ
मिल गये थे
खेल-खेल में हवाओं ने
हरे-भरे बागों के गीत सुनाये थे
और अपने लिए गुनगुनाते हुए तुम

तुमने जो पंक्तियाँ भेजीं
सुबह मैंने पढ़ने की कोशिश की
दिन की झिलमिल धूप में
नीले आँचल की छाँव में

रात होते ही
सारे आकार काले हो उठे
जैसे मेरे आँसुओं की बारिश हुई और
धुल गये सारे पृष्ठ।

तुमने हँसकर कहा, चलो जाने दो
कुछ बातें भुलाने के लिए भी
कही जाती हैं।

मेरे पास अभी भी पड़े हैं
हमारी कहानी के
सारे धुले पृष्ठ।

जीने की कोई वजह नहीं थी

जीने की कोई वजह नहीं थी
तब भी, अब भी
जीने की कोई वजह नहीं है
पर ज़िन्दा हूँ।

क्यों एक पुरानी रेल की तरह
बेरंग डिब्बों से
अपनी यादों को बैठा कर
चलती रहती हूँ हर रोज़
पुराने ठिकानों पर ही
रुक जाती हूँ कुछ देर के लिए
एक पुराना गाना याद आता है
मुस्कुराने लगती हूँ

कभी सोचती हूँ
शायद तुमने मेरे सपनों के डिब्बे में
अपने पुराने खत तो नहीं छोड़े
सफ़ेद-नीले...
आँखों की रोशनी चले जाने से पहले
पढ़ सकती वो खत।
देखो ज़िन्दा हूँ अभी
साँसें चल रही हैं
(डरना मत) रेल बिल्कुल पटरी पर है...
हो सके तो मेरे जाने के बाद
अपने सीने में दफ़्न
मेरे सपनों को
रंग-बिरंगे पंख पहनाकर
आज़ाद करना
आसमान खुला है अभी भी
जहाँ हमारी शब्दों की दुनिया थी
जहाँ हमारी आँखों के बादल थे।

सात कुबड़ों की सीक्रेट सोसाइटी

अमित दत्ता

सच कहूँ तो मैं अपनी इस बात के सत्य होने के कोई पुख़्ता प्रमाण नहीं दे सकता, अगर आप कुछ ज़्यादा ही हठ करेंगे तो कोशिश करूँगा कि मेरे जो एक-दो दोस्त (जिनके सामने यह सब घटा था) आपकी तसल्ली के लिए उनकी गवाही इस पुस्तक के अन्त ज़रूर छपवा दूँ। पर इस सबसे पहले मैं आपको उन हालातों का ब्यौरा ज़रूर दे दूँ जिनमें मुझे यह पाण्डुलिपी हासिल हुई है। यह कैसा संयोग है कि क्यों यह पाण्डुलिपि मेरे ही हाथ लगनी थी! बात वर्ष १९९१ के आस-पास की है। तब मैं मुम्बई में गामदेवी नामक जगह पर रहता था। उन दिनों मुझे कला फ़िल्में देखने और बनाने का शौक हुआ था। ऐसे ही किसी कला फ़िल्म समारोह में आवारागर्दी के दौरान मेरी मुलाक़ात एक अमरीकन फ़िल्मकार से हुई जो कोकण प्रान्त के मराठी यहूदियों (जिन्हें स्थानीय भाषा में शनिवार-तेली कहा जाता है) पर फ़िल्म बनाने भारत आयी थी। चूँकि उसे यहाँ की कोई भी भाषा नहीं आती थी, उसने मुझसे उसकी मदद करने की गुजारिश की जिसे मैंने मराठी भाषा न जानते हुए भी तुरन्त मान लिया। कारण यह था कि वह एक अद्‌भुत सुन्दर स्त्री थी जिसके सानिध्य में मुझे सात-आठ महीने काटने का अवसर मिल रहा था और ऊपर से उसने मुझे अपने कॉलेज की फ़ीस देने के लिए जो पैसे कम पड़ रहे थे, उसे भरने की पेशकश भी कर दी थी। यह बड़ी आकर्षक पेशकश थी जिसे मैंने 'थोड़ा सोचने का वक़्त दो' जैसा छोटा-मोटा नाटक कर के तुरन्त ही मान लिया था। इसी सिलसिले में उसने मुझे एक कमरे का छोटा-सा फ्लैट गामदेवी में किराए पर ले दिया था। मैं वहाँ से अपना काम करने लगा था। पूरा दिन काम करने के बाद मैं शाम को अक्सर सैर करने या बीयर पीने सामने चौक पर स्थित न्यूयॉर्कर कैफ़े में जाया करता था। रास्ते में दो-तीन कबाड़ियों की दुकानें पड़ती थीं और सामने फुटपाथ पर एक पागल आदमी लेटा हुआ कुछ बुड़बुड़ाता रहता था। मैंने उस पर कोई ज़्यादा ध्यान नहीं दिया क्योंकि मुम्बई में ऐसे कई पागल फुटपाथ पर दिखते रहते हैं। एक बार मैं जब कैफ़े से बीयर पी के लौट रहा था, मैंने देखा कि उस पागल को कुछ कॉलेज के छात्र घेरकर खड़े हैं और हँस रहे हैं। जब पास गया तो उन्होंने मुझे बताया कि जनाब देखिए यह संस्कृत और अंग्रेज़ी में बात करता है। मैंने ध्यान से सुना तो पाया कि वो लड़के सच बोल रहे थे। वो कुछ तो संस्कृत और अंग्रेज़ी में बोल कर ई-फोर, ई-फाइव जैसा कुछ बोलना शुरू हो जाता था। मेरी शतरंज में बचपन से ही रुचि थी इसलिए मुझे यह पता करने में ज़्यादा समय नहीं लगा कि यह शतरंज की नोटेशंज ज़ोर-ज़ोर से बोल रहा है और मन में ही किसी से ब्लाइंडफोल्ड-बाज़ी भी खेल रहा है। बाद में जब मेरी उस पागल से दोस्ती हो गयी तो उसने बताया कि यह ब्लाइंडफोल्ड, यानी मुँह-जुबानी बाज़ियाँ भगवान से खेला करता है फिर उसने यह दावा भी किया कि एक दो-बार उसने भगवान को हरा भी दिया है। उसने मुझे वो पूरी बाज़ी मुँह-जुबानी सुना दी थी। भगवान ने काले मोहरों से केरो-केन डिफेंस खेलते हुए मिडल-गेम में ही बाज़ी गवाँ दी थी। ख़ैर, शतरंज की वजह से मुझे इस पागल में दिलचस्पी बढ़ गयी थी। मैंने उसके बारे में आस-पास के लोगों से पूछताछ करनी शुरू की और जो भी जानकारी मिली उसे मैंने अपने सस्ते विडियो कैमरे में रिकार्ड कर लिया। सबसे पहले पूछताछ करने मैं उसके फूटपाथ के सामने वाली कबाड़ी की दुकान पर गया था। उस दुकानदार ने मुझे बताया कि यह अक्सर उससे पुरानी

किताबें ले जाता है जिन्हें पढ़कर वापिस कर देता है। इसके अलावा किसी को कुछ नहीं पता था कि वो कहाँ से आया है और कहाँ का है। वह हमेशा कुछ लिखता रहता था और मैं उसको रोज़ कुछ खाना दे आता था, सर्दियों आयीं तो एक कम्बल दिया था और एक बार जब उसकी अपनी क़मीज फट गयी थी तो मैंने उसको अपनी एक ब्राउन रंग के चौक वाली क़मीज दे दी थी जिसे उसने कई महीनों तक पहना था। एक दिन वो उसी क़मीज के साथ गायब हो गया और कभी नहीं दिखा। उसके हाथ में हमेशा एक प्लास्टिक का थैला रहता था जिसे वो जाने से पहले मेरे दरवाजे पर छोड़ गया था। उसको जब मैंने खोला तो अन्दर यह पाण्डुलिपि मिली। थोड़े पन्ने पढ़ने से ही साफ़ हो गया था कि एक उपन्यास लिखने की कोशिश की हुई है। उसने शुरू में १८२६ के बड़े प्रसिद्ध शतरंज के खिलाड़ी मीर सुल्तान खान की कहानी कहने की कोशिश की है जिसकी खोज देसानी नाम का एक रिपोर्टर कर रहा है पर फिर वो अचानक उपन्यास देसानी के जीवन में घुस जाता और फिर अनेक पन्ने उसके जीवन की खोज में इस्तेमाल हो जाते हैं। इस सबके दौरान हमें प्राचीन भारत से लेकर अठाहरवीं और उन्निसवीं शताब्दी के हिन्दुस्तानी जीवन, मुगलों की रसोई से लेकर अंग्रेज़ों की गुप्त समाजों तक; शातिरों से लेकर साधुओं तक; शतरंजे के गूढ़ सिद्धान्तों से हिमालय के गुप्त तन्त्र-मन्त्रों से गुज़रते हुए यह एक पुस्तक किसी बड़ी षड्यन्त्र की तहें खोलने की कोशिश करने में नज़र आती है। इस पुस्तक में हर ओर एक षड्यन्त्र नज़र आता है और अन्त में यह स्थापित करने की कोशिश हुई है कि हमारा वर्तमान अतीत में हुए षड्यन्त्रों से बना हुआ है। यह पुस्तक न तो एक गल्प की तरह व्यवहार करती है है और न ही किसी नान-फिक्शन की तरह। मसलन मैंने अपने शोध में यह पाया कि इस पुस्तक में लगभग सारे ही पात्र असली हैं पर उनके साथ घटित घटनाएँ ज़्यादातर मनगढ़न्त हैं। तारीख़ों में हुई गड़बड़ का तो हिसाब ही नहीं है। तब मैंने अपने एक मनोचिकित्सिक दोस्त से इसके बारे में विस्तार से सलाह-मशवरा किया था और उसको यह पाण्डुलिप पढ़ के सुनाई थी। काफ़ी सोच-विचार के बाद वह बोला कि 'दिस इस ए फिट केस फोर सिजोफ्रेनिया पैरानॉयड, झूठ और सच का ऐसा मिश्रण मैंने कहीं नहीं देखा। किताब पढ़ते हुए सर चकराने लगता है। पर लेखक के इंट्रेस्ट और रीडिंग की रेंज देख कर मज़ा आता है। अगर वो बीमार नहीं होता तो शायद एक अच्छा उपन्यास लिख देता।' तदोपरान्त यह पाण्डुलिपि मेरे पास कई वर्षों तक ऐसे ही पड़ी रही है। हमारी हिन्दुस्तानी परम्परा में माना जाता है की पागल बेशक असत्य बकता है पर उसके ख़ुद का तत्व सत्य के क़रीब होता है। बस उसी वजह से मैंने इसे छपवाने का मन बनाया है।

यार-ए -शातिरी

यह दुनिया एक षड्यन्त्र है

-- अनाम

१.१ मथुरा के हलवाई और चतरंग के शैदाई -- चौधरी खुशी लाल चतरंगवाला

अपने ज़माने के मशहूर शतरंज के खिलाड़ी चौधरी खुशी लाल चतरंगवाला दुनिया से उकता चुके थे पर खुदकुशी नहीं करना चाहते थे। कारण थोड़े धार्मिक थे और थोड़े नैतिक। उनका मानना था कि एक अच्छे शातिर को कभी खुदकुशी नहीं करनी चाहिए। कम उम्र में मन में वैराग पैदा हो गया था इसलिए शादी नहीं की थी। चूँकि पेशे से वह एक कुशल हलवाई थे इसलिए शादी के कई न्योते

आये थे, पर उचटे हुए मन से शादी करने का साहस नहीं हो रहा था। थक-हार के दूर के रिश्तेदारों ने बात चलाना भी बन्द कर दिया था। 'यह तो सारा दिन शतरंज में डूबा रहता है या फिर अपने वैरागी मन में। बेचारी निर्दोष बाला का क्या दोष? उसकी तो ज़िन्दगी बर्बाद करने वाली बात है --यह कमबख्त सारी उम्र अकेले ही निकाल ले तो ठीक है।' पर चौधरी खुशी लाल अकेले नहीं थे। उन्होंने मन बहलाने के लिए खरगोश, हिरण और मोर पाल रखे थे। जम कर माँस खाते थे पर एक उसूल था -- वे कभी भी अपने पाले हुए जानवर का माँस या अपनी बनायी हुई मिठाई को हाथ नहीं लगाते थे। माँस खाना वो अपना धर्म जैसा मानते थे। चूँकि वह एक सारस्वत ब्राह्मण थे, उनका मानना था कि जब भी वह किसी पशु या पक्षी के माँस को खाते हैं, उसको मोक्ष मिल जाता है। वह विशुद्ध शाकाहारी ब्राह्मणों के मोहल्ले में रहते थे। मोहल्ले के लोग उनकी पीठ पीछे उनके फूले हुए मोटे पेट को कब्रगाह बोलते थे। कभी-कभी बाज़ी कमज़ोर पड़ने पर वह तेज़ हाँफ़ने लगते। बाज दफ़ा सामने बैठा खिलाड़ी उनके हाँफ़ने से घबरा कर हार जाता था। वह कई वर्षों से कोई भी बाज़ी नहीं हारे थे। उन्हें शतरंज की दुर्लभ किताबें इकट्ठा करने का शौक था। 'गनीमत है शादी नहीं की वरना इन किताबों के लिए पैसे नहीं बचते। बीवी बच्चे भूखे मरते।', झुँझला कर बोल उठते, जब भी उनसे कोई शादी की बात छेड़ता। फिर एक दिन मन में विचार आया कि मिठाई की दुकान और सब किताबें बेच-बाच कर सन्यास ले लें और साधु बन जाएँ। तुरन्त पास के एक मठ में जाकर बात भी कर ली। मठ के महन्त जी के दिव्य प्रवचन से उत्साहित हो उन्होंने मिठाई की दुकान तो बेच दी पर फिर पता नहीं क्यों शतरंज की किताबों को बेचने का साहस न हुआ। कई हफ़्तों इस ऊहपोह की स्थिति में तड़पने के बाद उन्होंने सन्यास का विचार ही त्याग दिया। फिर मन में आया कि अपने संस्मरण लिखें। अपने प्रिय मित्र और गायक ओंमकारनाथ ठाकुर के साथ वह खच्चर पर बैठकर पूरे भारतवर्ष में घूमें थे। उन्होंने कई रजवाड़ों और अंग्रेज़ों के यहाँ होने वाली शतरंज की प्रतियोगिताओं में भाग लिया था। ओंमकारनाथ ठाकुर राजा को गाना सुनाते और खुशीलाल शतरंज की चालें सिखाते। कभी ओंमकारनाथ को इनाम मिलता था कभी इनको। दोनों ने अभ्यास करके शतरंज के खेल को गायन से जोड़ दिया था। जब भी ओंमकारनाथ कोई ख़ास सुर लगाते खुशीलाल को पता चल जाता कौन-सी चाल चलनी है। यानी मालकौंस है तो पद्मव्यूह रचना है। भैरवी है तो गरुड़व्यूह। दरबारी है तो मकरव्यूह और अगर राग तोड़ी है तो मण्डलव्यूह। इस गुटबन्दी से दोनों मन चाहे फल पाते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक पहले यह दोनों यूरोप में घूम-घूम कर वहाँ के राजाओं को अपना हुनर दिखा रहे थे। इटली के तानाशाह मूसोलिनी को जब छह महीने नींद नहीं आयी तो इन दोनों ने मिलकर उसका उपचार किया था। ओंमकारनाथ ने इन मौक़ों के लिए तैयार किया हुआ अपना ख़ास राग गाया और खुशीलाल ने पारसी पद्धती के चार चालों वाले व्यूह को रचने में इतना समय लिया कि तानाशाह को अन्ततः नींद आ गयी। इसी तरह जब जगदीश चन्द्र बोस ने पौधों पर संगीत का असर देखना चाहा था तो ओंमकारनाथ ने उनके पौधों के लिए अपना ख़ास राग गाया था -- पौधे झूम के तेज़ी से बढ़ने लगे थे। उस दौरान खुशीलाल जगदीश चन्द्र बोस के साथ शतरंज खेलते रहे थे। उन्होंने जगदीश चन्द्र बोस

को अपने हाथ का बनाया हुआ चेस-सेट भेंट किया था (जो आप आज भी उनके संग्रहालय में देख सकते हैं।) अपने इन खट्टे-मीठे अनुभवों को लिखने के लिए उन्होंने गाँव के ज़िल्दसाज से एक छोटी डायरी बनवा रखी थी। उसमें वह अपनी सारी बाज़ियों और कहानियों को नोट करते थे। चमड़े की जिल्द वाली यह डायरी बड़ी ख़ास थी। इसमें एक गुप्त जेब थी जिसमें उन्होंने कई ख़ूफियाँ चालें लिख कर जमा कर रखी थीं। (नींद लाने वाले और पौधों को नचाने वाले जैसे ख़ास रागों का नाम व नोटेशन भी खुशीलाल की ख़ुफिया डायरी में दर्ज थे।) ओंमकारनाथ ठाकुर तो आगे जाकर बहुत प्रसिद्ध हुए। पन्द्रह अगस्त को जब देश आजाद हुआ तो उन्होंने ही अपने गुरु पुलुस्कर की तर्ज पर वन्दे मातरम गाया था। उनको बाद में पद्मश्री मिला। पर शतरंज की बिसात पर बेहतरीन पद्मव्यूह रचने वाले को पद्मश्री न मिला। खुशीलाल की प्रसिद्धि अपनी मिठाई की दुकान तक ही सीमीत रही। उन्हें अपनी गुमनामी पर ज़्यादा अफ़सोस नहीं था बस इस एक बात का मलाल था कि उनकी मिठाइयाँ उनकी बाज़ियों से ज़्यादा प्रसिद्ध हैं। खुशीलाल का परिवार कई बार उजड़ चुका था। जब भी कोई टब्बर खैबर पार करता इनके घर पर हमला ज़रूर करता। खुशीलाल के दादाजी अक्सर अपने परिवार का इतिहास सुनाते थे। ऐसा लगता था कि बड़ी-बड़ी सेनाएँ इनके घर पर ही हमला करने के लिए ही खैबर पार करती थीं। कई जगहों भटकने के बाद इनके पूर्वजों को पहला स्थायी ठिकाना वृन्दावन में मिला था। (उन्हीं दिनों घनानन्द भी मुगल बादशाह मुहम्मद शाह से रूठ कर वहाँ आ गये थे। खुशीलाल के पूर्वजों ने ही उस घटना का ब्योरा दिया था कि घनानन्द ने जर-जर माँगे जाने पर तीन मुट्ठी धूल नादिरशाह के सिपाहियों पर फैंक कर रज-रज बोला था। सिपाहियों ने गुस्से में घनानन्द का हाथ काट डाला था। मरते वक़्त घनानन्द ने जो आख़िरी छन्द अपने रक्त से लिखा था, उसे खुशीलाल के लकड़दादा ने अपनी ख़ुफिया डायरी में नोट कर लिया था।) बाहरी आक्रमणों के डर से ख़ुफिया डायरी रखने का रिवाज इनके यहाँ कई पीढ़ियों से था। (हर पीढ़ी पहली पीढ़ी की डायरी में से कुछ ख़ास बातें टीप लेती थी। ऐसे कुछ ख़ास जानकारियाँ पहली पीढ़ी से अगली पीढ़ी जाती रहती थीं।) हिन्दी के महान निबन्धकार पण्डित रामचन्द्र शुक्ल को घनानन्द सम्बन्धी यह सब जानकारी खुशीलाल ने अपने पुश्तैनी ख़ुफिया डायरी से ही दी थी और घनानन्द द्वारा रक्त से लिखा गया आख़िरी छन्द भी।

इन सब जानकारियों के अलावा इनकी ख़ानदानी डायरी में तरह-तरह की मिठाइयाँ बनाने की विधियाँ भी दर्ज थीं। अगर किसी को कोई नयी मिठाई सूझती तो वह उसमें जोड़ देता। इसी तरह इस ख़ानदान के पास तीन सौ पैंसठ प्रकार के पकवान बनाने की विधियाँ थीं। अगर वे चाहते तो हर दिन एक नयी मिठाई बना सकते थे। उनके एक पूर्वज ने दिल्ली के एक ग़रीब जैन व्यापारी पर तरस खाकर उसको इस डायरी में से केवल एक मिठाई -- सोनहलवे की विधि बतायी थी। जल्दी ही वह व्यापारी पैदल से ठेले पर आ गया और फिर चाँदनी चौक की एक बहुत बड़ी दुकान का मालिक बन बैठा। वह दुकान सन १७६० से सन २०१८ तक चली थी। उस व्यापारी ने मथुरा आकर इनके पूर्वज का शुक्रिया अदा किया और दुकान कैसे बनाये, इसका नक़्शा भी ले गया। उसने अपनी दुकान बिल्कुल खुशीलाल की दुकान जैसी ही बनायी। व्यापारी ने एक नायाब हरकत अपनी तरफ से जोड़ दी -- वह

घण्टा बजा कर अपनी मिठाई बेचने लगा था। इसलिए उसका नाम घण्टेवाली की दुकान से प्रसिद्ध हुआ। १९५४ में बम्बई में चाँदनी चौक नामक एक फ़िल्म बनी। उस फ़िल्म में १९२० का चाँदनी चौक दिखाया गया था। उन्होंने दिल्ली आकर घण्टेवाली की दुकान का पूरा नक़्शा उतारा और बम्बई में हूबहू सेट लगा दिया। उस फ़िल्म के पहले हिस्से में नया-नया अमीर हुआ एक उजड्ड व्यक्ति बहुत ही जहीन नवाब ख़ानदान में शादी करना चाहता है और उसके लिए उसने एक बिचौलिये को नियुक्त कर रखा है। एक जगह बिचौलिया उसे घण्टेवाले की दुकान से मिठाई ख़रीदने की सलाह देता है -- क्या पता नवाब की बेटी सोहनहलवा खाकर उसे पसन्द कर ले! (नवाब की बेटी मीना कुमारी थी। बिचौलिया का किरदार जीवन नामक एक कश्मीरी पण्डित ने किया था। अगर मन में उत्सुकता हो कि खुशीलाल की दुकान किस तरह की होती होगी तो इस फ़िल्म के उन्निस वें मिनट पर देखा जा सकता है।) इस जैन व्यापारी के पूर्वज बनारसीदास ने १६४१ में अपनी आत्मकथा-- अर्धकथानक नाम से लिखी थी। यह व्यापारी ख़ानदान इतना अमीर होने के बावजूद अचानक ग़रीब क्यों हुआ, उसके कुछ इशारे उस किताब में मिल जाते हैं। ख़ैर, इन सब कारणों इस डायरी की बड़ी हिफ़ाजत की जाती थी। अन्त में यही डायरी खुशीलाल की मृत्यु का कारण भी बनी।

खुशीलाल की हत्या बड़ी रहस्मय परिस्थितियों में हुई थी। उनकी हत्या किसने और क्यों की, इस पर कुछ ख़ास तफ़्तीश नहीं हुई। उनकी मामूली-सी दिखनी वाली डायरी के सिवा हत्या करने वाले ने उनके घर से कुछ भी नहीं चुराया था। अपनी हत्या से कुछ समय पहले खुशीलाल को एक ही सपना बार-बार आ रहा था। उनसे कोई डायरी छीन रहा है और वे द्वितीय विश्वयुद्ध के समय के छोड़े गये एक टैंक पर खड़े हैं। बसन्त का मौसम है और टैंकों पर जमी मिट्टी पर रंग-बिरंगे फूल आ गये हैं। उन पर अंग्रेज़ बच्चे खेल रहे हैं। यह सपना भी उन्होंने इस डायरी में दर्ज किया था। खुशीलाल की मृत्यु के बाद उनका एक कमरे का घर खण्डहर में बदल गया था। उनकी किताबों का संग्रह यूरोप के एक मशहूर विद्वान ने उनके दूर के रिश्तेदारों को अच्छी क़ीमत दे कर ख़रीद लिया था। उस विद्वान को भी शायद इसी डायरी की तलाश थी। घर में जब किताबें थीं तो घर एक कमरे का होते हुए भी समृद्ध लगता था। किताबों के जाने के बाद ऐसा लगता था कि उस एक कमरे के घर और उसके साथ पूरे भारत में ही दरिद्रता चली आयी थी। इसकी जो भी थोड़ी बहुत तफ़्तीश की गयी उससे पता चला कि उनकी मृत्यु से कुछ महीने पहले कुछ रूसी सन्यासी मथुरा-वृन्दावन घूम रह थे। उनमें से कुछ एक इनके यहाँ शतरंज खेलने आते थे। कुछ लोगों का मानना था कि इनकी हत्या रूसी जासूसों ने करवायी थी। रूसी सरकार ने क्रान्ति के बाद अपनी साम्यवादी विचारधारा का लोहा मनवाने के लिए शतरंज का खेल चुना था। अलेक्सजेंद्र फेदोरोविच झेनेवेस्की ने शतरंज को अपने सैनिकों की ट्रेनिंग के लिए एक कारगर हथियार माना था। एक अंग्रेज़ इतिहासकार एच. जे. आर मुरे ने १९१३ में जब शतरंज का विस्तृत इतिहास लिखा तो उसमें उसने साफ़-साफ़ लिख दिया कि भारत में इस खेल का जन्म हुआ है और इस देश में इस विषय पर कई प्राचीन पुस्तकें मौजूद हैं। तो इसी घुंघराले बालों वाले अलेक्सजेंद्र फेदोरोविच ने अपने सैनिक जासूसों को पूरे भारत में फैला दिया था। उनको हिदायत

थी कि भारत में जो भी गुप्त विधियाँ हैं -- यानी तरह-तरह के चक्रव्यूह, हमले और बचाव की जानकारियों, उनको एकत्र करके रूस ले आएँ। उन दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ को पाने के लिए उनके जासूस छद्म वेश में पूरे भारत में घूम रहे थे। किसी तरह उनको भनक लग गयी कि खुशीलाल के पास कुछ गुप्त नक़्शे और व्यूह वगैरह हैं। जब वह सन्यासी बन कर मठ जाना चाहते थे तब उन्होंने इस डायरी की बात विस्तार से मठ के महन्त जी को बता दी थी। उसने उनसे पूछा भी था कि इस डायरी का अब वो क्या करें? महन्त जी ने उत्तर में केवल एक रहस्मय मुस्कान दी थी। उसी मठ में इनकी मुलाक़ात एक रूसी सन्यासन से हुई थी। कम्प्यूटर आने तक सोवियत लोगों का शतरंज पर एकछत्र राज जो रहा है, खुफिया इरादों में उसमें खुशीलाल की डायरियों का बहुत बड़ा योगदान माना जाता है। इसकी पुष्टि एक भगोड़े सोवियत जासूस ने अमेरिका में की थी। उसने यह भी बताया था कि कैसे स्टालिन ने खुशीलाल की डायरियाँ पाने के बाद अलेक्सजेंद्र फेदोरोविच को भी मरवा दिया था। (हाल में ही इस जासूस का खुफिया इंटरव्यू यूट्यूब पर ग़लती से शाया हो गया था।) कई लोगों को शक है कि इसकी जानकारी पूर्व विश्व-विजेता बॉबी फिशर को हो गयी थी क्योंकि उसकी माँ एक सोवियत जासूस थी। उसने इस डायरी के कुछ पन्ने बॉबी को उपलब्ध करवा दिये थे। १९७२ में आइसलैंड में उसकी बोरिस स्पासकी पर शानदार जीत (ख़ासकर छठी बाज़ी) खुशीलाल की डायरी से मिली जानकारी के कारण ही थी। इस बाज़ी के बाद स्पासकी ने खड़े हो कर ताली क्या बजा दी, बॉबी फिशर की पीछे अमेरिका और सोवियत रूस दोनों देशों की खुफिया एजेन्सी पीछे पड़ गयीं। (हम सब जानते हैं उस बेचारे की क्या दुर्गति हुई।) फिर १९९९ में के.जी.बी. के पूर्व जासूस मित्रोखिंन की ऑर्कायव दुनिया के सामने आ गयी। केम्ब्रिज के प्रोफेसर क्रिस्टफर ऐंड्रू को इस डायरी का ज़िक्र उसमें मिला था पर चूँकि वो सारी आर्कायव मित्रोखिंन ने अपने हाथ से टीपी थी वह पूरी डायरी नोट नहीं कर पाये थे। ऊपर से शतरंज में ज़्यादा रुचि न होने के कारण किताब में इसका ज़िक्र मात्र ही आया। फिर यह डायरी रूस से भी गायब हो गयी। कहा जाता है कि बाद में किसी तरह यह डायरी रूसी माफ़िया के हाथ लग गयी थी। संयोगवश उसी समय ऐम्स्टर्डैम से वैन गाफ के दो तैल-चित्र चोरी हुए थे। उन चित्रों के साथ यह डायरी बहुत सालों तक माफ़िया करेन्सी बन कर एक गैंग से दूसरे गैंग के पास भटकती रही। केम्ब्रिज के अन्य प्रोफेसर ओलेग की इस डायरी में बहुत रुचि थी और वह इस पर एक किताब लिखना चाहते थे। उन्हें किसी तरह इसकी भनक लग गयी। उन्होंने रूसी माफिया के साथ गुप्त कांटैक्ट करके यूक्रेन जा कर यह डायरी हासिल कर ली। उनकी खुशकिस्मती यह थी कि सोवियत विघटन और कम्प्यूटर-एंजिन के आने के बाद शतरंज की दुनिया में इस डायरी का महत्व ख़त्म हो चुका था और शीत-युद्ध के बाद रूस और अमेरिका की सरकारों की रुचि भी इसमें ख़त्म हो चुकी थी, इसलिए माफ़िया के लिए भी इस डायरी का कोई ज़्यादा महत्व नहीं रह गया था। उन्होंने प्रोफेसर ओलेग को यह डायरी बहुत ही मामूली क़ीमत पर बेच दी थी। इस डायरी पर उन्होंने कई साल काम करके एक किताब लिखने की कोशिश तो की पर उसके प्रकाशन के ठीक पहले ही वे अचानक गायब हो गये। उनके दफ़्तर से मिले कुछ दस्तावेज़ों से यह संकेत मिलते हैं कि डायरी पढ़

कर उनका मन वैरागी हो गया था और वो शायद हिमालय तपस्या करने चले गये हैं। सन १९८२ में मुझे यह डायरी संयोग से भारतीय उच्च संस्थान, शिमला में कश्मीर तन्त्र पर शोध करने आयी एक वयोवृद्ध ऑस्ट्रियन तपस्वनी ने दी थी। वह प्रोफेसर ओलेग को हिमालय के किसी कन्दरा में मिली थी। प्रोफेसर अब इसे छपवाने के इच्छुक नहीं थे। उन्होंने इतनी दुर्लभ चीज़ क्यों इस ऑस्ट्रियन तपस्वनी को दे दी और उसने फिर मुझे क्यों दे दी -- यह मेरी समझ से बाहर है। शायद ऑस्ट्रियन तपस्वनी को इसमें ज़्यादा रूचि न होने के कारण इसके महत्व का ज़्यादा अंदाजा नहीं था। मेरी शतरंज में रुचि को जानकर उन्होंने इसे पार्टिंग-गिफ्ट के रूप में दे दिया था। अपने हाथ से सिले हुए झोले में से यह डायरी निकालते हुए उन्होंने हँस कर बताया था कि मुझे यह डायरी देते समय प्रोफेसर बोल रहे थे कि इसे पढ़ कर आदमी वैरागी या पागल हो जाता है। हो सकता है कि आप भी कहीं वैरागी न हो जाओ। (इस किताब को और आगे बढ़ाने से पहले मैं इस ख़तरे से पाठक को भी आगाह करता हूँ।) वैसे मैंने जब डायरी देखी तो उसके कई पन्ने फटे हुए थे। मुझे तो कुछ किस्से-कहानियाँ, बेसिर पैर के सपने, कुछ शतरंज की बाज़ियाँ, राग-रागनियों के नोटेशंज, शतरंज की पहेलियाँ (जिन्हें नक़्शे बोला जाता है) जैसी चीज़ें मिलीं। यह कोई रुहानी या तिलस्मी किताब तो नहीं थी कि कोई ऐसी सूक्ष्म-दृष्टि मिल जाए कि किसी का मन वैरागी हो जाए। ख़ैर मैं इस पुस्तक में कई जगह पर इस डायरी को ज्यों का त्यों पेश कर रहा हूँ। कटी-फटी जिल्दों से बेतरतीब किस्से-कहानियाँ।

नोटः मुगलों के समय हिन्दू कायस्थ और ब्राह्मण दुकानदार अपने मुनाफे का हिसाब रखने की लिए गुप्त लीपी स्रोप्ती का इस्तेमाल करते थे। यह डायरी इसी लिपि में लिखी गयी थी। अगर कहीं हिन्दी थी भी तो पुरानी। मैनें उसे आजकल की भाषा में लाने का प्रयास किया है। इसकी मूल प्रति भारतीय उच्च संस्थान, शिमला की लाइब्रेरी में सुरक्षित है।

१.२ नाम का सुल्तान - नवाब का नौकर और मेरा दोस्त -- मीर सुल्तान खान १९३०, हेस्टिंग्स, ब्रिटेन

Rb8! अरे यह क्या हुआ? एक तुरले वाले नौकर ने भूतपूर्व विश्व-विजेता को हरा दिया! नौकर का नौकर जनाब! क्या ज़माना आ गया है -- आने वाला है समय जब हमारा राज ख़त्म साहब। एक अनपढ़ नौकर! आह! पहले रैम्जी मैकडॉनल्ड्स की गोल कॉन्फ़रेन्स और ठीक उसी समय यह बाज़ी। नहीं मैं ज़्यादा भावुक नहीं हो रहा हूँ जनाब। Rb8! यह कोई साधारण बाज़ी नहीं है। उसका राजा खड़ा रहा बीचों-बीच। कमबख़्त ने पूरी गेम में कैसलिंग तक नहीं की। सौ साल बाद याद रखना, इतिहासकार कहेंगे -- हिन्दुस्तान में हमारी हुकूमत गाँधी, गोल कॉन्फ़रेन्स, कांग्रेस से नहीं -- इस Rb8 चाल से गयी। पर जनाब इसने कैसलिंग क्यों नहीं की? न इसको पढ़ना आता है न लिखना -- यह जीत कैसे गया? कैसे जनाब? सोचिए हमारे साम्राज्य का चैंपियन एक नौकर! मुसलमान! पूरी बाज़ी में अपना राजा तक नहीं हिलाया। अड़ा रहा शान से। अरे! चर्चिल ने शायद ठीक ही कहा है मुसलमानों

में ही होता है ऐसा दम। हिन्दू तो बस हवाई किले बनाते हैं। अच्छा? वैसे मैंने सुना है कि चर्चिल मुसलमान बनने वाला है? उसका परिवार सकते में है जनाब। अरे उसे जो करना करे पर यह बाज़ी देखिए जनाब! और हमारे आक्स्फर्ड-केम्ब्रिज के शोहदो को देखो तो -- कैसे तन के खड़े हैं। पाईप मुहँ में डाल कर पोज दे रहे हैं। कमाल है। शर्म नहीं आती -- एक नौकर से हार गये। हाय! नौकर नहीं जनाब नौकर के नौकर से। और यही मूर्ख उसे सिखाने के लिए नियुक्त भी किये गये थे। नवाब ने मोटी तनख्वाह दी होगी। हमारे बेवकूफों को तो हराया पर यह तो क्यूबा का चैंपियन? किलेबन्दी भी नहीं की जनाब -- हमारा राज हिन्दुस्तान में ख़त्म। अच्छा तो हो सकता है कि अपने चर्चिल को इसकी भनक लग गयी हो। शतरंज का खेल वह बख़ूबी जानता होगा -- उसके बाप ने ही तो आक्स्फर्ड का चेस-क्लब स्थापित किया था और इसने खुद हिन्दुस्तान जाते हुए समुद्री जहाज की प्रतियोगिता जीती थी। अपना चार्ली मुसलमान बन कर इंडिया का सुल्तान बनने का सपना तो नहीं देख रहा जनाब? फ्री-मेसन रोक लेंगे उसे? मैं कहता हूँ कि पहले तो यह आक्स्फर्ड केम्ब्रिज बन्द करो। क्या बकवास है-- दस साल पहले एक ग़रीब ब्राह्मण आ कर हमें गणित सिखा गया और अब यह मुसलमान नौकर -- हमारे साम्राज्य का चैंपियन, हाय!'

यह प्रलाप सुनने का सौभाग्य सिंध के एक गाँव से भागे हुए सत्रह वर्षीय रिपोर्टर को हुआ। बात यूँ थी, कि कुछ अंग्रेज़ हेस्टिंग्स इंटर्नैशनल कांग्रेस की शतरंज की एक बाज़ी देख कर बार में आ गये थे। यह वार्तालाप शायद एक या दो बोतलों के बाद ही शुरू हुआ होगा, इसलिए इसमें कौन क्या बोल रहा और कितने लोग बोल रहे हैं, पता लगाना ज़रा मुश्किल है। देसानी चूँकि सत्रह वर्षीय था इसलिए बार में बैठा दूध पी रहा था। उसने इस वार्तालाप को थोड़ी देसी गालियाँ भर कर अपने महत्वाकांक्षी उपन्यास के लिए रख छोड़ा था। बीस वर्ष बाद जब उसका उपन्यास छपा तो उसकी बड़ी तारीफ़ हुई। टी एस इलियट ने उसकी प्रस्तावना लिखी थी। पर पता नहीं क्यों उसने उपन्यास से यह प्रलाप हटा दिया था। (इसका उद्धरण हमें केवल खुशीलाल की डायरी में ही मिलता है)। देसानी ब्रिटेन गोलमेज़ सम्मेलन की रिपोर्टिंग के लिए आया था। इस पहली गोलमेज़ में गाँधी जी नहीं आये थे।

नोट : गोल-मेज़ सम्मेलन में मेज़ गोल नहीं थी - और शायद मीर सुल्तान खान एक नौकर भी नहीं था। हाल में ही एक अंग्रेज़ ग्रैंडमास्टर 'सुल्तान खान : एक हिन्दुस्तानी नौकर जो बरतानिया साम्राज्य का शतरंज का चैम्पियन बन बैठा' नामक क़िताब लिखने की हिमाक़त कर बैठा। सुल्तान खान की पोती (जो केम्ब्रिज से अर्थशास्त्र की पढ़ाई कर चुकी थी) ने उस अंग्रेज़ को अंग्रेज़ी में ही ज़बरदस्त डाँट लगा दी। सुल्तान खान की पोती की तीन आपत्तियाँ थीं, पहली तो यह कि उसने सुल्तान खान को एक 'हिन्दुस्तानी' नौकर क्यों बोला - १९४७ तक वो बरतानिया सल्तनत का बाशिन्दा रहा और उसके बाद एक गर्विला पाकिस्तानी। दूसरे वो एक 'नौकर' भी नहीं था बल्कि पीरों के ख़ानदान से ताल्लुक़ रखता था जिसके पास खुद की एक सौ चौदह एकड़ ज़मीन थी। तीसरे वो अनपढ़ नहीं था और अच्छी-ख़ासी अंग्रेज़ी जानता था। इन तीन नुक़्तों को विस्तार से लिखकर पोती ने माँग की कि यह अंग्रेज़ ग्रैंडमास्टर सुल्तान खान के परिवार से माफ़ी माँगे और अपनी क़िताब को वापिस ले। इन पंक्तियों को लिखे जाने तक यह बहस जारी है। पर हमें तो जो देसानी और अन्य लेखक बता गये हैं, वही बताना पड़ेगा।

१.३ ३० दिसम्बर १९३०, वेवर्ली होटल, हेस्टिंग्स

होटल के गलियारे में खड़ा सुल्तान खान अपने गले को बार-बार मफ़लर से ढकने की कोशिश कर रहा था। उससे यहाँ की ठण्ड सही नहीं जा रही थी और उस पर शतरंज का खेल। कहाँ फंसा दिया कर्नल साहब ने। उसे यकीन हो चला था कि अगर वह ज़्यादा देर यहाँ रहा तो मर जाएगा। क्या मुसीबत! यह सब सोचते हुए जब वह प्लेइंग-हॉल में दाखिल हुआ तो वहाँ के दीवारों में फैली भाप की गर्माहट से उसकी जान में जान आयी। उसे लगा आज बाज़ी ठीक रहेगी। सामने भूतपूर्व विश्व चैम्पियन बैठा था। उसकी अपनी मुसीबत, अपनी सोच। वर्तमान विश्व-विजेता अलाईखीन से रीमैच को लेकर वह पेशोपेश में था। अपने ही विचारों में डूबा हुआ। पिछले वर्ष उसने यह टूर्नामेंट आसानी से जीत ली थी। इस बार मन कुछ उखड़ा हुआ था और सामने भारत से आया एक किसी नवाब का मुलाजिम। कैसा खेलेगा यह? कापा उत्सुक था। (वेवर्ली होटल का आज हेस्टिंग्स में नामोनिशान नहीं मिलता है। शायद उसको इस टूर्नामेंट के बाद तोड़ दिया गया।) अमेरिका के अभिशप्त जीनियस पॉल मर्फी के अवतार कापा का व्यक्तित्व भव्य था। सामने बैठ जाए तो आँख उससे हटती नहीं थी।

नोटः पॉल मर्फ़ी का पुनर्जन्म कोई हवाई उपमा नहीं था, कापा को असल में पॉल मर्फ़ी का अवतार समझा जाता था। इसके कई सबूत कापा के बचपन में मिल चुके थे।

१.४ ओल्ड रोअर गिल

हेस्टिंग्स का ओल्ड रोअर गिल का जंगल शहर के बीचो-बीच एक ऐसा स्थान था जहाँ चलते हुए मध्यकालीन युग में पहुँचने का एहसास होता था। कापा आज शाम की सैर उसी जगह पर करने का सोच रहे थे। ब्लड-प्रेशर की बीमारी थी और कापा सैर का शौकीन था। चहचहाते पक्षियों और वनस्पतियों के बीचो-बीच वह अपने आप को सहज कर पाते थे। चलना-सोचना।

सुल्तान खान के घोड़े की चाल -- समझदार कापा जैसे कोई घड़ियाल -- जो पानी पीते घोड़े की टांग पकड़ ले। सुल्तान खान भारतीय पद्धति का खेल जानता था। किलेबन्दी या तो करता नहीं था या फिर इतनी देर से कि कोई अज्ञानी खिलाड़ी हँसना ही शुरु कर दे। इसी भ्रम की स्थिति में ओल्ड रोअर गिल १९३५ में आम जनता के लिए खोला जाना था। कापा वहाँ सैर करते हुए चालें सोचना चाहता था। सुल्तान खान १९२८ में भारत का चैम्पियन बना। अब वहाँ उससे अच्छा खेलने वाला कोई नहीं था। अंग्रेज़ों का भ्रम हुआ कि वह केवल एक अनपढ़ नौकर है जो मोहरे घसीटने से ज़्यादा कुछ नहीं जानता -- न शतरंज के सिद्धान्त न उसका विज्ञान। पर ग़ौर करो तीन बार बरतानिया का चैंपियन बन बैठा। तो यह बहुत बड़ी ग़लतफहमी होगी जनाब। भारत में छोटे-छोटे राजाओं के यहाँ कई शतरंज के खिलाड़ी मुलाजिम थे। उनका काम ही था तनख़्वाह लेकर सिर्फ़ शतरंज खेलना। सुल्तान खान का जन्म १९०५ में हुआ पर उससे पहले भी कई कमाल के खिलाड़ी पूरे भारत में फैले हुए थे। पर यह ज़रूर है कि सुल्तान खान को पश्चिमी पद्धति की ओपनिंग के सिद्धान्त इतना नहीं

आते थे।

१.५ वेरा और फ़ातिमा

A screaming comes across the sky it has happened before but there is nothing to compare it to now - यह वाक्य लिखते हुए टामस पिंचोन के मन में वेरा थी कि नहीं, कह नहीं सकते पर अपनी मृत्यु से ठीक पहले वेरा के मन में यही वाक्य कौंधा था। तितली बम या Sprengbombe Dickwandig बम जो वेरा मैंचीक और उसकी बहन की जान लेने वाला था। वेरा फ़ातिमा को प्रैक्टिस करवाने नवाब के घर आती थी। सुल्तान के साथ-साथ फ़ातिमा भी बर्तानिया की चैंपियनशिप की तैयारी कर रही थी। थोड़ी-सी मोटी पर सौम्य मुख, हँसमुख और शान्त स्वभाव वाली वेरा की मृत्यु फ़ातिमा के लन्दन से जाने के कई वर्षों बाद हुई। वेरा सुल्तान खान को कई बार हरा चुकी थी। (वेरा और फ़ातिमा की कहानी विस्तार से बाद में।)

१.६ न्यूज़-रील

कितनी अजीब बात है सुल्तान खान के बारे में हम कुछ ज़्यादा नहीं जानते पर वह ज़माना न्यूज रील का था। पर ऐसा लगता है कि उसकी कोई ज़्यादा फ़ोटोग्राफी नहीं हुई। सुल्तान खान का खेल सीधा-सपाट। सिद्धान्तिक मोहरों का चुनाव बेहतर खानों पर बेहतर मोहरा रखता जाए खान। मध्य को हथियाता हुआ। उसे तेज़ शुरुआत पसन्द नहीं थी। एक बार शुरुआत हो जाए फिर देख लेंगे मिडिल गेम में या आखिर में।

१.७ a3 लाइन

जैसे ही सुल्तान ने a3 लाइन खेली कई पुरानी यादें लौट आयीं -- शिमला, मीठा टिवाणा में अभ्यास के दिन -- गुरबख्श राय, कृष्ण लाल सारडा। यह इंडियन डिफेंस कहाँ से आया जनाब?

१.८ नीला मफ़लर

अगर आज आसमान काला ना होता तो सुल्तान फिर से नीला मफलर न पहनता पर क्योंकि आसमान में फिर से काले बादल छाये थे, सुल्तान अन्दर से नीला स्कार्फ ले आया। पिछले कई दिनों से ठण्ड बढ़ती जा रही थी और यहाँ कोई सुनने को तैयार ही नहीं कि 'भाई मैं यहाँ मर भी सकता हूँ!', सुल्तान दबी आवाज़ में चिल्लाया। सुल्तान की आवाज़ पतली सी थी उसे दबी आवाज़ में चिल्लाने की आदत नवाब साहब की नौकरी के कुछ दिनों बाद हो गयी थी। ऊँची आवाज़ में चिल्लाना तो नवाबों के शौक होंगे। एक बात साफ़ कर दूँ, 'नवाब साहब इतने बुरे नहीं हैं बल्कि अच्छे हैं, भले हैं, वरना

मुझे यहाँ क्यों लेकर आते? नवाब साहब ने शतरंज खेलने के लिए मुझे अलग कमरा तक दे दिया है।'

१.६ अजीब-द-तुर्क

नवाब साहब तैयार होते हुए।

'जनाब आप निराश न हों। सुल्तान ने दो साल पहले ही पश्चिमी तरीका सीखा है। वर्ल्ड चैम्पियन बनने में समय लगता है साहब। आप ज़रा भी निराश न हों। बर्तानिया का चैम्पियन बन जाना यह कोई मामूली बात नहीं है पर बेचारे की शुरुआत इतनी तगड़ी नहीं है। जैसे कि किसी अंग्रेज़ ने बोला था उसका शुरुआती खेल के बारे में-- blood curdling jeopardy! बस शुरू की दलदल पार हो जाए तो उसका घोड़ा सरपट भागता है जनाब। ज़रा सोचिए अगर उसका जीवन ही उसकी शतरंज जैसा हो --शुरुआती हिचकिचाहट के बाद दौड़ने लगे। ओपनिंग पर काम करवा दीजिए बस।'

कभी-कभी नवाब और नौकर पगड़ी पहनकर शतरंज खेलते थे। उनकी पगड़ियाँ आपस में टकराती थी।

'एक बात बताओ, यह विंटर का क्या चक्कर है', नवाब साहब बोले। मालिक गुलाम मोहम्मद हँसा, 'अजीब ही है कर्नल साहब, मैं भी कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ। सुल्तान ने उसका कोई पिछले जन्म का उधार तो नहीं चुकाना? सब से जीत जाता है और उससे हार! कमाल है जनाब! सुल्तान टूर्नामेंट के टॉप पर होता है विंटर सबसे नीचे और जो एक मात्र गेम सुल्तान ने इस पूरे टूर्नामेंट में हारी होती है वह बस इसी विलियम विंटर से! अजीब है-- अजीब-अजीब द तुर्क!'

१.१० ओडो का काला घोड़ा

अगर कापा और सुल्तान की बाज़ी देखी जाए तो ऐसा लग सकता है कि सफ़ेद मोहरों से खेलने वाला काले से कई गुना बेहतर है, जबकि ऐसा नहीं था। कापा अपने श्रेष्ठतम फॉर्म में था। सुल्तान शुरुआत बहुत सीधी करता था-- ज़्यादा होशियारी या चमत्कार नहीं। वैसे भारतीय शतरंज में केवल चमत्कारी कम्बीनेशन खेलने वालों को श्रेष्ठ माना जाता था। उनका मानना था कि चमत्काररहित बाज़ी का हम आदर नहीं करते। सुल्तान ने अपना घोड़ा f3 पर रख दिया यानी Nf3 -- कापा ने भी कुछ वैसा ही किया -- nf6। सुल्तान ने मध्य हथियाया Q4 से। तो यह हुई रानी के प्यादे की शुरुआत यानी रानी के प्यादे की चाल (queen's pawn opening --nf3-nf6/ d4-d6/c4-bb7/nc3-e6/a3।)

(नोटः सुल्तान खान का यह सिस्टम कुछ सालों बाद बहुत प्रसिद्ध हुआ। सबसे ज़्यादा इसे अस्सी के दशक में कास्परोव ने खेला था।

नवीं चाल कापा की? 'मैं कुछ ज़्यादा महत्वाकांक्षी हो गया था' यह बात कापा ने उस रात खुद

से कही -- वह मेज़ पर बैठा अपनी इस चाल का विश्लेषण कर रहा था। कापा को यह बात दिलचस्प लगी कि यहीं हेस्टिंग्स में सन १०६६ में जब एंग्लो-सैक्सन सेना नॉर्मन सेना का पीछा कर रही थी तो उनकी रणनीति बिल्कुल ऐसे ही थी--उसके घोड़े की चाल जैसी! अगर वह पीछे रह कर अपने मोर्चा सुदृढ़ करता तो शायद बेहतर होता? बायु टेपेस्ट्री में ओडो का काला घोड़ा जैसे कि उसकी Ne4 की चाल! पर परिणाम बिल्कुल उल्टा! बाद में कापाब्लांका ने जब बायु टेपेस्ट्री फ्रांस के संग्रहालय में देखी तो पता नहीं क्यों उसको फिर से यही बाज़ी और उसकी Ne4 चाल याद आयी। हेस्टिंग्स और सुल्तान खान की बाज़ी-- विलियम हरामजादा या विजेता? -- उसकी और एंग्लो सैक्सन राजा हैरोल्ड की लड़ाई की याद क्यों आती रही? इस हार की पीड़ा हेराल्ड की आँख में लगने वाले तीर से कम नहीं थी। कमाल की बात यह है कि हेराल्ड की तरह कापा को भी दो तरफा आक्रमण का सामना करना पड़ा था। सुल्तान की चौदहवीं चाल h4! क्योंकि उसने किलेबन्दी नहीं की थी और डरा भी नहीं था। भारतीय पद्धति में अक्सर किला कोने में न बना कर, मध्य में ही बना लिया जाता है। इसलिए वह दो तरफा आक्रमण कर पाया था। इस अनोखे संयोग से कापा को दुख भी हुआ और अजीब-सी खुशी भी! उसने सुल्तान से दोस्ती कर ली और कुछ दिनों बाद उससे मिलने नवाब के घर भी गया। सुल्तान ने कापा को विस्तार से समझाया था कि भारतीय पद्धति की शतरंज कैसे खेली जाती है।

१.११ देसानी अपने आपको जीनियस मानता था

सत्रह की आयु में इंग्लैंड आकर कुछ ही महीनों में उसने लेबर पार्टी के मन्त्री जॉर्ज लैंसबरी को कैसे काबू किया, भगवान ही जानता है। उसको ब्रिटिश म्यूजियम की लाइब्रेरी में पढ़ने की छूट मिल गयी। अब वह किसी धमाके की फ़िक्र में था कि कुछ ऐसा करे कि तुरन्त नाम हो जाए। इतनी कम उम्र में ऐसी सोच शायद वाजिब ही है। तभी उसने सुना कि भारत से एक नवाब का नौकर इंग्लैंड में शतरंज खेलने आया है। उसके दिमाग में बिजली सी कौंध गयी। यह तो बढ़िया मौका है। नवाब जो खुद जॉर्ज पंचम का ए.डी.सी. है यानी नौकर का नौकर मालिक को हरा सकता है। उन दिनों देसानी बेहद ग़रीब था और ठण्ड इतनी ज़्यादा थी कि उसको अपने सेकण्ड-हैंड कोट को गर्म रखने के लिए उसमें पुराने अखबार ठूसने पड़ते थे। फिर भी उसने किसी तरह पैसों का इन्तजाम किया और सुल्तान खान की हर टूर्नामेंट में पहुँच जाता। शुरुआत में उसने कभी भी सुल्तान से मिलने की कोशिश नहीं की। बस दूर कहीं मंडराता रहता। उसे शतरंज में इतनी दिलचस्पी तो नहीं थी पर यह पूरी स्थिति बड़ी मजेदार थी। कुछ वर्षों बाद जब उसको पता चला कि नवाब की एक और नौकर फ़ातिमा ने औरतों की चैम्पियनशिप जीत ली है तो उसकी खुशी का तो ठिकाना ही न रहा। दो अनपढ़ नौकर यहाँ बर्तानिया में आकर इतने पढ़े-लिखे अंग्रेज़ों को शतरंज जैसी दिमागी खेल में हरा दें। कमाल ही तो है, और सुना है कि उन्हें पश्चिम-विधि की शतरंज सीखे हुए कुछ ही वर्ष हुए हैं। भारत में तो इनके मुकाबले का कोई खिलाड़ी नहीं होगा। पर ऐसे खिलाड़ी यूँ ही पैदा नहीं होते हैं-- पीछे एक परम्परा

होती है, एक पूरा सिस्टम होता है। अपने इस एक निष्कर्ष से देसानी आश्वस्त था। आगे जाकर वह ऐसे शातिरों की पूरी फौज ही ढूँढने वाला था। टूर्नामेंट में जब उसको कोई चाल समझ में नहीं आती थी तो इधर-उधर से पूछने लगता और कुछ देर बोरियत होने लगती और वापिस लौट आता। तब उसने एक अंग्रेज़ चेस-मास्टर विलियम विंटर से दोस्ती कर ली। सुल्तान खान विलियम विंटर से हमेशा हार जाता था जबकि वह उससे कहीं ज़्यादा तगड़ा खिलाड़ी था। विलियम जो भी देसानी को बताता या समझाता था, वह बड़ी तफ़सील से उसे अपनी डायरी में नोट कर लेता था। उसका मन था कि इस विषय पर वह या तो एक रिपोर्ट लिखें या फिर एक उपन्यास। उसने इस में से कुछ भी नहीं लिखा। बाद में उसने एक उपन्यास लिखा जो बहुत पसन्द भी किया गया (और जल्द ही भुला भी दिया गया)। उसके उस उपन्यास में कहीं भी शतरंज या सुल्तान खान का ज़िक्र नहीं मिलता है। देसानी चाहता था कि उस उपन्यास के बलबूते पर साहित्य का नोबल पुरूस्कार मिल जाये। भारत आकर उसने एक पत्रिका के सम्पादक खुशवन्त सिंह से मुलाकात की और उसको मनाया कि वह नोबल के लिए उसके नाम की सिफारिश करे। जब खुशवन्त सिंह ने इस बात पर हैरानी ज़ाहिर की 'कि एक किताब पर नोबेल कैसे मिल सकता है?' तो उसने जवाब दिया की एक अच्छी किताब दस औसत किताबों से तो बेहतर। खुशवन्त सिंह उसके इस तर्क से आश्वस्त नहीं हुए। देसानी का दिल टूट गया। खुशीलाल और प्रोफेसर ओलेग की तरह उसके मन में भी वैराग जाग गया। साधु बनकर वह दक्षिण भारत के शहर सेलम के समीप कहीं गुम हो गया। कई वर्षों बाद वह टेक्सस विश्वविद्यालय में बुद्धिज्म पढ़ाते हुए मिले। उनका देहान्त ९१ बर्ष की आयु में हुआ। उन्होंने कभी शादी नहीं की। आखिरी दिनों में विश्वविद्यालय के छात्रों ने ही उनकी देखभाल की थी।

नोटः उसमें से एक छात्र को इस अधूरे उपन्यास की पाण्डुलिपि मिली थी। वह छात्र एंटीफा का सदस्य था। कॉपीलेफ्ट के चक्कर में उसने इस अधूरी पाण्डुलिपि को इण्टरनेट पर डाल दिया और सबके सामने यह प्रस्ताव रखा कि कोई भी अगर इस उपन्यास को पूरा करना चाहे तो उसे पूरी आज़ादी है। मुझे यह बात ठीक नहीं लगी। मुझे लगा यह उपन्यास बेशक अधूरा ही हो, इसको छपना देसानी के नाम से ही चाहिए। इसलिए मैंने देसानी की अधूरी पाण्डुलिपि को ही छपवाने का प्रण ले लिया। देसानी अंग्रेज़ी का जीनियस बेशक था पर उसको हिन्दी नहीं आती थी फिर भी उसने इसे हिन्दी में लिखने का सोचा, यह थोड़ी अजीब बात है। भाषा थोड़ी पुरानी है और अंग्रेज़ी के शब्दों से पटी पड़ी है-- पर कहानी दिलचस्प है। पाठक अगर भाषा पर ज़्यादा ध्यान न देकर विषय-वस्तु को देखेंगे तो किताब का रस आएगा। कहानी अधूरी भी है और मज़ेदार भी। अगर कुछ त्रुटियाँ रह गयी हो तो इसे १७-१८ वर्षीय युवक के अद्भुत प्रयास के रूप में ग्रहण करें।

१.१२ कड़ाके की ठण्ड

हेस्टिंग्स का मौसम -- इस ठण्ड से बढ़ कर कुछ होता है क्या? मीठा टिवाणा की तपती धरती और लू इससे कितनी बेहतर। इस अनजाने देश में अकेले ठण्ड को सह पाना मुमकिन था क्या? अकेलेपन से ठण्ड का अहसास बढ़ गया था। सुल्तान कुछ सोच नहीं पा रहा था। ठण्ड से दिमाग सुन्न हो गया था। नवाब साहब ने सुना तो हँसे। ग़नीमत है तापमान इतना भी कम नहीं था -- ७

और २ डिग्री के बीच लटकता रहता था। फिर भी बुखार, गला खराब।

१.१३ फ़ैसला

सुल्तान खानरू पतला शरीर। सांवला रंग। पिचके हुए गाल। शर्मिला नौजवान।

उमर हयात खानरू देख कर ऐसा लगे कि अभी तलवार निकालकर किसी का सिर काट दे।

सुल्तान खान का सामना आज कापाब्लांका से था। नवाब साहब सुल्तान से ज़्यादा नर्वस थे। इसलिए उन्होंने फैसला किया कि वह आज टूर्नामेंट हॉल नहीं जाएँगे।

१.१४ हेस्टिंग्स में शतरंज की कांग्रेस १९२० से शुरू हुई थी

नार्मन विलियम द हरामजादा खुद भी एक शतरंज का खिलाड़ी था। भतीजे से जब वह हारा तो शतरंज का बोर्ड उसके सर पर फोड़ दिया। (उसको शक हुआ कि भतीजा बेईमानी कर रहा था।)

१.१५ हेस्टिंग्स का चेस-सेट और अलर्ट घोड़ा

सुल्तान खान जब सुबह उठा तो गला खराब था। खाँसी कल से बेहतर थी। आज की बाज़ी को ले कर थोड़ी खुशी, थोड़ा उत्साह और थोड़ी घबराहट थी। उसने अपनी बिस्तर के पास पड़ी शतरंज की बिसात पर एक सरसरी नजर दौड़ायी। कुछ खास विचार नहीं आया। वही पुरानी घिसी-पिटी चालें। कुछ ऐसा नया करूँ कि कर्नल साहब खुश हो जाएँ। सुल्तान के कमरे में दो ड्रेसिंग टेबल थे। शीशे के अन्दर शीशा और उसमें उभरती अन्तहीन छवियाँ। शतरंज की चालों का तिलिस्म। सुलतान के होटल का कमरा। एक सोफा। टेबल। छत से लटकती गोल लाइट। बिस्तर दो दीवारों के कोने में फिट किया गया था। खाट के सामने एक स्टूल जिस पर उसने शतरंज का बोर्ड रख दिया था। आधी दीवार सफ़ेद, आधी पर वॉलपेपर। अजीब सा कमरा। नहा-धोकर सुल्तान बाहर निकला। कमरा श्वेत-श्याम था पर बाहर का गलियारा बहुत ज़्यादा रंगीन। हरे रंग के बड़े-बड़े खम्बे। पीला ज़र्द पियानो। लाल सोफे। नीली छत। दीवारों पर सुनहरी बत्तियाँ। हैट टांगने के लिए सुनहरे स्टैंड। सुल्तान ने एक बार सोचा भी था कि शायद हैट पहन लेनी चाहिए थी। पर पहन नहीं पाया-- शर्मा गया। एक दो बार पगड़ी ज़रूर पहनी पर बाद में उसको भी त्याग दिया। गुलाबी रंग की लैंप-शेड के नीचे बैठकर नाश्ता किया और आज होने वाले खेल के बारे में सोचा।

१.१६ प्रश्न और उत्तर

प्रश्न : जैसा कि हर बड़े ग्रन्थ की उत्पत्ति एक प्रश्न से हुई है, उसी तरह ही जनाब मैं आपसे पूछता हूँ, क्या 'भारत में ऐसा कोई शतरंज का खिलाड़ी हुआ है जिसने अंग्रेज़ों के ज़माने में अपना लोहा मनवाया हो, धूम मचा दी हो, इस निरीह देश में खाली पेट जीनियस कोई हुआ है?'

उत्तर : हाँ, एक नौकर। नौकर का नौकर। बात थोड़ी पेचीदा है। भारत तब एक बड़ा देश था। अभी टुकड़े नहीं हुए थे इसलिए कहना आसान नहीं। आज़ादी के बाद सुल्तान खान का घर पाकिस्तान कहलाया। पर कहानी केवल उसकी ही नहीं बल्कि उस एक जीनियस के पीछे खड़ी उस पूरी जमात की है। अजीबो-ग़रीब लोग। शतरंज के खिलाड़ी दरबार में ऐसे मुकर्रर किये जाते थे जैसे कि लड़ने वाले मुर्गे। कई राजा और छोटे छोटे नवाब जिन्हें मुर्गे-बटेर लड़वाने का शौक था, उन्होंने शतरंज के खिलाड़ी भी रख लिये थे। यह कहानी उस जमात की है -- विलक्षण, थोड़े सनकी पर कुल मिलाकर बहुत मज़ेदार लोग।

१.१७ सुल्तान की सैर

सुल्तान का रंग सांवला। शर्मिला। पतली आवाज़। काले बाल। पिचके हुए गाल। कद में थोड़ा छोटा। चौड़ा माथा। कमरे में लगे दो शीशों में मुँह देख तैयार हुआ। तय किया कि टूर्नामेंट हॉल तक पैदल ही जाएगा। थोड़ा खाना पच जाएगा, रगों में खून दौड़ेगा -- फिर तो कई घण्टे बैठना ही है। शतरंज खेलते हुए सुल्तान खान कभी अपनी कुर्सी से नहीं उठता था। घण्टों तक कोई हरकत नहीं। उसकी सोच उसके गालों के नीचे हिलती एक मांसपेशी में थी। शतरंज का खेल एक नशा है। होटल से बाहर निकला। होटल ऐसा जैसे दो आयामी कार्डबोर्ड। बाहर से सपाट पर अन्दर घुसते ही तीन आयामी दुनिया। दीवार पर आई वी की बेल चढ़ी हुई थी। आधी लाल ईंटे आदि हरी आई वी। सुल्तान दाहिने मुड़ा। सामने गली थी। दो दीवारें एक दूसरे की ओर झुकी हुई -- उसमें से निकलने के लिए एक पतली-सी जगह। सामने समन्दर का किनारा। कई गाड़ियाँ बेतरतीब ढंग से खड़ी हुईं। टूर्नामेंट हाल तक चल कर जाने में सुकून था। गली के मुहाने पर एक बार चलते हुए घर का ख्याल आया। अब्बा की सीख थी कि तगड़ी किलेबन्दी करो -- दुश्मन अन्दर न आने पाये। कभी गुस्सा न करना। ध्यान लगाना। एकाग्रता और शिद्दत से पोजीशन को तरह-तरह से परखना। चौकन्ना रहना -- एक क्षण की सुस्ती भी पूरी बाज़ी पलट सकती है। कृष्ण लाल सारडा और गुरबख्श राय के साथ खेलते हुए इन पहलुओं पर खूब काम किया जाता था। यह सीख अब्बा ने तब दी थी जब उसने देखा था कि सुल्तान कमज़ोर पोजीशन में हतोत्साहित हो जाता है। सामने ढलान, उसके ठीक बाद झुका हुआ स्ट्रीट लैम्प, कोने में एक दुकान पीछे अनगिनत मकान। तापमान ७ से ११ डिग्री के बीच। हेस्टिंग्स सुन्दर शहर था। अपनी सोच में सुल्तान आगे बड़ा तो सामने क्वींस रोड था। चौड़ी सड़क--दोनों तरफ भव्य भवन। सड़क के बायीं ओर तीन गाड़ियाँ खड़ी थीं। कुछ औरतें खरीदारी करती हुईं। शान्त धीमी जगह। गर्मी का मौसम होता तो शायद अच्छा होता। ठण्ड में सुकून भी ठण्डा। तभी सुल्तान एक दुकान के सामने ठिठका -- शीशे से शतरंज के घोड़े के आकार का केक दिख रहा था। ऊपर वाली मंजिल पर दो खिड़कियाँ जिसके बाहर गुलदस्तों में रंग-बिरंगे फूल खिले हुए थे। केक के ऊपर लिखा हुआ था -- हेस्टिंग्स का बड़े कान वाला चौकन्ना घोड़ा।

नोटः कुछ वर्षों बाद इस टूर्नामेंट के नाम से हेस्टिंग्स चेस-सेट का निर्माण किया गया था। उस चेस-सेट की खास बात उसका खड़े कानों वाला चौकन्ना घोड़ा था।

१.१८ कापा की सैर

कापा जब सुबह उठे तो सबसे पहले शीशे में अपना मुँह देखा -- उनके कमरे में भी छत से लटकती एक गोल लाइट थी। शीशे के सामने शीशा जिसमें से झाँकते अनगिनित कापा। कापा सुन्दर थे। पढ़ने के शौकीन -- बिस्तर पर कई किताबें बिखरी हुई थीं। हेस्टिंग्स में हर साल एक शतरंज के अन्तर्राष्ट्रीय सितारे को आमन्त्रित किया जाता था। इस साल के सितारे कापा थे। कापा अपने सितारे होने को लेकर सजग थे। सजधज कर टूर्नामेंट हॉल जाते थे। आज उन्होंने भी टूर्नामेंट हॉल तक पैदल जाने का निर्णय किया। इधर-उधर गलियों में बने मकानों को देख कर कापा ने लम्बी साँस ली -- शुक्र है यहाँ ब्रिटेन में आर्ट-डेको नामक बीमारी अभी तक घरों के अन्दर नहीं घुसी। (अलबत्ता होटलों के गलियारों में पहुँच गयी थी।) होटलों के ऐसे माहौल में कापा अपने आप को असहज महसूस करते थे। कारण कई और भी थे -- रहस्यमय औरत की अफ़वाह तो ज़ोर पर थी ही -- आजकल कापा का ज़्यादातर समय खेल की तैयारी के बजाय चिट्ठी-पत्र लिखने में जाता था। पहले अलयेखिन का पचड़ा ऊपर से हवाना में आर्थिक संकट। क्यूबा ने बजट कम कर दिया तो पद नीचा हो गया और फिर जुलाई १९३० को (यानी इस टूर्नामेंट के कुछ महीने पहले) उन्होंने कापा को काम से ही निकाल दिया था। कैसी जिल्लत का सामना करना पड़ा था! बेरोजगार कापा आज के अपने प्रतिद्वन्दी यानी नवाब के नौकर से कुछ ज़्यादा बेहतर हालत में नहीं थे। दिसम्बर १९३० से जनवरी १९३१ तक कापा यहीं हस्टिंग्स में रहने वाले थे। आज तीसरे राउंड में उनका मुकाबला दुनिया के सबसे बेहतरीन स्वभाविक खिलाड़ी सुल्तान खान से था। उन्हें हार का सामना करना पड़ा। बाद में कापा ने बताया कि बेशक वह अपनी बेहतरीन फॉर्म में नहीं थे पर यह निश्चित है कि सुल्तान एक जीनियस है। उन्होंने यह भी बताया कि कभी-कभी उनके दिमाग में से सब कुछ गायब हो जाता है। आज वही दिन था। फिर भी वह दूसरे नम्बर पर आया। एवे प्रथम और सुल्तान खान तीसरे। सुल्तान अगर ड्रा बाज़ियों को जीतने के चक्कर में उनको इतना न खींचता तो शायद पहले या दूसरे नम्बर पर आ जाता। आज की हार से कापा की ग्यारह साल चली आयी भाग्य-रेखा टूट गयी। पिछले ग्यारह सालों से कापा ने ब्रिटेन में एक भी मुकाबला नहीं हारा था। अलयेखिन से विश्व-विजेता का ताज भी तो वापस लेना था। ऐसा सोचते हुए कापा ने अपनी कपड़ों की अल्मारी खोली। छोटा कापा मर्फ़ी का अवतार -- अजीब तर्क की मशीन के अन्दर से बौने के रूप में बाहर आ आया। कापा ने आँखे खोलीं। सुल्तान की पहली चाल थी Nf3!

१.१९ पहली चाल - Nf3

सुल्तान खान अभी भी चाय की दुकान के सामने खड़ा इस चाल पर विचार कर रहा था। कापा दूसरी गली से आगे निकल गया। आर्ट-डेको की जिग-जैग छतें और दीवारें। शीशे और धातु का चक्र-वक्र। भूल-भुलैया। तिरछी लकीर। गोल कोने। चमकता काला शीशा -- जिसके कोने क्रोम से चमकाए गये थे। बस कुछ ऐसी ही चाल थी यह।

१.२० कापा की मिस्ट्री-वुमन और अहमद तोता

'मैंने लिखना बाद में सीखा, शतरंज खेलना पहले। मैंने कभी शतरंज का विधिवत अध्ययन नहीं किया -- जब खेलता हूँ तभी अध्ययन हो जाता है'

'आपने अपने से पहले महान शातिरों की बाज़ियाँ तो देखी होंगी?'

'नहीं जनाब बिल्कुल नहीं', कापा शान्त भाव से बोले।

कापा हेस्टिंग्स की गलियों में ऐसे चल रहे थे जैसे कि एक नवाब। धीरे-धीरे कदम बढ़ाते हुए। सधी हुई चाल। देसानी अचानक हाँफ़ने लगा था। क्या आज पूछ ले वह खास प्रश्न जो उसके मन में कई दिनों से कुलबुला रहा है? कर दे वह हिमाकत, खिड़की पर बैठे उस तोते जैसी जिसने महाराजा के सम्भोग में विघ्न डाला था? (उस रंग-भंग से उपजे अचानक अध्यात्म बोध से महाराजा को मोक्ष मिल गया था)। अली शातिर का अहमक तोता अहमद जो 'रुक जा मूर्ख' कह कर भागा था। इतनी उत्तेजना के बीच ऐसी फटकार सुन महाराजा का ध्यान अध्यात्म की ओर गया था। अली यानी करामत अली-- शतरंज का बेजोड़ खिलाड़ी था। पूरी दिल्ली में उस से बेहतर कोई नहीं था। सन १८४१ की बात है छियालीस वर्षीय करामत अली ने उसी राजा से शर्त लगा कर छह हज़ार रुपयों की बाज़ी जीत ली थी। उन दिनों के छह हज़ार मतलब आज के पैंतीस लाख। इस बात की रिपोर्ट ब्रिटेन में करते हुए एक अंग्रेज़ ने कहा था कि दिल्ली में आजकल शतरंज बड़ी मशहूर है। चूँकि हमने सारा भारत जीत लिया है मुसलमान और राजपूत अपना गुस्सा मैदान-ए-जंग की बजाय शतरंज की बिसात पर निकाल रहे हैं। अचानक देसानी रुका और कापा की ओर मुहँ करके बोला -

'मिस्ट्री वुमन की अफ़वाहों के बारे में कुछ कहना चाहेंगे? क्या सधी हुई चालों से मोक्ष मिल सकता है?', देसानी ने हिम्मत कर ही दी थी।

'मोक्ष?'

'हाँ मुक्ति।'

'मुक्ति, मोक्ष यह कैसी बातें कर रहे हैं आप?'

-- कापा देसानी के प्रश्नों के अजीबो-ग़रीब पैटर्न से सपकपा से गये थे।

देसानी ने कापा की तरफ ज़्यादा ध्यान न देकर अपना बोलना जारी रखा --

'गाने वाला तोता और सुई पिरोने वाली चिड़िया। चिड़िया अली के लिए बीड़ी जलाती थी जनाब। उसके एक कन्धे से फुदक कर दूसरे पर आ बैठ जाती और बीड़ी उसके मुँह पर लगाती, इस दौरान अली अपनी शतरंज में मसरूफ़ रहता था।

नोटः ब्रिटिश न्यूज रील कम्पनी पाथे ने १९२० में अली के पोते हसन को यह करतब करते हुए फ़िल्माया था। अब यह फ़िल्म इण्टरनेट पर देखी जा सकती है।

कापा हँसे, 'मैं भी शतरंज अपने मनोरंजन के लिए ही खेलता हूँ, यह बात अलग है कि थोड़े

पैसे भी बन जाते हैं। चालें मेरे अवचेतन से बस ऐसे ही आती हैं, जैसे किसी बैंक क्लर्क को हिसाब। जैसे वह अपना काम बखूबी करता है बस ठीक वैसे ही मैं। शतरंज में कोई मिस्टिसिजम या रहस्य नहीं है।'

'तो क्या आप गणित में अच्छे थे?'

'मैं जानता हूँ कि मेरे कई दोस्त मेरे से कहीं ज़्यादा गणित जानते हैं। हाँ, परीक्षा में मेरे नम्बर निन्यानवे प्रतिशत नम्बर ज़रूर आये थे।'

देसानी मुस्कराया और बोला 'जॉर्ज लैंसबरी की वजह से लाइब्रेरी में दाख़िला मिल गया था इसलिए थोड़ा शोध कर आया हूँ। लास्कर ने १६२२ की अपनी किताब Mein Wettkampf mit Capabalanca में साफ़ लिखा है कि कापाब्लांका का खेल साफ़ और सादा है-- लॉजिकल और तगड़ा। कोई रहस्य या छुपी हुई कृत्रिम सोच नहीं। आप उसके विचार उसके मुँह पर पढ़ सकते हैं -- अगर वह आप को चकमा देने की कोशिश कर रहा हो या आपसे डर कर ड्रा करके भागना -- सब उसके चेहरे पर दिख जाता है। पर यह सब होते हुए भी, उसका चेहरा पारदर्शी है -- उसको ठीक-ठाक पढ़ पाना आसान नहीं है। हमेशा विचारों में खोया हुआ कापा। उसको जटिलता पसन्द नहीं है। उसको पहले से ही पता होना चाहिए कि वह कहाँ की ओर अग्रसर है। खेल किस ओर जा रहा है, किस ओर जाना चाहिए। उसकी आत्मा एक गणितज्ञ की है, कवि की नहीं -- उसकी स्पिरिट रोमन है, ग्रीक नहीं।'

कापा यह सुन कर मुस्कुराए, बोले, 'शतरंज खेलते हुए क्योंकि हम बहुत पास-पास बैठते हैं इसलिए एक दूसरे का भाव पढ़ना बहुत आसान और महत्वपूर्ण हो जाता है -- दूसरे का मन पढ़ने की आदत पड़ जाती है। कभी-कभी तो अन्तर्यामी होने जैसी स्थिति आ जाती है, सामने बैठे चेस-मास्टर की खुशी, गम, गर्व और वासनाओं तक का पता चल जाता है।

'कभी-कभी ऐसा तो नहीं लगता कि सब कुछ छोड़-छाड़ कर किसी मोनेस्टरी का मोंक बन जाऊँ? -- देसानी ने टोका।

कापा हँसे बोले कि ऐसी कोई बात नहीं है -- 'मेरी याददाश्त बहुत कमज़ोर है। बचपन में जो एक बार पढ़ लिया, याद रहता था पर अब बिल्कुल उल्टा है। पहले तो तीन-तीन पन्ने इतिहास के पढ़ कर ज्यों के त्यों दोहरा देता था पर जैसे-जैसे बड़ा होता गया हूँ, कोशिश यही रहती है कि फ़ालतू की कोई भी चीज़ याद न रहे। बस जो चीज़ याद रखनी है वही रहे। इसका मैनें इतना अभ्यास किया कि मुझे भूलने की बीमारी सी हो गयी है। जैसे देखो मैं आपसे बातें करते हुए लगता है रास्ता भूल गया हूँ।'

'आप फ़िक्र न करें श्रीमान, मुझे याद है मैं भी तो वहीं जा रहा हूँ -- आपको ठीक समय पर पहुँचा दूँगा'। देसानी तुरन्त बोला, उसको डर था कि चिन्तित हो कर कापा कहीं यह दिलचस्प कहानी सुनाना न बन्द कर दें।

सामने हेस्टिंग्स की खाली सड़क पर खड़ीं इक्का-दुक्का कारें।

'मैं तो अपनी खेली हुई बाज़ी को भी याद नहीं रखता! यह बताना महत्वपूर्ण है कि इस भूलने की बीमारी को मैंने बड़ी मुश्किल व मेहनत से अर्जित किया है, इसके नुकसान तो जो हैं सो हैं पर फ़ायदा यह है कि बाज़ी जीतूँ या हारूँ -- कुछ देर बाद मेरा दिमाग स्वतः सब-कुछ भुला देता है। रात को सुकून की नींद आ जाती है।'

तभी सामने जाती कार को रास्ते देने के लिए कापा रुके और देसानी की ओर मुहँ करके बड़े अभिमान से बोले -- 'मुझे हर रात बिस्तर पर सुकून की नींद लेते देखा जा सकता है। देखिए एक शातिर की यादाश्त एक महान संगीतकार की यादाश्त जैसी होती है। जैसे कि एक महान संगीतकार पियानो पर बैठा और बस अवचेतन मन से बजाता गया बिना म्यूज़िक-शीट की तरफ देखे, उसी तरह शातिर बिना बाज़ियाँ रटे शतरंज की बिसात पर कई प्रकार की युक्तियों का निर्माण करता है। अगर संगीतकार कोई नोट भूल भी जाये तो उसको अगले या पिछले नोट का जो आभास होता है, उससे वह बजाना जारी रखता है। इसलिए मैं भी एक बार में एक ही चाल सोचता हूँ। संगीत और शतरंज में कुछ तो गहरा रिश्ता है, इस पर शोध होना चाहिए, फिलिडोर का उदाहरण ले लीजिए -- आधुनिक शतरंज सिद्धान्तों के जनक और एक महान संगीतकार।' कापा अपने तर्क से बड़े खुश थे--चहक रहे थे।

देसानी द कंट्रेरियन ने आदत अनुसार फिर से टोका और अपना ज्ञान बघारने के लिए एक लम्बी सूची उगल दी -- लास्कर गणित के प्रोफेसर। पॉल मर्फ़ी एक वकील। तराश एक डॉक्टर। पिल्सबरी -- वकील। अलायेखीन -- वकील। ज़ुकरटॉरट -- डॉक्टर। स्टॉनटन शेक्सपीअर के स्कॉलर। बक्ली -- इतिहासकार।

कापा चुप से हो गये। देसानी को भी अचानक ग्लानि ने आ घेरा, बात बदलने की कोशिश की, 'आज आप सुल्तान खान से खेलने जा रहे हैं, आपका इस हिन्दुस्तानी खिलाड़ी के बारे में क्या विचार है?' कापा थोड़े रुके, सोचे, फिर अपना फेडोरा हैट उतार कर उसकी क्रीज को थोड़ा ठीक किया और बोले, 'भारत एक गर्म देश है -- पहले के अनुभव हमें बताते हैं कि यहूदी और स्लाव लोग इस खेल में अव्वल रहे हैं'। 'तो फिर इस भारतीय मुसलमान खिलाड़ी के बारे में आपका क्या विचार है?' कापा थोड़ा सचेत स्वर में बोले, 'वैसे मुझे नहीं लगता कि शतरंज के लिए जाति का कुछ ख़ास महत्व है। पर हमें एक बात तो समझनी होगी कि शतरंज क्योंकि एक घरु खेल है तो ठण्डे इलाके इसमें बेहतर है -- नहीं मेरा यह मतलब नहीं था कि कोई भारतीय मुसलमान या हिन्दू शतरंज नहीं खेल सकता -- आप कृपया इस को अन्यथा न लें और आप मेरे तर्क को पूरा सुनें', कापा थोड़े याचना के स्वर में बोले, 'बात दोहराता हूँ --क्योंकि शतरंज खेल एक ठण्डोर खेल है इसलिए ठण्डे इलाकों में ज़्यादा खेला जाता है। ऐसे इलाकों में जहाँ मौसम अच्छा होता है, वहाँ आप अन्दर नहीं बैठ सकते। आपका मन बाहर आकर मटरगश्ती करने को ललचाता है।'

'और अंग्रेज़ खिलाड़ी?'

'अंग्रेज़ खिलाड़ी आमतौर पर धैर्यवान होते हैं --शतरंज खेलने के लिए बहुत बढ़िया गुण हैं -- अजीब बात यह है यह लोग अपने स्कूल का ज़्यादातर समय बाहर खुले में बिताते हैं, और तो और सर्दियों में भी बाहर रहते हैं -- शिकार वगैरह जैसी घटिया गतिविधियों में समय ख़राब करते हैं, इसलिए यह लोग शतरंज बचपन में नहीं सीख पाते हैं। बचपन में सीखी शतरंज की बात ही कुछ और होती है जनाब! इसलिए अंग्रेज़ों में अच्छे खिलाड़ी तो बहुत हैं एक भी ऐसा नहीं जो विश्व-पटल पर खड़ा हो सके।'

'भारत की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है अब शायद सुल्तान खान कुछ अलग करके दिखाए। हमारे यहाँ बात कुछ पेचीदा है, तवक्को की जाती है कि अच्छे घरों के लड़के इन सब खेलों से दूर रहें -- इस्लाम में यह खेल हराम है और हिन्दुओं में पाप। हिन्दुओ में वैसे थोड़ी उलझन है क्योंकि पहले भारत में शतरंज पांसो के साथ खेली जाती थी -- हमारे कई प्राचीन ग्रन्थों में पांसो को बहुत बुरा माना गया है।' कापा फिर से रुक गये और सोचने लगे 'पाँसो के साथ शतरंज कैसी होती होगी? इसका दार्शनिक आधार क्या है?'

'इस का दार्शनिक आधार हिन्दुओं की यह मान्यता है कि शतरंज जैसी गेम ऑफ द विल में भी भाग्य का दखल होना चाहिए।'

'यानी चाँस', कापा बोले 'बहुत दिलचस्प बात है -- 'फिर कैसे गायब हुए पांसे?'

'कुछ धर्म-शास्त्रों ने मना किया और ऊपर से पेशावर के आस-पास ग्रीक आ गये'

'वैसे यह ग़लत धारणा है -- जैसे पहलवान शरीर की कसरत करते हैं ठीक वैसे ही यह दिमाग़ी कसरत के तौर पर ली जा सकती है --वैसे जनाब आज तारीख क्या है?' कापा अचानक चिन्तित स्वर में बोले

'दिसम्बर ३१- १९३०' -- देसानी ने तारीख़ बतायी पर कापा बिना सुने ही तेज़ क़दमों से आगे बढ़ गये। देसानी अपने जगह ठगा सा खड़ा था। तभी कापा अचानक पीछे मुड़ कर चिल्लाये -- आज की बाज़ी के बाद ओल्ड रोअर गिल की सैर पर मिलना -- कुछ और बातें पूछनी हैं आपसे।'

१.२१ सुल्ताना बुलबुल

और जैसा तय हुआ था कापा और देसानी एक बार फिर मिले। ओल्ड रोअर गिल एलेग्जेंडर पार्क के उपरी हिस्सों के साथ-साथ गुजरती थी। एक संकरी सी घाटी जिस के तल पर एक छोटी साफ़ नदी निरन्तर बहती रहती थी। अभी तक यह जगह आम जनता के लिए नहीं खोली गयी थी -- कापा को वहाँ सैर करने के लिए लिए ख़ास इजाज़त लेनी पड़ी थी। कापा सोचते हुए धीरे-धीरे चल रहे थे क्योंकि वह आज की बाज़ी हार चुके थे देसानी ने सोचा शतरंज की बजाय किसी और विषय से बात शुरू करनी चाहिए। गिल का रास्ता बहुत सुन्दर था। तभी कापा रुक गये और बड़े ध्यान से नीचे ध्यान देखने लगे। देसानी भी उत्सुकतावश पास आकर खड़ा हो गया -- बैंगनी रंग के पौधे के समीप

एक घोंघा घिसटता हुआ चल रह था -- पीछे गीली ज़मीन पर एक रेखा-सी बन रही थी। 'जीतोगे तो आप ही', देसानी फुफुसाया। 'नहीं!' कापा बोले, 'मेरी इस हार के बाद एवे के पास जीतने के ज़्यादा अवसर हैं। मेरा ग्यारह साल का रिकॉर्ड टूट जाएगा -- पिछले ग्यारह सालों में मैंने बरतानिया में कोई भी प्रतियोगिता नहीं हारी है।' कापा अपनी लाठी टिकाते हुए आगे बड़ गये। देसानी को दृश्य लुभावना लगा। गहरी कटी हुई घनी घाटी। एकदम शान्त। कभी-कभी किसी पक्षी की आवाज़ से सन्नाटा और गहरा जाता था। फर्न और हरी काई से भरे हुए रास्ते पूरे माहौल को बहुत ही सुन्दर और रहस्यमयी बना रहे थे। कापा अपने काले हैट और सूट में धीरे-धीरे लाठी टिकाकर चलते हुए उदास लग रहे थे। ऐसा लग रहा था जैसे इस संकरे हरे रास्ते के जरिए वह इस प्रकृति के साथ एक हो जाएँगे -- उसका हिस्सा बन जाएँगे। देसानी भागते हुए उनके पीछे आया और बोला, 'जनाब यह जो पक्षी आप देख रहे हैं जिसे अंग्रेज़ फ्लाइकैचर कहते हैं -- हम हिन्दू लोग दूधराज और मुसलमान सुल्ताना बुलबुल कहते हैं -- सुल्तान इसको सुल्ताना ही कहता होगा।' कापा पहली बार खुल कर हँसे, 'कमाल है शहर के बीचो-बीच इस गिल में आकर ऐसा लगता है जैसा कि आप किसी मध्ययुग में पहुँच गये हैं -- नॉर्मन हरोलड और एँग्लो--सैक्सन विलियम की लड़ाई यहीं कहीं हुई होगी -- आपने बायु टेपेस्ट्री देखी है? अंग्रेज़ों ने उसकी एक नक़ल बनवायी थी।'

'हाँ देखी है --हूबहू -- बस नग्न छवियों के गुप्तांगों को ढक दिया -- पर इतनी भयंकर लड़ाई में नग्न लोग क्या कर रहे थे साहब?' देसानी ने पूछा।

'मेरी आज की बाज़ी मुझे इसी लड़ाई जैसी लगती है मैंने अगर अपना घोड़ा इतनी जल्दी आगे नहीं बढ़ाया होता तो ...जब युद्ध के समय यह अफ़वाह फैली की विलियम मारा गया है तो विलियम ने अचानक मुड़कर हेलमेट खोलकर अपना चेहरा दिखाया था। ठीक वैसे ही मुझे इस प्रतियोगिता में अपनी वापसी करनी है और अलयेखिन को हेल्मट खोल के अपना मुहँ दिखाना है कि मैं अभी भी मैदान में डटा हुआ हूँ।'

'आपके कहने पर मैंने पूरी कहानी पढ़ी है जनाब -- पर मेरे विचार से हैरल्ड मरा नहीं बल्कि ईसाई साधु बन गया था। जब विलियम द हरामजादा के बारे में पढ़ रहा था तो पता नहीं क्यों मुझे रैम्जी मैकडॉनल्ड्स की बार-बार याद आ रही थी। सुल्तान खान उन्हीं की वजह से यहाँ आ पाया है।'

'उसकी वजह से? कैसे?', कापा की उत्सुकता जागी।

'रैम्जी ने गोलमेज़ कांफ्रेंस बुलायी है। इसके मालिक उमर हयात खान जॉर्ज पंचम के ख़ास दोस्तों में से हैं -- इनको बरतानिया सरकार की तरफ से ख़ास न्योता गया था -- उनके गुप्त सलाहकार हैं। इसी कारण से यहाँ हैं आजकल। सुल्तान खान ग़रीब नौकर -- वह बेचारा यहाँ कहाँ खेलने आ पाता। जब नवाब साहब दफ़्तर जाते हैं तो यह थोड़ा-बहुत अभ्यास कर लेता होगा। हो सकता है कि जब यह गोलमेज़ ख़त्म हो जाए तो आप कभी इसका नाम न ही सुनो।'

'ओह अच्छा? अजीब बात है -- सुल्तान तो जीनियस है -- बिना किसी सिद्धान्तिक ज्ञान के यह इतना अच्छा खेलता है। अगर दो-चार किताबें पढ़ लेता तो पता नहीं क्या कर कर देता -- विश्व-चैम्पियन भी बन सकता था।'

'बन सकता था? क्यों महोदय? अभी फक़्त चौबीस साल का ही तो है। यानी आप से आधी उम्र का। आप तो

तैंतीस की उम्र में विश्व चैम्पियन बने -- अभी भी सुल्तान के पास नौ-दस साल हैं। क्या पता!' -- कापा ने स्वीकृति में सिर हिलाया, 'पर आपने ही कहा कि हो सकता है कि उसके मालिक के जाने के बाद वह कभी खेले ही न -- ख़ैर जैसा मैंने पहले कहा मौसम पर भी निर्भर करता है -- पर मैं यह जानने को उत्सुक हूँ कि विलियम से तुम्हें रैम्जी की याद कैसे आ गयी?'

'अरे आप नहीं जानते रैम्जी एक खेत पर काम करने वाले मजदूर की नाजायज औलाद है -- रैम्जी-द -हरामजादा -- विलियम-द-हरामजादा', ऐसा कह कर देसानी हँसने लगा। पर कापा को हँसी नहीं आयी -- उनकी तनी हुई भृकुटियाँ देखकर देसानी भी चुप कर गया।

'यह बायु टेपेस्ट्री किसने बनायी थी साहब,' देसानी ने बात बदलने की चेष्टा की।

कापा अभी भी देसानी के प्रश्नों की अजीबो-ग़रीब छलाँगों के अभ्यस्त नहीं हुए थे, इसलिए कुछ सकपका कर बोले, 'विलियम की पत्नी रानी मटिल्डा और उसकी दासियों का काम माना जाता है, यहाँ के लोग कहते हैं कि यहीं इंग्लैंड में ही किसी ने किया है। वैसे आजकल ब्रिटेन के लोग मानते हैं कि अच्छा ही हुआ नॉर्मन लोगों ने हमें जीत लिया नहीं तो हम एक अलग-थलग द्वीप ही रहते और कभी भी यूरोप का हिस्सा न बनते।'

' यह तो बिलकुल वैसी बात हुई जैसा कि कहा जाता है कि जब विलियम ने हेस्टिंग्स के समन्दर किनारे पर पैर रखा था तो फिसल गया था तब अपने सैनिकों के सामने अपना मान रखने और झेंप मिटाने के लिए जो मिट्टी हाथ में आयी उसको लेकर बोला अब जीत मेरी है!' देसानी ने अपनी मुट्ठी हवा में उठा दी थी।

'नॉर्मन हमले को अपना लिया -- बायु टेपेस्ट्री का श्रेय भी ले लिया -- यह अंग्रेज़ बड़े चालाक हैं साहब। भारत की कई उपलब्धियों का भी श्रेय ले रहे हैं।'

कापा ने शायद देसानी की बात नहीं सुनी और बोलना जारी रखा, 'मैंने अपने बेटे को केवल एक बार ख़त लिखा था -- तब वह तीन साल का था -- पहले वाक्य में ही हिदायत दी थी कि यह ख़त सम्भल कर रखना और उसको इक्कीस की उम्र में फिर पढ़ना। पढ़ने की यह उम्र एक इंसान का सबसे अच्छा समय होता है और उसके साथ-साथ दो ज़रूरी हुनर-- तैराकी और मुक्केबाज़ी, दोनों आने चाहिए, ताकि तुम अपने-आप की हिफ़ाजत कर सको -- पानी में और ज़मीन पर। इसी तरह मुझे भी अपनी ही सलाह पर अमल करते हुए सुल्तान खान से भारतीय पद्धति की शतरंज सीखनी चाहिए। सुल्तान खान का किलेबन्दी न करना और उसकी मिडल-गेम व अन्त पर जो पकड़

है, उसने मुझे बहुत प्रभावित किया है। इस प्रकार की शतरंज अलग सोच वाली परंपरा से ही उपज सकती है', ऐसा कहकर कापा ने बातचीत बन्द करने का संकेत दे दिया। बाद में उन्होंने सुल्तान खान से मुलाकात की और अपने शतरंज के प्राइमर में उसका एक छोटा-सा ब्योरा भी लिखा। उनका विवरण रुबेन फाइन द्वारा लिखे १९३५ के फोल्क्स्टोन ओलिंपियाड के ब्योरे से थोड़ा अलग था। 'आप जानना चाहेंगे कि सुल्तान खान ने आपको कैसे और क्यों हराया?' देसानी के ऐसा पूछते ही कापा का मुँह लाल हो गया। यह लाली गुस्से की ना होकर हाइपरटेंशन की थी जो उनको ठीक बारह साल बाद मार देने वाली थी। फिर भी उन्होंने सयंत भाव से जवाब दिया, 'कहिए, पर ज़रा जल्दी मुझे कहीं पहुँचना है।' देसानी को विश्वास था कि उसने एक बार बात कहना शुरू की तो वह पूरी सुन कर ही मानेंगे। उसने गला साफ़ किया और बड़े रहस्यमयी ढंग से बोला, 'पद्मव्यूह! जनाब पद्मव्यूह! बड़ी दिलचस्प बात है कि पुत्तूर नारायण भट्ट नामक एक मालाबरी ने एक संक्षिप्त पर बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ चतुरंग पर लिख डाला था -- चतुरंगअष्टका। जैसा कि नाम से ही ज्ञात है -- चतुरंगअष्टका यानी आठ शब्दों से बना हुआ। इसके दो छन्द ही ढूँढ़ पाया हूँ। भारत में यह खेल राजा और ब्राह्मणों को पसन्द था। इन छन्दों और मोहरों की चालों को समझना कम से कम मेरे लिए तो बड़ा मुश्किल काम है। छन्द जो इस्तेमाल हुए वह इस प्रकार से हैं, मसलन घोड़े की चतुर चौथी चाल तब प्यादे का आगमन और इस छद्मयुद्ध का रूप एक कमल जैसा। जिसे कहा जाता है सूचीरोजा, यानी सुई और कमल जैसा। तरह-तरह के राजाओं और मन्त्रियों से सजा हुआ। राजा आगे बढ़ता है अपने मन्त्री के साथ। वर्ग के आकार में खड़े होते हैं प्यादे। इनको पीछे से सहारा देते हाथी। उसकी रक्षा करते सैनिक, अन्ततः रथ की मदद के साथ जीती जाती है बाज़ी। यह सब संस्कृत में था जनाब, मैंने आपके लिए अनुवाद किया है। राजा अपने मन्त्री के साथ मिलकर यह कह कर शत्रु को छलावा देता है कि उसके पास तो केवल एक प्यादा है लेकिन पास में रखकर घोड़ा और हाथी, केवल एक प्यादे की चाल से जीत लेता है बाज़ी। शत्रु को छल से जीता जाता है जनाब!' कापा ने थोड़ा सोच कर बोला, 'आज की बाज़ी तो सुल्तान ने बहुत साफ़-सुथरी तरीके से जीती थी, तुम्हें क्या लगता है सुल्तान ने छल किया होगा? और वैसे इसमें बुरा भी क्या, एकदम जायज़ ही तो है शतरंजी छल। पर क्या उसने यह सब पढ़ रखा होगा?

'कभी-कभी हिन्दुस्तान में शास्त्रीय विद्या लोक-कथाओं, मुहावरों और कहावतों इत्यादि में घुसकर आम लोगों तक पहुँच जाती है। अब इस सब का ज्ञान उसको हो ही, कह नहीं सकते, नियम भी तो बदले हैं। नवाब ने दो हिन्दुस्तानी खिलाड़ियों को उसके अभ्यास के लिए नियुक्त किया था। हो सकता है उन्होंने बताया हो?'

'पर सुल्तान खान तो अनपढ़ हैं?'

'इसका भी पक्का पता नहीं, हो सकता है अंग्रेज़ी न जनता हो। पर अपनी भाषा में ख़ूब पढ़ा-लिखा हो। आप जब उनसे मिलेंगे तो पता कीजिए, सच क्या है। वैसे आजकल अलयेखिन भी कलकत्ता में है।'

'कलकत्ता में उसको क्या काम हो सकता है? कहीं कुछ गुप्त भारतीय पद्धतियाँ सीखने तो नहीं गया है?'

'साहब एक बात बताएँ, १९२७ से पहले आप उस से एक भी बाज़ी नहीं हारे थे फिर उसने आप को विश्व चैम्पियनशिप मैच में कैसे हरा दिया?'

'उसने मुझ नहीं हराया, मैंने अपने आपको हराया था। न मैंने कोई मानसिक तैयारी की थी और न ही शारीरिक।'

'अति-आत्मविश्वास! ग्यारहवीं बाज़ी ने आपको निराश कर दिया था। मैं जानता हूँ आपको हारने की आदत नहीं। हारने से अवसाद आ घेरता है। क्वींस-गैम्बिट-डेक्लाइन्ड छोड़कर कुछ और खेला होता तो शायद बात बन जाती।'

'सुल्तान खान से यही सीखना है बिल्कुल अलग तरह का खेल। ऊपर से अलायेखिन अपनी बाज़ियाँ भी तो सुधारता है।'

'सुधारता है? मतलब?'

'उनको और कठिन और दिलचस्प बना कर प्रकाशित कर देता है। हाल में ही उसने कहा कि मैंने फ्लाँ खिलाड़ी को मात्र पन्द्रह चालों में हरा दिया है और वह उसकी बेहतरीन बाज़ियों में से एक है। बाद में उसने वह बाज़ी शतरंज की एक प्रमुख पत्रिका में प्रकशित भी कर दी। बाज़ी वास्तव में बेहतरीन थी। पत्रिका ने उस बाज़ी के साथ उन दोनों का शतरंज खेलते हुए एक फ़ोटो भी प्रकाशित किया था। जब मैंने उस फ़ोटो को ध्यान से देखा तो उसमें स्पष्ट दिख रहा था कि वह दोनों पन्द्रह से कहीं ज़्यादा चालें चल चुके हैं। खैर इससे क्या फ़र्क पड़ता है उसने मुझे तो हरा ही दिया और आज का विश्व-चैम्पियन भी है।

'नवाब चाहता है कि सुल्तान अलयेखिन को हराये इसलिए उन्होंने उसे डिनर पर बुलाया है।'

'ओह! कहीं उसी दिन मैं भी न पहुँच जाऊँ इस बात का ध्यान रखना होगा।'

ऐसा कह कर कापा गिल के कोहरे में खो गये।

नोटः इस मुलाकात के बाद देसानी कभी भी कापा से नहीं मिला। उसने यह साक्षात्कार कहीं छपवाया भी नहीं। ठीक बारह साल बाद कापा की मृत्यु ब्रेन-हेमरेज से हुई। ब्रेन-हेमरेज का कारण उनके रक्तचाप का अचानक बढ़ जाना था। और रक्तचाप बढ़ने का कारण कापा की पहली पत्नी और बेटे के मुकदमे थे। यह वही बेटा था जिसकी तीसरी वर्षगाँठ पर कापा ने पत्र लिखा था और उसे इक्कीस वर्ष की आयु में उस पत्र को फिर से पढ़ने की हिदायत दी थी। मृत्यु के समय उनके बेटे की उम्र इक्कीस वर्ष थी।

अलयेखिन ने कापा के मृत्यु के बाद लिखा कि सन १९२५ में जब वह उनको हरा कर विश्व-विजेता बना था तब उसको अपने जीतने की उम्मीद कतई न थी। कापा उस वक़्त तक उससे कहीं बेहतर खिलाड़ी थे। उसने कापा की हार का कारण उनका अति-आत्मविश्वास बताया था। इस बयान के बाद अलयेखिन भी ज़्यादा समय जीवित नहीं रहे। उसकी मृत्यु कापा के जाने के चार साल

बाद रहस्यमयी परिस्थितियों में हुई। नाज़ियों का समर्थन करने के आरोप में उस को प्रतियोगिताओं के आमन्त्रण मिलने बन्द हो गये थे। सोवियत सितारे बोतनिविक (कहा जाता है कि खुशीलाल की डायरी का सबसे ज़्यादा फायदा उसी को हुआ था। वह जल्द ही विश्व-विजेता बनने वाला था) से होने वाली विश्व चैम्पियनशिप की तैयारी करते हुए उसकी मृत्यु एक छोटे से होटल में हुई। उसकी मृत्यु का एक अजीब-सा फोटो लिया गया था। आराम कुर्सी पर पड़े हैं। सामने टेबल पर बर्तनों का ढेर। गर्दन अपनी दायीं ओर लटकी हुई। पास में रखी किताबों की अल्मारी में इक्का-दुक्का किताबें। सामने की टेबल पर शतरंज की बिसात बिछी हुई -- उस पर एक भी चाल नहीं चली गयी है। यह फोटो देखकर ही देसानी ने निष्कर्ष निकाला कि या तो इनकी हत्या फ्रेंच डेथ-स्क्वॉड ने की है या सोवियत कम्युनिस्टों ने। १६४६ यानि जिस साल इनकी मृत्यु हुई, उसी साल अलयेखिन को एक टूर्नामेंट खेलने के लिए लन्दन बुलाया गया था। रूबिन फाइन और अन्य खिलाड़ियों द्वारा विरोध करने पर वह आमन्त्रण वापस ले लिया गया। रूबिन फाइन वही ग्रैंड मास्टर था जो सुल्तान खान को १६३३ के फोल्कस्टोन ओलिंपियाड के बाद डिनर पर मिला था। अलयेखिन अपने आखिरी दिनों में बेहद ग़रीब और बीमार था। उससे कोई बात नहीं करना चाहता था। वह अपने कमरे में ऐसे छटपटाता था जैसे कि पिंजरे में एक शेर। मौत से कुछ दिनों पहले तक उसे निरन्तर यह लगता रहा कि कोई उसका पीछा कर रहा है। यही बात बताने के लिए उसने अपने एक दोस्त को फ़ोन किया था और उसका आखिरी वाक्य था कि मेरे पास सिगरेट पीने तक के पैसे नहीं हैं।

देसानी के नोट यहीं खत्म हो जाते हैं। कितनी अजीब बात है, कुछ ही दिनों में यह तीनों, यानी कापा, अलाईखीन और रूबिन फाइन -- सुल्तान खान से बारी-बारी मिलने वाले थे।

कापा अपने सूट सेविल्ल-रो से सिलवाते थे। आज उन्हें अपने नये सूट को लेने वहीं जाना था। उन्होंने अपने दराज से लन्दन का मानचित्र निकाला और ग़ौर किया कि रीजेंट पार्क से सेविल्ल-रो कोई एक मील की दूरी पर था और रीजेंट पार्क के पास ही थी ऐल्बर्ट स्ट्रीट जहाँ सुल्तान खान अपने मालिक उमर हयात खान के साथ रहता था। चूँकि कापा चलना पसन्द करते थे, उन्होंने निर्णय लिया कि सेविल्ल-रो के दर्जी की दुकान से पहले रीजेंट पार्क जाएँगे और फिर वहाँ कुछ देर टहल कर सुल्तान खान के घर पे। सिविल-रो से पार्क तक पहुँचने में कापा को कुल पच्चीस मिनट लगने चाहिए थे और रीजेंट पार्क में घूम कर ऐल्बर्ट स्ट्रीट पहुँचने में पन्द्रह--यानी कुल चालीस मिनट की सैर। जबकि रीजेंट पार्क से उमर हयात खान की रिहायश केवल पन्द्रह सौ कदम की दूरी पर थी फिर भी कापा को पार्क से वहाँ पहुँचने में एक घण्टे से ज़्यादा का समय लग गया था। वह मिलने के समय से बहुत पहले ही पार्क पहुँच गये थे। काफ़ी देर इधर-उधर टहलते रहे थे। वर्तमान आर्थिक स्थिति, पत्नी, प्रेमिका, शतरंज की नयी पद्धतियाँ, घूम-घूम कर इन सब पर गहन विचार किया। कापा की ताकत -- उनका एकमात्र नशा -- उनका अकेलापन था, इसलिए उन्होंने सोचा कि नवाब के घर जाने से पहले अगर पार्क में थोड़ा अकेले टहल लें तो मन के अन्दर इतना अकेलापन इकट्ठा हो जाएगा

कि एक-आध घण्टा किसी के साथ बिता सकेंगे। इस एक-डेढ़ घण्टे में बहुत कुछ बदल गया। उस एक घण्टे की सैर के दौरान उन्हें आने वाले समय का पूर्वाभास-सा हुआ। उनकी शादी टूटने वाली थी। उनकी पत्नी क्यूबा के एक बड़े खानदान से आती थी। शादी के बाद गुस्से में उसके परिवार ने कापा की डिमोशन करवा देनी थी। कापा की दूसरी शादी ओल्गा से होने वाली थी। ओल्गा अपने आप को एक राजकुमारी बतलाती थी जबकि कोई नहीं जनता था कि वह वास्तव में थी कि नहीं। कापा कहीं जाना पसन्द नहीं करते थे और न ही किसी से मिलना। अगर किसी पार्टी में जाते भी तो कोई पुराना जनरल पकड़कर उससे किसी बीती जंग की रणनीति पर चर्चा करते। सुल्तान खान से मिलने के दो कारण थे : एक तो भारतीय पद्धति की शतरंज सीखना और उमर खान के साथ जंगी परामर्श करना। ओल्गा से उन्होंने शादी इसलिए की थी क्योंकि वह उनके अकेलेपन में बाधा नहीं डालती थी।

कापा दर्ज़ी की दुकान से अपना नया सूट पहनकर निकले थे। जेब में हाथ डाला तो शतरंज का एक मोहरा मिला। दुकान के बाहर निकलते ही ठिठके, यह क्या? क्या यह एक दर्जी का तरीका था, उनका सम्मान करने का या ऐसे ही कोई संयोग? कापा कुछ देर सोचते रहे, फिर मुस्कुरा कर उन्होंने मोहरा वापिस जेब में डाल लिया। कापा के घर पर कभी भी शतरंज का बोर्ड नहीं होता था जब भी कोई उपहार में मिलता, बच्चे ले जाते या मकान बदलते वक़्त गुम हो जाता। कापा ने मोहरा जेब से वापिस निकाल अपनी मुट्ठी में लिया और आगे बढ़ गये। ओल्गा ने बाद में 'लास्ट लेक्चरस ऑफ कापा' किताब की प्रस्तावना में इसका ज़िक्र किया और कापा ने सुल्तान खान से साथ होने आगे होने वाली मुलाकात का। कापा तीस साल उसी दुकान से सूट सिलवाते रहे थे। उनके पास ज़्यादा चीज़ें नहीं थी पर जो भी थीं, वे महंगी और अच्छी क्वालिटी की। वे अपना हैट तक नहीं बदलते थे जब तक वह घिस कर फट न जाए।

१.२२ ओल्गा का एरिका टाइपराइटर

कापा सोफ़े पर बैठे आज ही खरीदे हुए सस्ते शतरंज के बोर्ड पर नजर गड़ाये बैठे हैं। उनकी उँगलियाँ बड़ी नज़ाकत से लकड़ी के मोहरों को इधर से उधर कर रही हैं। वह रेडियो पर होने वाले अपने लेक्चर के लिए कुछ शतरंज के नक्शे यानी चेस-पजल्स बना रहे थे। ओल्गा कापा की सोच का हिस्सा बनना चाहती थी। कापा ने उसको खुश करने के लिए बोले -- 'लेक्चर तो हम दोनों ही लिखते हैं'-- वह इससे आश्वस्त नहीं हुई। कापा को पीले रंग के नोट पैड पर लिखते देख कर तुरन्त उसके पास गयी और बोली कि क्यों नहीं तुम मुझे डिक्टेट करवाते और मैं सीधा टाइप करती जाती -- तुम्हारे लिए कितना आसान होगा। 'पर मेरी प्यारी चेरी, तुम्हें तो शतरंज का कुछ भी नहीं पता -- स्पेनिश भाषा भी नहीं जानती।' ओल्गा ने बिना इन्तज़ार किये आनन-फानन में अपना टाइपराइटर सेट कर दिया और तुरत-फुरत में पूरा आर्टिकल टाइप कर दिया। इसी किताब में सुल्तान खान के साथ आज होने वाली मुलाकात का ज़िक्र आने वाला था। ओल्गा एरिका टाइपराइटर पर कापा की चालें चलती थी।

ओल्गा के एरिका टाइपराइटर पर देसानी के छात्र का एक बेतुका पर दिलचस्प नोटः

अर्नस्ट जूंगर की किताब और पहले विश्व-युद्ध में सिर से ऊपर निकलती गोलियाँ। ऐसा लगे कि हर बार टाइप करने पर गोलियाँ चल रही है। ट्रेंच में पहला विश्वयुद्ध। बहुत ही धीमी मौत जो आँकड़ों में बहुत तेज़ व भयानक दिखायी देंगी। ट्रेंच में ठण्ड और बारिश से सिकुड़ा हुआ छप-छप की आवाज़ करता हुआ एक सैनिक। मुहँ में गीला सिगरेट। यह सब याद आता है। जब मैं अपने एरिका टाइपराइटर को देखता हूँ, पर यह वह टाइपराइटर नहीं जिस पर अर्नस्ट जूंगर काम करता होगा। याद रखिए! यह बाद का है। ढूँढ़ने पर भी इसका रेजिस्ट्रेशन नम्बर नहीं मिला। एरिका टाइपराइटर ब्रेख़्त और आइरिस मर्डाक का चहेता। एरिका-दस और एरिका-बीस सुन्दर हैं। मेरे पास तो शायद १९६१ का है। प्लास्टिक का -- इतना सुन्दर नहीं। फॉट सुन्दर है। एक्शन ठीक पर अहसास हल्का है। मैंने इसको फिर भी ले लिया - क्यों ले लिया याद नहीं। मेरे सामने २०१० के उग्र-दर्शन का वह अंक खुला हुआ है जिसमें ब्रेख़्त अपने मुँह में सिगार लगाये सामने पड़ी बिसात पर ध्यान लगाए हुए हैं। सामने बैठे हैं वॉल्टर बेंजामिन -- इतना मग्न हो चुके है कि उनका चेहरा शतरंज की ओर न होकर हमारी ओर है। वह देखते हुए भी नहीं देख रहे हैं क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि उनका ध्यान शतरंज में ही है।

१९३४ की गरमियों की बात है वॉल्टर बेंजामिन ब्रेख़्त से मिलने डेनमार्क आये थे। वहाँ उन्होंने एक शतरंज की बाज़ी खेली जिसके तीन चित्र मिले हैं। अगर उन्हें ध्यान से देखा जाए तो पता चलता है कि बेंजामिन काले मोहरों से खेलते हुए फ्रेंच डिफेन्स खेल रहे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि ब्रेख़्त ने पहली चाल e4 चली है और बेंजामिन ने e6 -- इस बाज़ी को पुनर्जीवित किया जा सकता है,

1 e2–e4 e7–e6 2 d2–d4 d7–d5 3 e4–e5 c7–c5 4 f2–f4 c5–c4 5 g2–g3 Bf8–b4 check 6 Nb1–d2 Bb4×d2 7 Bc1×d2 f7–f6 8 e5×f6 Qd8×f6

थोड़े देर बाद का एक ओर चित्रः

बाज़ी थोड़ी आगे बढ़ चुकी है। इस चित्र में मोहरों की स्थिति कुछ इस प्रकार से हैः

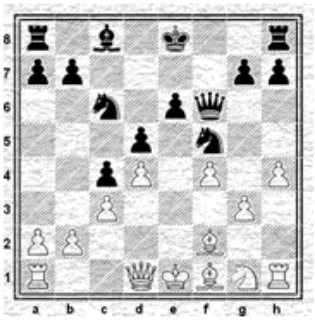

ब्रेख़्त सफ़ेद व बेंजामिन काले मोहरों से खेल रहे हैं। अब हम नहीं जानते कि इस वक़्त किसकी चाल है, सफ़ेद की या काले की -- जब मैंने यह स्थिति स्टोकफिश नामक अत्याधुनिक चेस एंजिन में डाली तो उसने कुछ ऐसा दिखाया-- यानी अगर ब्रेख़्त की चाल है तो वह बेंजामिन से बेहतर हैं। जबकि उनका राजा पूरी तरह से इक्स्पोज़्ड है। (शायद उनका अड्वैंटिज ज़्यादा देर रहेगा नहीं।)

+?¼+0-75½ 23 1-Qh5+¼8/32½ 1256 kn/s

1-Nf3 Nd6 2-Qe2 Bd7 3-Bg2 Qf5 4-Ng5 Ke7 5-h5 h6 6-Nf3 Rhc8 7-Nh4 Qd3 8-QÛd3 cÛd3 9-Rd1 Kf7 10-g4 Ne7 11-Nf3 Nc6 12-RÛd3 Ne4

+?¼+0-75½ 0:12 22/34 TB:0

और अगर काले की यानी बेंजामिन की चाल है तो ब्रेख़्त और भी कम बेहतर हैं। पर राजा इतना खुला छोड़ा हुआ है। अन्त में क्या हुआ होगा। कोई नहीं जानता रू

+?¼+0-30½ 27 1---O&O ¼1/43½ 1075 kn/s

1---O&O 2-Bg2 b5 3-Nf3 Bd7 4-Ne5 Qe7 5-a3 a5 6-h5 NÛe5 7-dÛe5 Bc6 8-g4 Nh6 9-Qf3 Nf7 10-Qh3 b4 11-aÛb4 aÛb4 12-O&O Nh6 13-Be3 Nf7 14-Bf3 b3 15-g5

+?¼+0-30½ 1:43 26/36 TB:0

फ़्रेंच डिफेन्स का अविष्कार १८३४ में दो शहरों--पेरिस व लन्दन के मध्य खेली गयी बाज़ी में हुआ था। यह बाज़ी चिट्ठी द्वारा खेली गयी थी। निमजोविच ने १९१० - १९२० में इसका विकास किया। १९३६ में ब्रेख़्त बेंजामिन को एक ख़त में लिखते हैं- हमारा चेस बोर्ड अनाथ बैठा है और हर आधे घण्टे में एक याद, एक कँपकपी सी कौंध जाती है- जैसे कि तुमने अपनी चाल चली हो।

ब्रेख़्त को बेंजामिन की मृत्यु की बारे में बहुत बाद में पता चला- १९४१ के उत्तरार्ध में, तब वह बेंजामिन के लिए एक कविता लिखते हैं :

Tactics of attrition are what you enjoyed
At the chessboard seated in the pear tree's shade-
The Enemy then drove you from your books; The likes of us\ Ground down] outplayed-
(To Walter Benjamin Who Killed Himself While Fleeing Hitler)

अजीब है- दो जर्मन दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान फ्रेंच डिफेन्स खेलते हैं। शतरंज को खेलने वाले जानते हैं कि e4-e6 से शुरू हुई बाज़ी ऐसी बनती हैं जैसे कि ट्रेंच में लड़ा हुआ युद्ध, पहला विश्व-युद्ध, अर्नस्ट जूंगर के सर से ऊपर निकलती और फिर छाती में घुसती फ्रेंच गोलियाँ। और बाद में इसका विवरण उनके एरिका टाइपराइटर पर टाइप होता हुआ, ऐसी ध्वनि- कि हर बार टाइप करने पर ऐसा लगे कि गोलियाँ चल रही है -- गोलियाँ छप रही हैं। अन्ततः एरिका एक ऐसे देश का टाइपराइटर बना जिसके बीचों-बीच एक दीवार थी।

१.२३ दस एल्बर्ट स्ट्रीट

रीजेंट पार्क चार सौ एकड़ में फैला हुआ था। गोलाकार -- उत्तर से दक्षिण की ओर ब्रॉड-वॉक इसको बीच में से काटती हुई। एक बार तो जान नैश ने इसका सत्यानाश लगभग कर ही दिया था। सामने जमी हुई झील पर फिसलते हुए उनको पन्द्रह जनवरी को हुए हादसे की याद आ गयी। क्वीन मेरी का बगीचा अभी-अभी साधारण नागरिकों के लिए खोला गया था। कापा शाही बगीचे के बीचों-बीच जाकर खड़े हो गये। कुछ शराबी मोटे जूते पहन कर उस पर फिसल रहे थे। उनको चौंसठ साल पहले हुए एक हादसे की याद आ गयी जब क़रीब दो सौ लोग जमी हुई बर्फ की परत के अचानक टूट जाने से इसमें गिर गये थे। इतनी सर्दी में ठण्डा बर्फीला पानी। कापा की कँपकपी छूट गयी। लगभग चार साल पहले उन्हें बिलकुल ऐसी ही कँपकपी छूटी थी जब अलयेखिन ने उनसे विश्व-विजेता का ख़िताब जीत लिया था। कापा को डर था कि कहीं सुल्तान खान के घर पर उससे मुलाक़ात न हो जाए।

कापा रीजेंट पार्क से होते हुए दस एल्बर्ट स्ट्रीट वाले पते पर पहुँच गये। हयात खान एक किराये के मकान में रह रहे थे। जब कापा गेट पर पहुँचे तो नवाब साहब बाहर छोटे से लॉन में बैठे हुए थे। उन्होंने कापा को देखा तो हैरान हुए -- पैदल ही आ गये? कापा भी हैरान हुए -- इतनी ठण्ड में बाहर क्यों बैठे हैं ? हिन्दुस्तान एक गरम देश है। इनको तो हमसे भी ज़्यादा ठण्ड लगती होगी। अन्दर किचन में सुल्तान खान जल्दी-जल्दी सन्तरे छील रहा था। बात यूँ थी कि जब भी धूप निकलती थी तो नवाब साहब अपने सारे काम छोड़ कर अपने छोटे से लॉन में बैठ कर संतरे खाते थे। उनके साथ दो और लोग बैठे हुए थे। उनके अर्दली गुलाम क़ासिम और एक शर्मिला सा नौजवान जो हाल में ही हिन्दुस्तान से आया था। नवाब साहब आराम से बैठ कर सन्तरों का इन्तज़ार कर रहे थे और यह दोनों ठण्ड में बुरी तरह ठिठुर रहे थे। कापा को देख कर गुलाम क़ासिम तुरन्त गेट की ओर लपका। शर्मिला नौजवान केम्ब्रिज में दाख़िला चाहता था। नवाब साहब उसके लिए सिफ़ारिश-पत्र लिखने

का सोच रहे थे। गुलाम क़ासिम ने गेट खोला। कापा मुस्कुराते हुए अन्दर आये। नवाब साहब ने आगे बढ़ कर उनका इस्तेक्बाल किया। नवाब साहब का किराये का घर लाला ईंटो का बन हुआ था। अन्दर के कमरे गहरे रंग के थे। नक़्क़ाशीदार गलीचे, मोटे परदे -- सर्दी से बचने का सारा इन्तजाम था। दीवारों पर तैल -चित्र। घर सुन्दर था और अच्छी जगह पर था। नवाब साहब इसको ख़रीदना चाहते थे पर बेटा मान नहीं रहा था। पिता की फिजूलखर्चियों से परेशान होकर उसने अपनी माँ के साथ घर छोड़ दिया था। उसको पिता का सुल्तान खान और फ़ातिमा पर इतना पैसा बर्बाद करना कभी अच्छा नहीं लगा था। (बाप-बेटे की बीच एक भयंकर झगड़ा होने वाला था)। कापा को लेकर नवाब साहब अन्दर आ गये थे। सुल्तान खान के हाथ में छीले हुए सन्तरे और मुहँ पर मीठी मुस्कान। हवा में सन्तरे की भीनी गंध। उधर उस नौजवान और गुलाम क़ासिम की जान में जान आयी। वे भी तुरन्त अन्दर आ गये। अक्सर बाहर ठण्ड में ठिठुरते हुए बैठना पड़ता था। नवाब साहब का घर कुछ इस तरह का था कि लॉन में धूप वर्गाकार रूप में केवल एक ख़ास हिस्से पर पड़ती थी। नवाब साहब एक धूप के टुकड़े को पकड़ लेते और वहाँ कुर्सी लगा मज़े से सन्तरे खाते। सामने छाँव में शर्मिला नौजवान और गुलाम ठिठुरते रहते। बाद में इन दोनों ने इस ठिठुरने का बदला अपने-अपने तरीक़े से लिया। शर्मिला नौजवान नवाब साहिब की सिफ़ारिश से केम्ब्रिज पहुँच गया और वहीं पढ़ते हुए ही उनके मन में हिन्दुस्तान से अलग और उससे भी पवित्र एक देश बनाने का विचार आया था। जब बाद में वह देश वाक़ई में अस्तित्व में आ गया तो उसके बनने के तुरन्त बाद ही नवाब साहिब की सारी जायदाद ज़ब्त कर ली गयी क्योंकि उनकी यूनियनिस्ट पार्टी एक तो धर्म-निरपेक्ष थी और ऊपर से बरतनिया सरकार की हिमायती। गुलाम क़ासिम ने अपना बदला नवाब साहब के पैसों का गबन करके किया था। जब नवाब साहब के बेटे के हिन्दू मुंशी ने इस गबन को पकड़ लिया तो नवाब साहब ने अपने बेटे से गुलाम कासिम को बक्श देने की गुहार लगायी थी। उन्होंने बड़ी मुश्किल से किसी समय वफ़ादार रहे नौकर का बचाव किया। यह बात बहुत कम लोगों को पता थी कि पहले विश्व युद्ध में इसी गुलाम क़ासिम ने नवाब साहब की जान बचायी थी। नवाब साहिब भी जानते थे कि अगर वह उसे बाहर ठण्ड में नहीं बैठाते तो शायद गुलाम यह हरकत नहीं करता। उसके बेटे ने अपने पिता की बात तो रखी पर इसके बदले में उनको यह लन्दन वाला घर ख़रीदने का विचार त्याग देना पड़ा। सुल्तान खान और फ़ातिमा की शतरंज का कैरीअर भी इसी कारण से ख़त्म हुआ। फ़ातिमा दूसरे कमरे में वेरा मानचिक के साथ बैठी अभ्यास कर रही थी। सुल्तान किचन के बीचों-बीच खड़ा मुस्कुरा रहा था। ड्रॉइंग-रूम की एक टेबिल पर शतरंज की बिसात बिछा दी गयी। बिसात सचमुच बिछा ही दी गयी थी क्योंकि वह लकड़ी की न हो कर कपड़े की थी। समुद्री जहाज से सफ़र करते समय सुविधा रहती है। नवाब साहब मुस्करा कर बोले। कापा और सुल्तान आमने सामने बैठ गये। नवाब साहब, रहमत अली और गुलाम मोहम्मद, फ़ातिमा और वेरा भी उनका खेल देखने आ गये। पर कापा की दिलचस्पी सुल्तान खान के साथ बाज़ी खेलने में नहीं थी। वह बात की तह तक पहुँचना चाहते थे और भारतीय पद्धति की शतरंज पर मशविरा करना चाहते थे। जब उन्होंने किसी तरह यह बात सुल्तान खान के

सामने रखी तो सुल्तान खान को तो अच्छा लगा पर बाक़ी सब मायूस हो गये और अपने-अपने काम पर चले गये। इस तरह वह एक बहुत ही उम्दा चेस के पाठ से वंचित रह गये। पहले तो उसने शतरंज का मतलब समझाया -- चतरंग से शतरंज से चेस तक का सफ़र -- बिसात पर बिछी बाज़ी। बिसात का मतलब गलीचा। गलीचा बिछता है साहब -- यह लकड़ी का बोर्ड नहीं। फिर कई नाम रुक्का, सुफ्रा, नट , राजा, शाह, पादशाह, मन्त्री, फरज, वज़ीर, फरजींन, फिला, हाथी, अस्प, घोड़ा, प्यादा, मन्त्री, इत्यादि। वज़ीर जिसे आप क्वीन कहते हैं -- वह हमेशा राजा के बायीं और खड़ा रहेगा -- जैसा कि वह राजा के दरबार में खड़ा रहता था। यह सब उसी हिसाब से होता है। शाह की पहली चाल घोड़े जैसी भी हो सकती है -- इसी से किलेबन्दी की जाती है। वज़ीर दुश्मन के राजा का सामना करता है। अंग्रेज़ी में इस पद्धति को क्रॉसवायर कहा जाता है। तभी सुल्तान खान को अपने दरबार की याद गयी -- नवाब घोड़े की तरह उछलता हुआ -- गुलाम क़ासिम बायीं ओर खड़ा - उसको हँसी आ गयी। उसकी हँसी ऊँची और पतली थी। 'हमारे यहाँ सफ़ेद-काले खानों का रिवाज न था। कई नियम इसी कारण से बने। कई बार तो हम ज़मीन पर बिसात बना कर पत्थरों से खेल लेते थे। प्यादे का पहला क़दम -- केवल एक। कई बार एक समय पर चार प्यादे एक साथ। अच्छा एक बात --राजा जब घोड़े की तरह उछले तो कोई मोहरा नहीं पीट सकता। अगर प्यादा आठवें घर पहुँच जाए तो बस वही बनेगा जिस जगह का वो प्यादा है -- यानी घोड़े के सामने वाला प्यादा आठवें घर पहुँच कर केवल घोड़ा ही बन सकता है -- आपके यहाँ तो आज़ादी है -- मनचाहा बनने की। हमारे यहाँ वज़ीर के आगे वाला प्यादा ही वज़ीर बन सकता है। नौकर का बच्चा नौकर -- राजा का बच्चा राजा। कभी दो वज़ीर नहीं हो सकते। अगर मोहरा जिन्दा है तो उसको मरवा कर ही अगले घर जा कर जिन्दा हो सकता है। तब तक उसको सातवें घर पर खड़े हो कर इन्तज़ार करना होगा। इन्तज़ार करते समय उसको कभी भी मारा भी जा सकता है। हमने भी अपनी शतरंज को तीन हिस्सों में बाँटा है -- अवैल-अद-दुरुस्त -- अवसात अद-दुरुस्त और आख़िर-अद-दुरुस्त। आधी जीती बाज़ी को बुर्द और ड्रॉ को बाज़ी-क़ायम। राजा अगर अकेला बच जाए तो उसको फक़ीर कहा जाता है जिसका कोई दोस्त नहीं। मुझे यह सब अपने पिता से पता चला। शतरंज की बाज़ी धीरे बढ़ती है -- एक राग की तरह। एक बार इस धीमी आँच पर पकने वाली बाज़ी की आदत लग जाए तो पश्चिम की तेज़ चालें बेहूदा लगती हैं जनाब', सुल्तान अपनी पतली आवाज़ में चहक कर बोला। कापा को तो विश्वास नहीं हुआ। भारतीय पद्धति की शतरंज ज़्यादा तार्किक!। हिन्दुस्तान जैसा पिछड़ा देश शतरंज जैसा खेल को कैसे इजाद कर सकता है ? इतने में नवाब अचानक अन्दर आ गये। उनके मुहँ पर हवाईयाँ उड़ी हुई थीं। उन्होंने इशारे से सुल्तान को अन्दर बुलाया। कापा सामने पड़ी बिसात को ध्यान से देखने लगे। (इस सब के अलावा भी बहुत कुछ बताया सुल्तान खान ने। पर न वो देसानी समझ पाया और न मैं। मैंने बहुत सी नोटेशंज पाठकों की सुविधा के लिए हटा दी हैं)। इस दौरान दरवाज़े के पीछे से आती कुछ आवाजें -- एक हरकारा आया था -- गुप्त समाचार ले कर। यह कोई आम हरकारा न था। ऐसे कामों के लिए ख़ास आदमी नियुक्त किया जाता था जो अपनी ख़ास टैक्सी में

आता था। उस टैक्सी का नम्बर हमेशा २६१ होता था। ध्यान दीजिए भारतीय गणितज्ञ रामानुजम जब बीमार पड़े थे तो हार्डी उन्होंने देखने इसी टैक्सी से गये थे। यह कोई संयोंग नहीं था महाराज। नवाब साहब के घबराने का कारण था उनका लाइट-बल्ब जिसके नीचे बैठ कर कापा और सुल्तान खान शतरंज खेल रहे थे। नवाब साहब लगभग चिल्लाते हुए बोले -- आज तारीख़ क्या है? सुल्तान खान ने तब कलेंडर जैसी कोई चीज़ निकाली -- वह एक मशीन थी -- उसमें वह कुछ नम्बर जल्दी-जल्दी टाइप करने लगा। और उसके बायीं ओर लगे हैंडल को जब उसने घुमाया तो उसके होश उड़ गये। इतनी देर में गुलाम क़ासिम भी अन्दर आ गया था। उसने हिसाब करके बताया की एक हज़ार घण्टों के ऊपर का समय हो चुका है। इतना सुनते ही नवाब साहब सोफ़े पर धप्प से बैठ गये। फीबस कार्टल केवल बल्ब का माफिया न था, बल्ब के माध्यम से वे लोग ऐसे कई सीक्रेट-सोसाइटीओं में घुस गये थे जहाँ पर दुनिया को कंट्रोल करने के तरीके इजाद किये जाते थे। नवाब साहब अभी नये-नये ही दाखिल किये गये थे इसलिए ज़्यादा घबराये हुए थे। उन्होंने दीवार पर से अपनी चाँदी की छड़ी उतारी और ताबड़तोड़ बल्बों को तोड़ने लगे। नवाब साहब की ग़लती बस यह थी कि उन्होंने सीक्रेट सोसाइटी के नियम का उल्लंघन कर दिया था। उन्होंने यह बल्ब अमेरिका से खरीदा था। शिकागो के पास एक छोटे से गाँव की औरतों ने यह बल्ब बनाया था। नवाब साहब ने अपना बल्ब तो फोड़ दिया पर उनके बाक़ी बनाये बल्ब कभी फ्यूज नहीं हुए। उनमें से एक आज भी जला हुआ है और शिकोगो के फायर डिपार्टमेंट के दफ़्तर पर लटका हुआ देखा जा सकता है। इस बल्ब का जन्मदिन हर साल मनाया जाता है। नवाब साहब को जब सीक्रेट सोसाइटी से निकाल दिया गया तो उन्होंने इसका बदला कापा को पूरा रहस्य बता कर लिया। पर यह सब तो बाद में होने वाला था, अभी तो उन्हें तैयार होकर सीक्रेट सोसाइटी की मीटिंग में जाना था। वह अपने साथ कापा भी को लेते गये। सीक्रेट सोसाइटी को जब पता चला कि नवाब अपने साथ कापा यानी शतरंज के भूतपूर्व वर्ल्ड-चैंपियन को लेते आये हैं तो उन्होंने उनको सेरेमनी में शिरकत करने की ख़ास इजाजत दे दी। उन्हें उम्मीद थी कि शतरंज के इतने महान ग्रैंडमास्टर जब हमारी सोसाइटी में शामिल होंगे तो हमारी शक्ति बढ़ेगी। इसके कई साल बाद एक शतरंज का विश्व-चैम्पियन बिल्डरबर्ग का मेंबर भी बना। उसकी कहानी बाद में। नवाब घबराकर कापा को साथ ले गये और कापा घबरा कर देसानी को। अब देसानी कैसे एडमिशन पा गया, भगवान ही जानता है। उस मीटिंग में देसानी की मुलाकात -- कुमारास्वामी, रत्ना देवी, अलिस्टेर क्राउली (दुनिया का सबसे बदमाश व्यक्ति जो खुद को एक बेहतरीन शतरंज का खिलाड़ी भी मानता था।) उस दिन उसने कापा के साथ एक बाज़ी भी खेली। उसका खेल अच्छा था पर चर्चिल का खराब। बाहर वही टैक्सी खड़ी थी। जाने से पहले नवाब ने जल्दी-जल्दी सुल्तान के कान में कुछ बात कही। कापा को हिन्दुस्तानी नहीं आती थी इसलिए ज़्यादा कुछ समझ नहीं पाए इतना ज़रूर पता चला कि बात शतरंज की थी और एंड-गेम के बारे में थी। कापा को तब तक पता नहीं था कि वह कहाँ जा रहा है। फिर भी उसने रास्ते में देसानी के अपार्टमेंट पर रुकने का फैसला किया और हो सके तो उसको साथ भी लेता जाए।

१.२४ उस मीटिंग में घटी कुछ खास घटनाएँः

क्राउली ने कुमारस्वामी से लड़ाई की। रत्ना देवी ने हिन्दुस्तानी राग गाया। चर्चिल ने हाल के बीचों-बीच रखे एक पुराने से शतरंज बोर्ड के नीचे लगा एक बटन दबाया तो उसमें से एक छोटा और एक अजीब सा दिखने वाला शतरंज का बोर्ड बाहर आया। वह शतरंज पाँसो से खेली जानेवाली थी। इस मशीन का इजाद लाला राजा बाबू ने किया था। इस सीक्रेट सोसाइटी में उस दिन कुछ खास गेम नहीं बनी -- हिटलर सत्ता में आ गया -- गोलमेज़ कांफ्रेंस विफल हो गयी -- चर्चिल ने बाद में लाखों भारतीयों को अकाल से मार दिया। जनरल डोयर और जनरल डायर भी उपस्थित थे। जलियाँवाला बाग के बाद जब उन पर मुकदमा चला तो नवाब साहब ने इसी मीटिंग के चलते उनका बचाव किया था। पर इस दौरान एक बड़ी विचित्र घटना घटी -- जब उन्होंने सारे मोहरे उस विशाल शतरंज के बोर्ड पर सजाये तो अजीबोग़रीब मुखोटे पहनकर कई लोग उसके आसपास खड़े हो गये। उन्होंने पाया एक मोहरा कम है तभी उनका सरदार जिसने लाल लबादा पहना था (और जिसका मुकुट सबसे विचित्र और भयंकर था) ने अपना हाथ बढ़ाया और बहुत ही विनम्रता से कापा से कहा -- 'कृपया मोहरा दीजिए कापा।' कापा सकपका गये, बोले 'मोहरा मेरे पास? मेरे पास मोहरा कैसे हो सकता है?' उन्होंने महसूस किया कि सरदार अपने मुखोटे के पीछे मुस्कुरा रहा है। उन्होंने घबराहट में अपना जेब में हाथ जो डाला तो उनको वही मोहरा मिला जो दर्ज़ी ने उनकी जेब में डाला था। ठीक वही मोहरा जो सामने बिछी बिसात से नदारद था। कापा घबरा गये, उन्होंने तुरन्त वह मोहरा मुखिया को दिया। उसने मोहरा अपनी जगह लगाया और ख़ूब रगड़ कर पाँसे फैंके। बाज़ी शुरू हो गयी थी। मुखिया ने पहले पाँसों पर दिखते नम्बरों को बड़े ध्यान से गिना और फिर उस हिसाब से चाल चल दी। इस पहली चाल में ही लोगों की आहें निकल गयीं। एक अजीब सी खामोशी छा गयी। तभी लोग पीछे हटे और कापा ने देखा कि पीछे वही शर्मिला नौजवान खड़ा है जो उन्हें नवाब के घर पर मिला था। इसके बाद एक सफ़ेद और हरे मुखोटे लगाए व्यक्ति ने उस चाल का बड़े ध्यान से मुआयना किया और कुछ बुदबुदा कर एक छोटे से कागज पर कुछ लिखकर अपने मुखिया को दे दिया। मुखिया ने उसको पढ़ा और सिर हिला कर शर्मिले नौजवान को पास बुलाया। जैसे ही वह शर्माता हुआ पास आया, उसने बड़े रहस्यमय अन्दाज में वह कागज़ का टुकड़ा उसके हाथ में दे दिया। कापा चूँकि अभी इस समाज के स्थायी सदस्य नहीं बने थे, उन्हें उस नोट को पढ़ने की अनुमति न थी पर बाद में नवाब साहिब ने उन्हें बताया कि उस कागज़ पर लिखा था कि नौजवान का केम्ब्रिज में दाख़िला हो गया है -- वहाँ वह एक नये देश का नाम सोचे--भारत के दो टुकड़े होने ज़रूरी है।

नोटः देसानी को यह सारा तमाशा दिलचस्प भी लगा और डरावना भी। पर सबसे आकर्षक लगा, वो यान्त्रिक चेस-बोर्ड जिसे किसी भारतीय केम्पलिन ने इजाद किया था। उसने भारत जा कर उसकी इजाद करने वाले लाल राजा बाबू (जिनका पूरा नाम लाल बाबू कायस्थ था) का पता चलाया। उनकी मृत्यु हो चुकी थी। उनके बारे में जो भी जानकारी उन्हें मिली वो तथ्यात्मक सी थी। देसानी ने भी उसे उसी शुष्क अन्दाज में लिख दिया।

१.२५ लाला राजा बाबू

एच. जे. आर. मरे द्वारा लिखित 'ए हिस्ट्री ऑफ चेस' (१९१३ में पहला इडिशन)-- शतरंज के इतिहास पर सबसे महत्वूर्ण व बड़ा काम। नौ सौ पन्नों का यह ग्रन्थ शतरंज के इतिहास को कई कोणों से टटोलता है। एच. जे. आर. मरे एक इंग्लिश स्कूल इन्स्पेक्टर और शतरंज के इतिहासकार। इनके पिताजी आक्स्फर्ड इंग्लिश डिक्शनेरी के पहले एडिटर। मरे ने अपने जीवन-काल में केवल दो पुस्तकें लिखीं, पहली तो 'ए हिस्ट्री ऑफ चेस' और दूसरी 'ए हिस्ट्री ऑफ बोर्ड गेम्ज अदर देन चेस'। शतरंज का इतिहास लिखने के लिए उन्होंने दस साल से ज़्यादा का समय लिया और पहली बार सबूतों के साथ साबित किया कि शतरंज का जन्म भारत में हुआ था। आज भी इतिहासकार इनके काम को प्रमाणिक मानते हैं। इस महाग्रन्थ में लाला राजा बाबू का नाम कुल पाँच बार आता है -- पृष्ठ ८२, ८३, ८७, ३४७ व ३६२ पर। लाला राजा बाबू ने १९०१ में 'मोआल्लिम-उल-शतरंज' नामक एक किताब भी लिखी थी। (उनसे पहले दुर्गाप्रसाद भी १८९० में रिसाला-ए-शतरंज लिख चुके थे।) सीसा का बेटा रूमी --पोता दाईर का। उसने ही तो अविष्कार किया शतरंज का। दीवाना-शाह के अविष्कार के बारे में सूचना हमें 'मोआल्लिम-उल- शतरंज' से मिलती है। एक ऐसे तरीक़े की शतरंज जिसमें राजा दीवाना हो जाता है -- यानी राजा अकेला और उसके ख़िलाफ पूरी फौज। हाँ, राजा के पास एक ख़ास ताक़त होती थी -- वह किसी भी मोहरे की तरह चल सकता था -- चाहे घोड़े की तरह कूदे या रानी की तरह लपके। लाला राजा बाबू पटियाला से थे। उनके पिता जी लाला छुट्टी लाल महाराजा राजेन्द्र सिंह मोहिन्दर बहादुर के समय सरकारी नौकर थे। लाला बाबू ने अपने पिताजी से शतरंज सीखी। १८९० में लाला बाबू राजा के ए.डी.सी. नियुक्त हुए। शतरंज के अलावा वे क्रिकेट के भी एक निपुण खिलाड़ी थे। हम सब जानते ही हैं महाराजा पटियाला खुद भी क्रिकेट जबरदस्त खेलते थे। रंगीन मिजाज़ महाराजा। शिमला का स्कैंडल-पोईंट उन्हीं के नाम से जुड़ गया, जब उन्होंने अपने तबेले की देख-रेख करने वाले अंग्रेज़ की बेटी को भगा कर शादी कर ली। अंग्रेज़ घबरा गये। उन्हें उनके होने वाले बच्चों का डर सताने लगा था। उनको ख़तरा था कि कहीं आगे जा कर यह मिश्रित रेस भारत पर क़ब्जा ही न कर ले। उन्हें हिन्दुस्तानियों से उतना डर नहीं लगता था जितना इस मिश्रित जाति से। लाला राजा बाबू को अपने जीवन का सबसे बड़ा सम्मान शिमला चेस क्लब में हर साल होने वाली टूर्नामेंट में सन १८९९ में मिला। उन्होंने यह ख़िताब २८ में से २७ बाज़ियाँ जीत कर हासिल किया था। उस समय हिन्दुस्तानी खिलाड़ी और ख़ासकर लाला राजा बाबू एंड-गेम के माहिर दिखते हैं। कर्नल हचिन्सन के साथ उनकी एक बाज़ी मिलती है -- खेलते हुए लाला बाबू एक मोहरा शुरू में ही गवाँ बैठे हैं पर बाद में उन्होंने विरोधी के राजा को खुले में -- बिलकुल बोर्ड के बीचों-बीच पटक दिया और जीत गये। १९०० में लाला बाबू ने २० में से १९ बाज़ियाँ जीत कर अपनी सफलता दोहरायी। १९०१ में फिर से। पर यह सब शतरंज के ख़िताब जीतने और एक किताब लिखने के साथ-साथ एक ऐसा विलक्षण अविष्कार उन्होंने किया (जो आज तक भी किसी को पता नहीं है।)।

उन्होंने एक 'ऑटमैटिक चेस रिकार्डर' भी बनाया था! एक तरह से उन्होंने चेस-बोर्ड को एक टाइपराइटर के साथ जोड़ दिया था। हर मोहरे के साथ एक चाबी जुड़ी हुई थी जो हर खाने के मध्य में स्थित एक सुराख़ में घुसायी जा सकती थी। जैसे ही आपने चाल चली इस सुराख़ में चाबी घुसाने से उसके साथ जुड़ा टाइपराइटर सक्रिय हो जाता था और चाल व समय (जो दो घड़ियों पर रिकॉर्ड होता था) उस पर अंकित हो जाता था। उसमें मोहरे का नाम और वह किस खाने पर रखा गया, सब कुछ। और अगर आपने दूसरे का मोहरा काबू किया है तो अपने मोहरे को घूमा दीजिए -- x(न) यानी घोड़ा या कोई भी मोहरा -- ऐसे आपकी पूरी बाज़ी संग्रहीत होती जाएगी। इसका पता हमें (पृष्ठ २६९-२७०) जुलाई १९०४ की ब्रिटिश चेस मैगजीन से चला है। कहते हैं उन दिनों कुन्दनलाल सहगल शिमला में टाइपराइटर बेच रहे थे और राजाओं की महफिलों में गा रहे थे और लाला बाबू अपनी मशीन को न बेच पाने के कारण निराशा थे। (आगे देसानी ने लिखा है कि उसने यह मशीन ढूँढने की बड़ी कोशिश की पर सफलता नहीं मिली।) यह मशीन कब और कैसे बनी और लाल राजा बाबू की मृत्यु कैसे हुई -- इसका जिक्र चौधरी खुशी लाल की डायरी में भी था पर उनका विवरण इतना अनोखा था कि इस पर विश्वास करना बहुत मुश्किल था।

ख़ैर :

अक्टूबर १८९५

लाला बाबू को बुलाया गया। वह अभी-अभी शिमला से अपनी नयी खोज 'कैसे दो ट्रेनों को आपस में टकराने से रोकें' का वायसराय के सामने कामयाब प्रदर्शन करके लौटे थे। इधर राजा साहब उनका बेसब्री से इन्तज़ार कर रहे थे। कल रात-भर मंत्रणा में थे, विषय था -- शतरंज का इतिहास। जब लाल बाबू को इसके बारे में बताया गया तो उनको आश्चर्य न हुआ। लाला बाबू कोई नौकर न थे। किसी छोटी रियासत के छोटे राजा के छोटे पुत्र रहे होंगे। अब वह बड़ी रियासत के राजा के ए.डी.सी. थे। मन्त्रणा कक्ष के बाहर पहुँचे ही थे, ठिठके, थोड़ा हिचकिचाये। ऐसा लगा अन्दर कुछ गहन बातचीत चल रही है। बाहर से ही खाँस कर अपने आने की सूचना दे दी। एक अर्दली बाहर आया। अन्दर जाने का इशारा करके बड़ी तमीज़ से दरवाज़े के साथ सट कर खड़ा हो गया। अन्दर एक बड़ी मेज़ के इर्द-गिर्द, बड़ी-बड़ी दाढ़ी वाली पाँच विद्वान बैठे थे। सामने ढेरों किताबें। राजा साहब विचारमग्न थे। लाला बाबू को आते देखा तो बड़े खुश हुए। उनको पास बैठने का इशारा करके वह वापिस पुस्तक में खो गये। लाला बाबू थोड़े असमंजस से इधर-उधर देखने लगे। तभी राजा साहब ने अचानक अपनी किताब मेज़ पर पलटी और कहने लगे -- 'मैं लाला बाबू का परिचय करवा दूँ, यह हमारे देश के शतरंज के चैम्पियन हैं। जिस विषय पर हम सब रात-भर बात करते रहे, मुझे आशा है लाला बाबू उसे अवश्य सुलझावेंगे। यह शतरंज के माहिर तो हैं ही, आविष्कारक भी हैं। हमें पूरी उम्मीद है, लाला बाबू वह मशीन बना ही लेंगे।' फिर उन्होंने लाला बाबू को विस्तार से बताया कि वह चाहते हैं कि शतरंज की चालों का मुद्रण करने वाली एक मशीन का निर्माण हो। अभी तक तो सब खिलाड़ी अपने

हाथों से ही अपनी चालें लिखते हैं। कई ग़लतियाँ करते हैं। कई बाज़ियों पर विवाद उठ खड़ा हुआ है। इसलिए वह चाहते हैं कि ऐसी मशीन हो जो अपने-आप हर चाल को रिकार्ड कर ले। इसके लिए उन्हें जिस चीज़ की भी आवश्यकता होगी, दिला दी जाएगी। पूरे विश्व के लिए यह एक नयी अनोखी चीज़ होगी। हम चाहते हैं कि हमारी रियासत ही इसका अविष्कार करे। लाला बाबू को बात जँच गयी। मन में खुशी हुई। कब से वह इसके बारे में सोच रहे थे। उनके पास इस मशीन का ब्लू-प्रिंट तैयार था। फिर थोड़ा घबराये। ज़रूर राजा साहब को इस का पता होगा ही। उनके गुप्तचर हमेशा आस-पास मँडराते रहते हैं। फिर मेरे मुहँ से ही क्यों सुनना चाहते हैं? क्या यह सब सुना कर मेरी परीक्षा लेना चाहते हैं? क्या मैं इनको बता दूँ कि मशीन तो लगभग तैयार है। लाला बाबू थोड़े संकोची स्वभाव के थे। कुछ हाँ या न, ऐसा ही कुछ बोल कर चुप हो गये। राजा साहब मन ही मन मुस्कुरा रहे थे। उनको पता चल चुका था कि लाला बाबू को बात भा गयी है, अब वह मशीन बना कर ही दम लेंगे। पर राजा साहब नहीं जानते थे कि लाला बाबू के मन में मशीन लगभग बन कर तैयार है। तभी अचानक एक लम्बे दाढ़ी वाले दार्शनिक ने दूसरे की दाढ़ी पकड़ ली। दोनों ज़ोर-ज़ोर से झगड़ रहे थे। लाला बाबू को थोड़ी हँसी तो आयी पर दबा कर बैठ गये। उनको महाराज की ऐसी गोष्ठियों के बारे में भली-भांति पता था। राजा साहब को पहले गुस्सा आया पर फिर झगड़े का कारण जानकर मन्द-मन्द मुस्कुराने लगे। अचानक लाला बाबू की तरफ मुड़े और बोले कि यह झगड़ा तो आपको ही सुलझाना पड़ेगा। लाला बाबू का चेहरा पीला पड़ गया। जब उन्हें झगड़े का कारण पता चला तो घबराये। अगर वह सन्तोषजनक उत्तर न दे पाये तो उसका परिणाम उनको पता था। झगड़े के तीन कारण थे --चतुर्रंग पहले चतुरंग और फिर शतरंज कैसे बनी? चतुरंग में पासों का इस्तेमाल क्यों होता था और शतरंज में क्यों नहीं? वज़ीर रानी में कैसे तब्दील हुआ? लाला बाबू मशीन तो बचपन से ही बना रहे थे। ब्लाइंड्फोल्ड खेलने में निपुण उनको मशीन की क्या ज़रूरत थी? रुई-लोपेज के Bb5 का तोड़ तो उन्होंने कब का निकाल डाला था। उनको कभी इसका श्रेय न मिला। (कालान्तर में वह बर्लिन-डिफेन्स के नाम से जाना गया।) मशीन का अविष्कार उन्होंने घर की तहख़ाने में किया था। तहख़ाने में लाला बाबू का टाइपराइटर संग्रहालय था। लाला बाबू को अपने टाइपराइटर संग्रह से बड़ा मोह था। वह मोह ख़ूब काम आया। टाइपराइटर को अगर शतरंज की भाषा सिखा दी जाए तो? यानी आप जैसे ही राजे के आगे रखा प्यादा दो घर आगे करें तो टाइपराइटर में हरकत हो और वह लिख दे -- e4। लाला बाबू खुशी से उछल पड़े थे। बाद में उन्होंने समय को मार्क करने का तरीक़ा भी निकाल लिया था। कुछ ही महीनों की मेहनत के बाद मशीन तैयार थी व बख़ूबी काम कर रही थी। पर कुछ बात थी कि लाला बाबू राजा साहब को मशीन दिखाने से क़तरा रहे थे। ऐसा क्या था आख़िर? लाला बाबू को आभास हुआ था कि मशीन कभी-कभी कहना नहीं मानती है और मनमाने ढंग से काम करती है। पहले-पहल तो उन्हें लगा कि उनकी मशीनरी में कुछ गड़बड़ है पर बाद में बात कुछ और लगी। मसलन जब वह अपने आप से खेलते थे तो जब काले की तरफ से खेलते थे, गोरे की तरफ से क्या

चाल चली थी, भूल जाते और गोरे की तरफ से खेलते तो काले की तरफ से क्या खेला था, सब भूल जाते। लाला बाबू थोड़ा घबराए हुए थे। ख़ैर राजा साहब के अनुरोध को तो ज़्यादा देर ठुकरा नहीं सकते थे। हिम्मत कर उन्होंने राजा साहब को अपनी इजाद के बारे में बता ही दिया। वह मारे खुशी के उछल पड़े। उसी समय वह लाला बाबू के तहख़ाने में गये और मशीन को अपनी आँखो से देखा। बाद में उन्होंने उस मशीन का पेंटट भी करवा लिया। राजा साहब यह मशीन पूरे संसार में बेचना चाहते थे। ब्रिटिश चेस मैगजीन में उन्होंने इस मशीन का इश्तेहार भी दिया था। अंग्रेज़ों ने इस पर कोई तवज्जो न दी। असल में उनको बड़ी तकलीफ़ हुई कि उन्होंने इसका अविष्कार क्यों नहीं किया। वैसे तो राजा साहब उनके आगे गुहार लगाते रहते थे कि उनके राज्य की तोंपों की सलामी बढ़ा दी जाएँ। अब उसी राजा का नौकर यह मशीन ले आए? इतना बुद्धिमान नौकर से तो पूरा बरतानिया राज ख़तरे में पड़ जाएगा। उन्होंने उस इश्तेहार को दबा दिया, यह कह कर कि भई होगी कोई मशीन। और थोड़ा सा मज़ाक बना कर यह भी कह दिया कि हम तो अपने हाथ से अपनी चालें लिखेंगे। किसी को लेनी हो यह मशीन तो पटियाला जा कर ले ले। इस तरह आज तक किसी को इस मशीन के बारे में नहीं पता। (यह पहली कहानी है जिसमें इसका उल्लेख हुआ है।) इसी तरह राजा साहब की उम्मीदों पर पानी फिर गया, न तो तोपों की सलामी मिलीं और न ही मशीनें बिकीं। राजा साहब को मशीन बहुत पसन्द थी, उसे हमेशा सिरहाने रखते थे। उसमें हमेशा एक उम्दा कागज़ लगा रहता था। जैसे ही राजा साहब कोई मोहरा हिलाते, शतरंज की चाल उस कागज पर अपने आप अंकित हो जाती। इस तरह कई बेहतरीन बाज़ियाँ संग्रहीत हो गयीं। (किताब के अन्त में ऐसी कुछ बाज़ियाँ दी जा रही है।)। इस दौरान लाला बाबू अपनी एक पुस्तक उर्दू में लिखकर 'यार-ए-शातीरी' दरवाज़े पर खड़े थे। आज क्रिकेट का मैच खलेकर लौटे थे। माथे पर पसीना था। जल्द ही यारे-शातीरी का एक-एक पन्ना राजा साहब को मुँहजुबानी याद हो गया। बोले, यह तो कमाल की पुस्तक है। हम इसका प्रकाशन खुद करेंगे। इस तरह जब वह पुस्तक प्रकाश में आयी तो अंग्रेज़ों को फिर भनक लगी। वह भी कुछ प्रतियाँ चुरा कर ले गये। बाद में उन्होंने उसका चोरी-छुपे अनुवाद भी करवा लिया। (आज भी इसकी एक प्रति ब्रिटिश लाइब्रेरी में सुरक्षित है।) आज सुबह से ही महाराज मशीन को सामने रख कर यारे शातीरी में दी गयीं बारह पहेलियाँ सुलझाने में लगे हुए थे। राजा साहब ने इन पहलियों को सुलझाने के लिए तीन दिन व दो घण्टे लिए। जैसे ही राजा साहब ने पहली पहेली हल की, उनको अजीब सा लगा। पहेली हल करने के लिए उन्हें दोनो तरफ से सोचना पड़ा था। जबकि वह खुद शतरंज के बेहतरीन खिलाड़ी थे और वह काले व गोरे, दोनों तरफ से सोचने में माहिर थे पर इस बार कुछ अजीब हुआ, काले की तरफ से सोचते तो गोरे की तरफ से क्या सोचा, भूल जाते और काले की तरफ से सोचते तो गोरे की तरफ से भूल जाते। इसका फल यह हुआ कि उन्हें अपने-आप से खलेने में ही रस आने लगा। किसी दूसरे की ज़रूरत ही नहीं। ऐसा सोच कर उन्होंने तय किया कि अब वह केवल अपने आप से खेला करेंगे। उन्होंने शतरंज की टेबल दरवाज़े के पास लगा दी और तय किया कि जब कमरे

से बाहर जाएँगे तो काले की तरफ से चाल चलेंगे और जब अन्दर आएँगे तो गोरे की तरफ से। हर बार। चाहे एक क्षण के लिए ही दरवाज़े से बाहर जाएँ। यह प्रक्रिया दोहराते रहेंगे निरन्तर। और उन्होंने ऐसा किया भी। उन्हें अपने-आप से खेलने कि लत लग गयी। हमेशा आनन्द में रहते थे। बाहर जाते हुए काले और अन्दर आते हुए गोरे। उधर लाला बाबू अंग्रेज़ों द्वारा की गयी अपनी उपेक्षा से प्रसन्न न थे। उन्हें क्या पता था कि जो बीज उन्होंने यारे-शातीरी में बोये हैं एक वक़्त एक नवाब का नौकर उन्हें सींच कर अंग्रेज़ों का बादशाह बन बैठेगा। मशीन हर क्षण के टुकड़े कर रही थी। विस्मृति उभरती थी, हर चाल व खटाक् की आवाज़ के साथ। क्योंकि मशीन आपकी हर चाल का मुद्रण करती थी, आपका मन पढ़ना उसका काम था। स्यालकोट से मँगवाये हुए महँगे सफ़ेद कागज पर यह सौदा होता था। मशीन कुछ ले नहीं रही थी बल्कि दे रही थी -- दो स्वभाव! एक दूसरे से अनभिज्ञ। महाराज का स्वभाव वैसे भी तो गोरे व काले में बँटा हुआ था। पर अब फ़र्क यह था कि काले को गोरे की व गोरे को काले की स्मृति न रही थी। आज ख़ास दिन था। महाराज क्वीन गैम्बिट डिक्लाइंड पर विचार करना चाहते थे। वह किंग्स इंडियन गैम्बिट के माहिर थे। उन्हीं की वजह से ही इस ओपनिंग का नाम किंग्स इंडियन रखा गया था। (लोग सब भूल जाते हैं।) तीन प्यादों से मध्य बोर्ड पर क़ब्जा करने की तकनीक उन्होंने अपने दादा से सीखी थी। उनके दादा मुग़लों व अफ़गानों से लोहा ले चुके थे। दादा ने यह तकनीक उनको युद्ध के वास्ते सिखायी थी। राजा साहब ने कभी लड़ाई नहीं की, वह अपनी इस शिक्षा को शतरंज के उपयोग में ले आए। पुरानी लड़ाई की तकनीक वैसे भी बेकार हो चुकी थी। अब तो दो कोस की दूरी से ही मध्य हथिया जा सकता था। पर शतरंज में यह तकनीक अब भी एकदम घातक थी। राजा साहब ने अपने दादा से जो भी सीखा, शतरंज में उसका उपयोग किया। पहले उन्होंने चतरंग सीखी। चार लोग खेलते थे। पाँसो का इस्तेमाल होता था। राजा साहब ने विचारा कि हो सकता है कि महाभारत में कौरव और पाण्डव चतरंग ही खेल रहे हों। शकुनि गांधार से ही तो था। अब चौपड़ के खेल में इतनी पेचीदगी और छल कहाँ। चतरंग के खेल में चार राजा होते थे। आपस में सन्धियाँ इत्यादि भी कर ही सकते थे। अगर कभी कोई राजा हार कर खेल से बाहर हो जाता था तो उसको वापिस भी लाया जा सकता था। अलग ज़माना था। अंग्रेज़ों के राज में यह सब मुमकिन नहीं था। राजा साहब ख़ुद भी बस नाम के ही राजा बचे थे। अंग्रेज़ों ने रंग-बिरंगे कपड़े पहना कर इन्हें अपने राजा का ए.डी.सी. नियुक्त करके ऐसा मुहँ बनाया कि कोई बहुत बड़ा अहसान कर दिया हो। लाला बाबू जानते थे के वह एक नौकर के नौकर हैं। राजा साहब चाहते थे कि और कुछ हो न हो कम से कम तोपों की सलामी ही बढ़ जाए। आज कुछ ऐसा ही सोचते हुए जब राजा साहब अपने कमरे से बाहर निकले तो उन्होंने गोरे की तरफ से चाल चली। वह जीत रहे थे। धीरे-धीरे बाज़ी बढ़ती गयी। किसी ने ध्यान नहीं दिया (सिवाय लाला बाबू के)। राजा साहब का स्वभाव विचित्र होता जा रहा था। गोरा वाद-विवाद, दर्शन, गुण, रीति, अलंकार वक्रोक्ति व ध्वनि इत्यादि पर ख़ूब चर्चा करता था। दूर-दूर से दार्शनिक व बुद्धिजीवियों को आमन्त्रित किया जाता था, जिनके रहने व खाने-पीने

की व्यवस्था महल में ही की जाती थी। राजा साहब उनसे रात-रात भर दर्शन व आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा करते। वीणा बजाते। सात्विक भाव से उद्यान में घूमते इत्यादि। काला इस सबके विपरीत भोग विलास में डूबा रहता था। व्यक्ति एक था स्वभाव दो थे। सब यह बात जानते थे और समयानुसार अपना आचरण बदल लेते। सबको इसकी आदत हो गयी और धीरे-धीरे महाराज के दो स्वभाव सहज रूप से स्वीकार भी कर लिये गये। अब इसके अलावा चारा भी क्या था? पर मशीन अपना काम जारी रखे हुए थी। राजा साहब का गोरा भाग, जब वह सफ़ेद मोहरा चलते थे और काला भाग जब वह काला मोहरा चलते थे -- एक दूसरे से अलग होते चले गये। राजा साहब का मस्तिष्क दो भागों में बँटा जा रहा था और एक भाग को दूसरे के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। राजा साहब काले की तरफ खेलते तो भोग विलास में डूब जाते और जब सफ़ेद की तरफ से खेलते तो दर्शन में खो जाते। इस तरह, हे पाठक, शरीर से एक व्यक्ति होते हुए भी राजा साहब मानसिक रूप से दो व्यक्तियों में बदल चुके थे। मशीन अपना काम जारी रखे हुए थी, वह इस पर रुकने वाली नहीं थी। और जैसे ही एक दिन जब काले ने गोरे को मत दी। (देखिए यह बाज़ी) मशीन ने खटाक् की आवाज़ से आख़िरी चाल को टाइप कर दिया -- खटाक् की आवाज़ इतनी ज़ोर की थी कि राज्य के लोगों ने सोच कि शायद भूकम्प आया है। उस आवाज़ के साथ एक चमत्कार हुआ। राजा के मस्तिष्क के साथ-साथ उनका शरीर भी गोरे और काले में बँट गया। राजा साहब के शरीर से एक और शरीर निकल आया। अब दो मस्तिष्कों के पास अपने-अपने शरीर थे। दोनों देखने में एक जैसे पर दोनों के दिमाग अलग-अलग। एक विलासिता में लिप्त, दूसरा ध्यान व दर्शन में मग्न। यह बात किसी को पता नहीं चली (ख़ुद राजा साहब को भी नहीं)। पूरे प्रदेश में बड़ी गड़बड़ हुई। महल के अन्दर तो और भी भ्रम की स्थिति थी। लोगों के आपस में मन-मुटाव तो हुए ही, कभी-कभार झगड़े की नौबत भी आ जाती थी। लोगों को ग़लतफ़हमी होती थी। (अपनी सुविधा के लिए हम अब राजा साहब को गोरा व काला कहेंगे)। मसलन जब काला अपनी रानियों के पास लेटा हुआ अंगूर खा रहा होता था तो गोरा बाहर बाग में बनायी अपनी कुटिया में ध्यान-मग्न होता था। इन दोनो घटनाओं के विपरीत गवाह होते थे और एक दूसरे को झूठा कहते हुए सिर फोड़ देते थे। बहुत दिनों तक किसी को पता नहीं चला कि राजा दो हो चुके हैं। फिर एक दिन लाला बाबू ने काले से खेलना शुरू किया तो गोरे ने उसकी मात दिखायी। लाला बाबू को शक हुआ। उन्होंने राजा साहब से अनुरोध किया कि उनके साथ खेलने का मौका दें, उसने एक नयी ओपनिंग सीखी है, बताना चाहते हैं, फिर उन्होंने एक साथ एक ही दिन दोनों से अलग-अलग ओपनिंग खेलीं तो पता चल गया। दोनों के जवाब अलग-अलग प्रकार के थे। उन्होंने यह बात सारे राज्य में ढिंढोरा पिटवा कर बता दी कि एक ही शक्ल के दो राजा हैं और लोग हैरान-परेशान न हों। कुछ ही दिनों में सब सहज हो गया। लोगों ने राजा के दो रूपों को एक साथ देखा ज़रूर पर उस पर आश्चर्य करना बन्द कर दिया। काले के कर्म और काले होते गये। अन्ततः अंग्रेज़ों ने उस पर कई लोगों की हत्या का मुकदम दायर कर दिया। (आज भी उस मुक़दमे की एक

प्रति शिमला स्थित वायसराय लाज जो अब भारतीय उच्च संस्थान के नाम से जानी जाती है, की लाइब्रेरी में देखी जा सकती है।) पर गोरा अपने यम नियम व संयम के कारण प्रजा में बड़ा लोकप्रिय हुआ। वह दर्शन, इतिहास, सौंदर्य-शास्त्र व शतरंज का प्रकाण्ड पण्डित माना जाने लगा। कुछ समय उपरान्त गोरे के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ। उधर ख़राब दिनचर्या के कारण काला बीमार पड़ गया और जल्द ही चल बसा। कहते हैं कि अपनी मृत्यु के दिन भी उसने दस अण्डों का ओमलेट खाया था। उसी दिन गोरे ने भी रात को चोरी-छुपे अपना सारा राज-पाट त्याग कर हिमालय की और प्रस्थान किया। वहाँ वह दूर एक गुफा में रहने लगा। कुछ वर्षों बाद भारत को अंग्रेज़ों से आज़ादी मिल गयी। गोरा अपने कर्मों के कारण अमर हो गया। कहते हैं अगर कोई शतरंज की बाज़ी तीसरी चाल व बिसात पर बत्तीस मोहरे रहते ही बूझ ले तो अमर हो जाता है। यह सिद्धि गोरे को तुरन्त ही प्राप्त हुई। आज तक भी संसार का सबसे बेहतरीन कम्प्यूटर केवल सात मोहरों की चाल ही बूझ पाया है। कुछ ही दिनों बाद लाला बाबू की मृत्यु हुई। कारण उनका शतरंज की बारह पहेलियाँ हल नहीं कर पाने की शर्म था। यह पहेलियाँ मशीन ने ही बनायी थी। (अभी भी महल के किसी तहख़ाने में वह मशीन सुरक्षित रखी हुई है)। मशीन की पहेलियाँ केवल गोरा हल कर पाया था। कहते हैं आज भी जब हिमालय की चोटियों पर बर्फ गिरती है तो चाँदनी रात में श्वेत वस्त्र धारण किये हुए एक वृद्ध आदमी अपनी सफ़ेद लम्बी दाढ़ी में दिखता है। अगर उसको कोई व्यक्ति दिखता है तो वह पहले तो उसे ब्लाइंड्फोल्ड शतरंज की बाज़ी के लिए आमन्त्रित करता है और अन्त में वही मशीन की बारह पहेलियाँ पूछता है।

यह रही मशीन की बारह पहेलियाँ, (मुझे ऐसा लगता है कि यह पहलियाँ मशीन की न हो कर -- लाल राजा बाबू की हैं। मरे की किताब में यह पहलियाँ उन्हीं के नाम से दी गयी हैं। और इसके हल जो हैं -- वो शायद खुशी लाल ने लिखें हैं)

१.

काले की चाल।
गोरे को मात --
पर बात नहीं इतनी आसान।
प्यादा को भाया अगर बना वज़ीर
तो कुछ नहीं पाया।
वज़ीर का शौर्य भी तो किसी काम न आया उसने तो केवल रथ के पहिये को अटकाया।
उधर प्यादा न बना ऊँट, न बना हाथी और न बना वज़ीर
फिर उसने दुश्मन को कैसे हराया? (तीन चालों में मात)

२.

गोरे की चाल --

प्यादे को बढ़ाया

जो जा रानी से टकराया --

कुरबानी दे कर हाथी से पिटवाया

३.

यह चाल तो सबसे आसान

गोरे ने सफ़ेद ऊँट के चक्कर में प्यादा आगे क्यों सरकाया?

धत तेरे की --

मैं इतना भी न सोच पाया? (एक चाल में मात)

४.

काले बेचारे की हुई पिटायी --
उसने अपनी रानी भी गँवायी --
गोरे के मोहरे छह
और उसके केवल तीन
फिर भी उसके पास
एक चाल थी ऐसी
जिससे उड़ जाए गोरे की नींद
प्यादा बड़ा पाजी
मारी ऐसी छलाँग
पीछे खड़े साथी ने भरी हुंकार
अपनी कुरबानी दे कर
काले ऊँट
ने पलटी बाज़ी

५.

गोरे का जी मचलाया

असब से फँसाया

रूख से ललचाया

६.

यह चाल सबसे मुश्किल --

लम्बी है चढ़ायी

अश्व का बलिदान

फिर आठ चालों का काम

७.

हे हाथी दे लालच रूख को
और जब वो हाथी को हथियाये
सरका दे सरबज को
तब
गोरा घर को जाए

८.

यहाँ सब उलटा है --
गोरा पहुँच गया है काले के घर
काला पहुँच गया है गोरे के
हम हार मानते हैं करते है गुहार

अगली चाल में जो होने वाले हैं शर्मसार
ऐसा दाँव चलिओ
एक चाल के लिए ही सही
स्थगित हो जाए निश्चित हार।

६.

वज़ीर का करके बलिदान
काले को दे दो चार चालों में मात

१०.

आसान है -- अगर सीधा सोचोगे आप
काले को दोगे -- दो चालों में मात
थोड़ा टेढ़ा होते ही --
निश्चित है हार

एक चाल की ही तो

है बात

११.

अगर गोरे का फरज चल गया सही चाल

तब काले शाह का होगा बुरा हाल

चिल्ला कर बोला -- 'हाय ओ रब्बा

मेरे पास तो केवल एक ही है मुरब्बा'

१२.

काले की है हालत ख़स्ता

उसके पास न कोई रस्ता

शुक्र है अभी उसी की है चाल

ढूँढो उपाय

नहीं तो अगली ही चाल में

काला अपने घर को जाए

१.२६ कापा की दुविधा --वज़ीर या फिर बिसात की रानी

कापा कभी भी इस बात का पता नहीं लगा पाये कि उनकी जेब से ठीक वही मोहरा क्यों निकला जो उस गुप्त संस्था की 'अजीब' बिसात से ग़ायब था। (इस बिसात का नाम 'अजीब' क्यों था, इसकी भी एक कहानी है) तो क्या यह सब पहले से तय किया हुआ षड्यन्त्र था? जेब से जो मोहरा मिला वह रानी यानी क्वीन था-- सबसे ताक़तवर मोहरा। कापा ने गौर किया कि वहाँ सब लोग उसे वज़ीर बोल रहे थे। भारतीय या अरब पद्धति से तो वह वज़ीर ही था। पर वहाँ तो सब पश्चिम के गोरे लोग थे -- वे लोग उस मोहरे को फेर्स क्यों कह रहे थे? उसे रानी कहने में क्या समस्या थी? आख़िर वज़ीर ही क्यों? चूँकि इतना कुछ अनोखा इतनी जल्दी घटित हो गया -- कापा को हर जगह षड्यन्त्र ही नज़र आने लगे थे क्या? जैसे कि उस मीटिंग में केवल मर्द ही थे -- एक भी औरत नहीं? तो क्या दुनिया को कंट्रोल केवल पश्चिम के गोरे मर्द ही कर रहे हैं? औरतों का इसमें कोई स्थान नहीं ? जैसे कि नवाब के घर पर बैठीं वेरा और फ़ातिमा। क्या इसी कारण वो यहाँ नहीं आयी थीं? कापा को थोड़ा अफ़सोस हुआ कि उसने सुल्तान के साथ एक भी बाज़ी नहीं खेली। कितने शौक़ से वे लोग उनका खेल देखने आये थे। वेरा और फ़ातिमा उस समय विश्व की दो सबसे बेहतरीन शतरंज खेलने वाली औरतें थीं। वेरा पच्चीस साल की और फ़ातिमा अठारह। ठीक उसी वक़्त वेर्नर मैग्नस मैक्सिमिलीयन फ़्लेहर वान ब्राउन अपने अध्यन -कक्ष में बैठा व-२ राकेट का ब्लू-प्रिंट बना रहा था। जब उसने वी-२ राकेट बनाया होगा तो उसने शायद ही सोचा होगा कि लन्दन पर गिरने वाले चौदह सौ दो में से एक वेरा के घर पर जा गिरेगा। वेरा का जीवन दुःख भरा था। (ऐसा लगता

है कि देसानी को इसके बारे में लिखते हुए बड़ा दुःख हुआ था।) रूसी कम्मूनिस्टों ने वेरा का घर उजाड़ दिया। पिता चेकोस्लोवकिया चले गये और माँ हेस्टिंग्स में आकर बस गयीं थीं। घर पर बैठी दो रानियाँ -- फ़ातिमा और वेरा। वेरा फ़ातिमा को सिखाने नवाब के घर पर आती थी। वैसे फ़ातिमा सुल्तान से भी सीख ही सकती थी पर नवाब ने यह उचित न समझा और वेरा को मुक़र्रर किया। वेरा को भी पैसों की ज़रूरत थी। वेरा केवल चौबीस साल की थी पर देखने में चालीस से कम न लगे। इसके उल्टा फ़ातिमा केवल अठारह वर्ष की पर देखने में सोलह की। वेरा विश्व-विजेता और फ़ातिमा नवाब की नौकर। वेरा एक अमीर घर में पैदा हुई और फ़ातिमा एक ग़रीब घर में। वेरा दुखी थी और फ़ातिमा सुखी। कम उम्र में इतना दुःख झेलना पड़ा था। व-२ बम की वो क्या ट्रेजेक्टरी थी -- एक बिशप की चाल की तरह जो वेरा के घर पर आ गिरा। जिस वक़्त कापा यह सोच रहे थे ठीक उसी क्षण वेरा ने रानी की चाल चल दी -- क्वीन एंड गेम। जब वेरा ने क्वीन बोला तो फ़ातिमा को लगा कि उसे इसको ठीक करना चाहिए -- बोली 'जी समझ गयी -- वज़ीर यहाँ से वहाँ चलेगा' -- 'नहीं' वेरा बोली 'रानी कहो' -- 'इससे हम दोनो को समझने में आसानी रहेगी।' फ़ातिमा पहले तो सुल्तान खान से सीखती रही थी। उसने उसे वज़ीर कहने की आदत डाल दी। अब रानी न बोला जाए। वेरा बेचारी ग़रीबनी। थोड़े से पैसों के लिए हर किसी को शतरंज सिखानी पड़ती थी। हरे रंग की संकरी सीढ़ी सीधी ऊपर जाती थी। वहाँ वेरा हाथ बाँधे खड़ी रहती थी। अगर कोई देर से आए तो हल्का सा डाँट भी देती थी। कमरे के अन्दर एक कोने में छोटी-सी अंगीठी के ताप में शतरंज का अभ्यास। थोड़े ही दिनों में खेल इतना निखर जाए कि हर और छुपी हुई चालें दिखने लगें। वेरा ने भी तो कहीं से सीखा ही था -- जी हैं! वही मरोकजी-पाश के जनक मरोकजी से जिसके रचे व्यूह ने बदला लिया उस घटिया बन्दे एल्बर्ट बेक़र से। एल्बर्ट बेक़र बड़ी बदतमीजी से बोला कि अगर कोई मर्द खिलाड़ी वेरा मेंचिक जैसी औरत से हार जाए तो उसे वेरा मेंचिक क्लब का सदस्य बना देना चाहिए। किस्मत का खेल समझिये या फिर मरोकजी-पाश का -- वेरा ने एल्बर्ट को ऐसे बाँधा जैसे सफ़ेद घोड़ा सी४ और ई४ प्यादों के बीच में -बाँधता है काले को, कि उस क्लब का पहला सदस्य वो खुद बन गया। तीस से भी कम चालों में वेरा ने उसे पछाड़ दिया था। मरोकजी पाश का तोड़ १९५० के बाद मिलने वाला था। तब तक वेरा मेंचिक जिन्दा न बची। वान ब्राउन के वी-२ बम ने उसकी केवल पैंतीस वर्ष की आयु में हत्या कर दी। 'अरबों का वज़ीर यूरोप की रानी में कैसे बदल गया। पहले तो वे भी फेरस बोलते रहे -- अचानक वेरा चौसेर की कविता ज़ोर-ज़ोर से गाने लगी। सामने बैठी फ़ातिमा चौंक गयी। कुछ समझ नहीं आया पर वेरा की आवाज़ में दुःख वही था जो उसके अपने से सत्ताईस साल बड़े पति के मरने पर हुआ -- वही दुःख जो नाइट को अपनी पत्नी के मरने पर हुआ -- जिसकी पत्नी वह रानी थी, जिसे वो हार बैठा था भाग्य की बिसात पर। वेरा की कुर्सी खिड़की के पास थी। वहाँ से वही धूप अचानक फूट पड़ी, उसके मुख पर जिसके लालच में नवाब ने अपना सत्यानाश करवा लिया था--

At the chess with me she [Fortune] gan to pleye; With hir false draughts [pieces] dyvers

She staal on me] and took my fers-

And whan I saw my fers awaye]

Allas! I kouthe no lenger playe-

मध्यकालीन खिलाड़ी जब चाल चलता था तो अपने मोहरे की कीमत केवल बिसात पर उसकी स्थिति से नहीं बल्कि उसकी समाज में क्या हैसियत है, उसको भी ध्यान रखता था। जैसे कि नाइट को रूख के समान माना जाता था जबकि बिसात पर उसकी ताक़त उसके मुक़ाबले कुछ भी न थी। जैसे कि मौगालिए। सुल्तान और फ़ातिमा की हैसयित भी ऐसी ही कुछ थी। और वह इससे भली-भाँति परिचित थे।

'पूर्वी औरतें शतरंज की चैम्पियन रहीं हैं क्या?' 'हमारे पश्चिम के मिथकों में पूर्वी औरतें रहस्यमय-- बेहतरीन शातिर पर इश्क़ में कमज़ोर पड़ जाने वाली सुन्दरियाँ।', वेरा मुस्कुरायी। सामने बैठी फ़ातिमा उतनी ही सुन्दर -- अंग्रेज़ी न जानते हुए भी शर्मा गयी। वज़ीर रानी किस साल बना होगा? फ़ातिमा ने टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में पूछा -- सन एक हज़ार के आस-पास। वज़ीर वैसे तो बहुत निक्कमा था -- एक बार में एक खाना चले वो भी टेढ़ा। मरोकजी ने मुझे बताया था कि स्पेन में मिली एक हिब्रू किताब में साफ़ लिखा है -- राजा और रानी में कोई अन्तर नहीं। वैसे जो मुझे पता है वो सब उसने ही सिखाया है। शतरंज की चालें, उसका इतिहास। मरोकजी अभी तो क्लर्क का काम करता है -- अभी शतरंज से छुट्टी ले ली। पैसा कहाँ है इसमें? चौसर की कविताएँ और शतरंज का इतिहास -- सब मुँहजुबानी जानता है जैसे उसके बही-खाते में उछलते आँकड़े। कमाल है - मैं तो बेडमिंटन खेल लूँ उतना काफ़ी। मेरी बहन ओल्गा और मैं। ऐसा कह कर वेरा ने अचानक अपने घोड़ें को ई५ पर रख कर फ़ातिमा का आवारा वज़ीर पीट दिया और मुस्कुरा कर फिर चौसेर का शेर सुनाया लगभग, गा कर --

'And whan I sawgh my fers awaye,/Allas! I kouthe no lenger playe-'

यह कोई संयोंग नहीं था कि स्पेन से मिली यहूदियों की किताब से पता चला था रानी को मिली इस नयी ताक़त का। 'और हम कभी न भूलेंगे कैस्टील की इजबेल को', तभी नवाब साहिब कमरे में दाख़िल हुए। फ़ातिमा और वेरा तपाक से उठ खड़े हुए। नवाब साहिब क्या बाहर खड़े यह सब सुन रहे थे? 'हम' से आपका क्या मतलब? क्या आप अरब मूरों के वंशज हैं?', वेरा ने उत्सुकता दिखायी। 'नहीं, हम तो राजपूत मुसलमान हैं। परमार राजपूत। पर एक बार मुसलमान बनने पर हम सब के सुख-दुःख एक जैसे ही हैं।' कैस्टील की इजबेल एलिजाबेथ-एक की टक्कर की थी। ग्रनॉडा से मूरों को बाहर निकाल उसने यहूदियों के साथ भी यही किया और स्पैनिश इंक्वज़ीशन शुरू कर दिया। जब इसने दो सौ हज़ार यहूदियों को स्पेन से निकाल बाहर किया तो उन्होंने इसका बदला नयी-नयी सीखी -- 'पागल रानी की शतरंज' पूरे तुर्की और यूरोप में फैला कर लिया। स्पेन के यहूदियों ने इस नयी शतरंज में कई अनूठे प्रयोग किये और अनगिनत नायाब चालें और चक्रव्यूह ढूँढ लिये -- सदियों

से बेहतरीन शातिर इसी जाति से आते रहे। वे यहूदी जो ईसाई नहीं बने -- आधुनिक शतरंज उन्हीं का खेल है। यह लोग खाजर जाति के हैं -- इनकी आँखें हरी या नीली होती हैं। सोलहवीं शताब्दी में स्पेन के ही रुय लोपेज ने सबसे शानदार किताब लिखी थी। आपको तो याद ही होगा ई४, ई५, न.फ.३, न.सी.६, ब.ब.५। 'पर यह 'पागल रानी की शतरंज' सबको पसन्द नहीं आयी', वेरा ने सख़्ती से नवाब साहब की बात काट दी। 'एक फ्राँसीसी कवि ने काले और सफ़ेद खानों पर तरह-तरह की गालियों के आधे-आधे शब्द कुछ इस तरह से लिखे कि हर चाल से एक नयी तुकबन्दी हो और उससे औरतों के लिए हर बार एक नयी गाली बने। शतरंज को उन्होंने औरतों से इश्क़ और नफ़रत दोनों से जोड़ दिया। किसी ने गालियाँ लिखीं और किसी ने प्रेम कविताएँ। प्रेम पर बनी प्रेम-शतरंज या लव-चेस जिसके चौंसठ पद -- शुक्र का इश्क़ मंगल से, जिसका साक्षी बुध था। मंगल कसतेलवी का प्रतीक जो लाल मोहरों से खेल रहा था। लाल मोहरे जो वीनस का पक्ष पाने के चक्कर में सफ़ेद हो गये। वीनस विनयोलस का प्रतीक था। वह खेला हरे मोहरों से जो बाद में काले हो गये। जबकि बुध (जो प्रतीक था फेनोल्लार का) केवल देखता रहा टकटकी बाँध कर।' नवाब साहब भी एकदम सहम से गये। फेनोल्लार की तरह वेरा की ओर बस टकटकी बाँधे देखते रहे।

पर वेरा ने अपना काम बख़ूबी किया। उससे शतरंज सीख कर फ़ातिमा १६३२ में बरतनिया की औरतों की चैम्पियन बन गयी। वेरा जबकि कई बार विश्व-विजेता बनी (एक बार तो उसने कमाल की बाज़ी खेल कर सुल्तान खान को भी हरा दिया था -- उसका प्यादा खिसक कर सातवें घर कैसे पहुँचा -- सुल्तान भी न समझ न पाया था।) पर वह कभी भी बरतानिया की चैम्पियन न बन पायी क्योंकि वह देश-विहीन थी। उसे अभी तक बरतानिया की नागरिकता नहीं मिल पायी थी।

नोटः इसके आगे देसानी की पाण्डुलिपि कुछ टूट सी जाती है --कुछ पन्ने फटे हुए और स्याही के फैलने से धुँधले अक्षर। मैंने थोड़ी मेहनत करके इसको पढ़ने योग्य बनाया था। देसानी के विचार अजीब, टूटे-फूटे अनगढ़े से। कई बार मेरा सिर चकरा जाता था -- कहाँ पर खुशी लाल की डायरी ख़त्म होती है और कहाँ पर देसानी की पाण्डुलिपि शुरू?

१.२७ सात कुबड़ों की सीक्रेट सोसायटी

कापा बेचारे शतरंज के खेल के चैम्पियन क्या हो गये कि उनको भ्रम हो गया अन्तर्यामी होने का। जैसे आजकल अंग्रेज़ आइ.सी.अस. अफ़सर भारत आ कर अपना रौब झाड़ते हैं। उनको तो यह तक पता नहीं चला कि जिस नक़ाबपोश ने उनसे मोहरा माँगा था, वो आदमी नहीं एक पुतला था। इस पुतले की कहानी कुछ यूँ हैः १६८३ में जब तुर्कों ने आस्ट्रिया पर हमला किया तो उन्होंने किसी तरह तो विएना का बचाव कर लिया पर उनके मन में तुर्कों का डर हमेशा के लिए बैठ गया इसी कारण जब हंगरी के तीस वर्षीय जीनीयस कंप्लिन, जो बेचारा पहले ट्रान्सलवेनिया की खदानों के लिए पम्प और मारिया थेरेसा के महलों के लिए फव्वारे वगैरह डिजाइन करता रहा था, उसने जब अपने जीवन का मास्टरपीस बनाया तो यूरोप के लोगों को आकर्षित करने के लिए उसने अपने उस गुड्डे का नाम तुर्क ही रखा जो बाद में 'अजीब' के नाम से भी जाना गया। कमाल की एंजिनिरिंग और

जादू का मिश्रण -- जिसके रहस्य को खुलने में सत्तर वर्ष से ज़्यादा समय लग गया। अब उसने किया क्या था? जनाब उसने मशीन और इंसान का ऐसा मिश्रण बिठाया कि तुर्क के भेष में एक पुतला शतरंज खेलने लगा था। मशीनी पुतला, जो आँखे मटका-मटका कर बड़े बड़े खिलाड़ियों को हरा देता था। उसने कैथ्रिन-द-ग्रेट और नेपोलियन सहित कई जाने-माने लोगों के साथ शतरंज खेली और तो और महान शातिर फिलिडोर के साथ भी। नेपोलियन ने जब खेल में बेइमानी की तो गुस्से में इस पुतले ने अपने बिसात पर से मोहरे गिरा दिये। नेपोलियन अन्ततः हार ही गया तो उसने गुस्से में इस पुतले पर छह गोलियाँ दाग दीं। कंप्लिन बार-बार कहता रहा की जनाब यह केवल एक छलावा है और कुछ नहीं। उसकी बातों का किसी ने यक़ीन नहीं किया और यह तय हो गया कि कोई बड़ा षड्यन्त्र रचा जा रहा है -- यूरोप को तुर्कों के अधीन करने का।

(नोटः पर यह तुर्क था कौन और पूरा मामला क्या था -- इसका भारत और इस सीक्रेट सोसायटी के साथ क्या सम्बन्ध था इस पर देसानी ने खोज की है पर उसने न जाने क्यों सब तारीखें गड्ड-मड्ड कर रखीं हैं बाक़ी तथ्य दिलचस्प तो हैं पर बे-तरतीब। क्या उसने इस तरीक़े से इसलिए लिखा कि पाठक को उलझा सके या शायद ऐसी पहेलीनुमा कोड भाषा में लिखा कि जिसको जानना हो उसे ही पता चले?)

यह तुर्क लकड़ी का बना हुआ एक पुतला था। सफ़ेद पगड़ी, धारियों वाला कुर्ता, फर वाली जैकेट, सफ़ेद दस्ताने और और गुलाम कट मूँछें। सामने रखा टेबिल कोई चार से साढ़े चार फुट चोड़ा। दो फुट गहरा और तीन फुट ऊँचा। इसके सामने वाले हिस्से में तीन दरवाज़े थे। नीचे एक दराज जिसको ऐसे रंग किया हुआ था कि वह एक दराज़ दो दिखें। इस मेज़ के पिछले हिस्से में दो दरवाज़े थे जिसमें से एक इसकी रीड की हड्डी का काम करता था। इस पुतले का दायाँ हाथ मेज़ पर रखे शतरंज के बोर्ड के पास रहता था। उसके बाएँ हाथ में एक चुरूट रहती थी। उसकी आँखे और गर्दन ऐसी हिलती थी जैसे कोई तम्बाकू के स्वाद का मज़ा ले रहा हो। आदम-कद का यह पुतला यूरोप के लोगों के दिलों में ख़ासा ख़ौफ पैदा कर रहा था। पर मुझे यह समझ में नहीं आया कि जोसफ़ को क्या ज़रूरत थी कि वह कंप्लिन को बोले कि अपने शतरंज के पुतले को पुनर्जीवित करो? और उसने उसे तुर्क ही क्यों बनाया? जोसफ़ ने उसे पुनर्जीवित करने के लिए तभी क्यों बोला जब वह ख़ुद तुर्कों के ख़िलाफ लड़ रहा था? यह बात कुछ समझ में नहीं आयी। क्या यह आस्ट्रिया में प्रचलित तुर्की काफ़ी की वजह से था या कि इस कारण से कि आस्ट्रिया के लोग अपने नौकरों को तुर्की पोशाक पहनाते थे। कंप्लिन कभी भी तुर्क को वापिस जिन्दा नहीं करना चाहता था। उसको थोड़ा बहुत यूरोप में घूमाने के बाद उसने उसको खोल-खाल के लकड़ी के बक्सों में बन्द कर दिया। उसने तो शुक्र मनाया जब उसका तुर्क से पीछा छूटा। जब मारिया थेरेसा बीमार पड़ी तो कंप्लिन ने उसके लिए ऐलिवेटर वाला बिस्तर बनाया। अन्धों के लिए टाइपराइटर और बोलने वाली मशीन। भला बन्दा था बेचारा पर यह अंग्रेज़ सबसे शातिर निकले। कंप्लिन को ख़बर भी न होगी कि उसकी बोलने वाली मशीन (जिसकी तारीफ़ गोइथे ने भी की थी) ग्राहम बैल को टेलिफोन को इजाद करने के प्रेरणा देगी और उसका तुर्क कार्टराइट को पावर-लूम बनाने की प्रेरणा देगा। (इसी पावर-लूम के बल पर बरतानिया ने हिन्दुस्तान

की अर्थ-व्यवस्था को तबाह कर दिया था।) कंप्लिन की मृत्यु के बाद उसके बेटे ने यह तुर्क माइल्जेल को बेच दिया। १८५४ की एक रहस्यमय आग में जब यह जल गया तो उसके बाद कभी नहीं दिखा। हमारी कहानी इसी आग के बाद शुरू होती है। बाद में यह साबित ज़रूर हो गया कि उस समय के बेहतरीन शातिर, चिन्तक, कलाकार, वैज्ञानिक व लेखक इस षड्यन्त्र में शामिल थे। (उन दिनों यह अफ़वाह भी फैली कि बगदाद के सुल्तान के पास शतरंज खेलने वाला एक बन्दर है। वही बन्दर इसी तुर्क के अन्दर बैठा हुआ शतरंज खेल रहा है।) एक ख़ास योजना के तहत शतरंज के माहिर लोग इस पुतले के अन्दर घुस कर शतरंज खेलते थे। क्योंकि मेज़ छोटा होता था और इस के अन्दर घुटन में बैठ चुप कर के खेलना पड़ता था -- यह बुद्धिमान लोग कुबड़े होते गये और बाद में इन कुबड़ों ने अपनी एक गुप्त सॉसायटी बना ली। पहले-पहल तो शायद वो ऐसे ही गप-शप के वास्ते मिलते थे पर फिर जब उन्होंने देखा कि उस समय के लगभग सारे ही बुद्धिजीवी उनके पास हैं तो उन्हें लगा वह पूरे विश्व पर क़ब्जा कर सकते हैं। मेज़ के अन्दर से शतरंज खेल कर उनका शरीर और बिसात एक ही चीज़ हो गयी थी। १६३१ में जब कापा और नवाब साहिब जब उस सोसायटी में गये थे तो उन्होंने इस बात पर पता नहीं क्यों ध्यान नहीं दिया था कि नक़ाबपोश पुतले के बगल में छह कुबड़े खड़े थे। सातवाँ कुबड़ा पुतले के अन्दर था। १८५४ में इन्होंने ही चार्ल्स विल्सन के संग्रहालय में आग लगवायी थी। माइल्जेल की मृत्यु के बाद यह पुतला एदगर एलन पो के डॉक्टर ने ले लिया था। उसकी इसमें रुचि पो के उस लेख से हुई जिसमें उसने इसके विज्ञान को समझने की चेष्टा की थी। (वह लेख लिखने के बाद पो के लेखन में चमक आ गयी थी। वह पहला 'एब्स्ट्रैक्ट-रीजनर' बना जो बाद में शरलोक होल्मस के काम आया। उसको इतनी जल्दी जो सफलता मिली इससे शक ज़रूर होता है कि शायद पो भी एक कुबड़ा था पर इसके कोई सबूत नहीं मिलते हैं)। उस आग के बाद यह कहानी भी ख़ूब फैली कि आग की लपटों में से तुर्क की चीख़ें सुनायी दी थीं -- वह ज़ोर-ज़ोर से चैक-चैक चिल्ला रहा था। पुतला पता नहीं कैसे यहाँ लन्दन आ गया और कई सालों तक वह इस गुप्त-समाज की बैठकों में दिखता रहा था। धीरे-धीरे इसका रंग-रूप बदल गया। शुरू में कुल पचपन कुबड़े इसके सदस्य थे पर अब केवल सात ही बचे थे। सारे आदेश पुतला देता था और उसके कहे पर ही दुनिया चलती थी। और कुबड़े बारी-बारी से उसके अन्दर प्रवेश करते थे। बाक़ी कुबड़ों व सदस्यों को इसका कहना आँख मूँद कर मानना पड़ता था। अगर उन्हें कोई फैसला अच्छा न भी लगे तो बहुत विनम्रता और धीरज से अगले कुबड़े का इन्तज़ार करना होता था। जिस स्वभाव का कुबड़ा उसके अन्दर होता उसी के अनुसार दुनिया चलती। कुबड़ा दयालू या क्रूर। एक बार तो एक छोटी लड़की भी इसकी सदस्य बनी और बहुत जल्दी तरक़्क़ी कर पुतले में जा घुसी। पर वह दयालू निकली और एक-आध बार आदेश देते वक़्त उसने अन्दर से छींक मार दी थी। और तो और जब कई वर्षों तक उसका कूबड़ भी न निकला तो उसे इस सोसायटी से निकाल दिया गया। (बाद में वान ब्राउन को ख़ास संकेत भेज कर उसके घर पर वी-२ बम गिरवा के उसकी हत्या कर दी गयी थी)। तभी से औरतों को इस सोसायटी से बाहर रखा जाने लगा। सोसायटी में होने वाली गुप्त कारवाईयों के अध्ययन से प्रथम और

द्वितीय विश्व-युद्ध को समझा जा सकता था। इस पुतले का रहस्योद्‌घाटन शतरंज के खिलाड़ी फिलिडोर के पड़पोते जाक मूरेट ने कर दिया था। वह शराबी था और उसको हमेशा पैसों की ज़रूरत रहती थी। पहला कुबड़ा ही दगाबाज निकला। क्या यह मात्र संयोग था कि जिस वर्ष तुर्क का विश्व-भ्रमण बन्द हुआ उसी साल पॉल मर्फ़ी का जन्म हुआ और जब वह अल्पायु में सारे दुनिया के शतरंज के माहिरों को हराने के बाद पागलपन का शिकार हुआ तो अपने बरामदे में टहलता हुआ यह कहता हुआ पाया गया -- 'वो फहराएगा कैस्टील का झण्डा मद्रिद की दीवारों पर -- पराजित शहर की चीख़ें और छोटा राजा शर्म से भाग खड़ा होगा'। रानी जब ताक़तवार हुई तो फ्रायड ने यह निष्कर्ष क्यों निकाला कि पिता को मारने के लिए बच्चे को अपनी माता का साथ मिल गया है। जब उसने यह बात कही तो तुर्क के बुत के अन्दर वह ख़ुद बैठा हुआ था। वह भी इसी सोसायटी का एक कुबड़ा था। भारत के लाल राजा बाबू कंप्लिन के अवतार थे और एकमात्र भारतीय कूबड़े जिन्हें इस सॉसायटी की सदस्यता प्रदान की गयी। इस पुतले की मरम्मत से लेकर कई नये वैज्ञानिक अविष्कार उन्होंने इसी सोसायटी का सदस्य रहते हुए किये थे।

नोटः देसानी के डायरी यहीं ख़त्म होती है। उसके अनुसार उसने यह सब जानकारी कापा को नवाब के घर से लौटते वक़्त दी थी। कापा को यह सब जान कर अचरज तो हुआ पर बिना कुछ कहे वे चुपचाप सारी बात सुनते रहे। लम्बी सैर और इस कहानी के बाद अन्ततः देसानी का फ्लैट आ गया। जब देसानी उनसे इजाज़त ले कर अन्दर जाने को हुआ तो कापा ने उसको कुछ क्षणों के लिए रोका और कुछ झिझकते हुए पूछा कि १७८४ में लन्दन में तुर्क सबसे पहले सेविल-रो में ही क्यों दिखाया गया? ठीक वहीं पर जहाँ से कापा अपने सूट सिलवाते थे?

१.२८ मुलाकात -दो

लन्दन, दिसम्बर-१९३१

डॉक्टर जेकल और मिस्टर हाइड नामक फ़िल्म देख कर अलयेखिन सिनेमा-हॉल से बाहर निकले तो कुछ हैरान-परेशान से थे। वे फर्डेरिक मार्च के अभिनय से इतने मुतास्सिर हुए थे कि कई वर्षों बाद आज मन में फिर से टीस उठी -- शायद उन्हें भी अभिनेता बन जाना चाहिए था। एक बार लड़कपन में शतरंज से घबरा कर उन्होंने अभिनेता बनने का सोचा था। जुनून इतना बढ़ गया था कि तभी नये-नये खुले सिनेमा के स्कूल में दाख़िल लेने भी चले गये थे। शुक्र है दाख़िला नहीं हुआ और शतरंज के विश्व-विजेता बन गये। अचानक अपने आपको डॉक्टर जेकल और मिस्टर हाइड की भूमिका में सोच कर हँस पड़े और अकेले सड़क पर चलने लगे जबकि वह कार में बैठ कर वापिस जाना चाहते थे। उनको डर था कि अगर पैदल गये तो कापा रास्ते में दिख जाएगा। उनका यह बेवजह डर कापा की हर जगह पैदल जाने की आदत से उपजा था। सड़क पर प्रकाश कम था। काली मनहूस सी रात -- बिलकुल उस फ़िल्म के जैसी। पीछे से स्ट्रीट-लैम्प का प्रकाश उनकी परछायीं को लम्बी और भयानक बना रहा था। अलयेखिन अचानक रुके और मटमैली पीली रौशनी से बनी अपनी काली परछायीं को ध्यान से देखने लगे। जीवन में पहली बार अलयेखिन को अपनी-आप पर तरस आया -- आख़िर क्या हैं वो? अभागे या भाग्यवान? अमीर या ग़रीब? सच्चे या झूठे? बेवकूफ या चालाक?

बेचारे या बुरे? तभी उनकी परछायीं पेड़ में बदल गयी। अलयिशा नामक पेड़ की पैदायश अलयेखिन को समझना बहुत मुश्किल था। अलयेखिन को अचानक मरने की तीव्र इच्छा हुई। हैरानी हुई कि कई बार मौत के मुहँ से निकलने के बाद भी जीवन को सहेजने और अपने ढंग से जीने के संघर्ष में व्यस्त इनको अचानक यह मरने का ख़याल कैसे आ गया? मरने का ख़याल मनहूस नहीं था बल्कि मन हल्का और रात कम बोझिल लगने लगी। वापिस जा कर सुल्तान खान से दो-चार ब्लिट्ज़ बाज़ियाँ खेलने से आने वाला आनन्द मन को प्रफुल्लत कर गया।

चालीस वर्षीय अलयेखिन कुछ ही दिन पहले लन्दन पहुँचे थे। लन्दन में वह नवाब सर उमर हयात खान के मेहमान थे। आज अकेले फ़िल्म दखने आ गये थे। वह चाहते थे कि सुल्तान खान भी उसके साथ आता पर एक तो उसको अंग्रेज़ी नहीं आती थी दूसरे नवाब साहब के यहाँ उसको अक्सर इतना काम रहता था कि तफ़रीह के लिए बाहर निकलना लगभग नामुमकिन था। यह कोई मामूली बात नहीं थी कि एक के बाद एक शतरंज के इतने बड़े-बड़े दिग्गज सुल्तान खान से मिलने आ रहे थे। नवाब साहिब बड़े फ़ख़्र से यह मुलाक़ातें आयोजित करते थे। उनको पूरा विश्वास था कि कुछ एक महीनों बाद सुल्तान इन सबको पछाड़ कर वर्ल्ड-चैम्पियन बन जाएगा।

देसानी के नोट्सः इसके आगे पाण्डुलिपि में कुछ नहीं है। कई प्रश्न अनुत्तरित रह गये। अलयेखिन ने सुल्तान खान से क्या बात की? क्या वह कभी उस सीक्रेट सोसायटी में जा पाया? क्या उसको उन्होंने कापा की तरह अपना कूबड़ा बनाने की चेष्टा की? क्यों सुल्तान खान कभी भी अलयेखिन को हरा नहीं पाया? अलयेखिन की मृत्यु रहस्यमय परिस्थितियों में हुई थी। कूबड़ा बनने से इंकार करने की वजह से तो नहीं?

देसानी ने अपने तौर पर कुछ जानकारी इधर-उधर से एकत्र की थी, कुछ ख़ास लोगों के इन्टरव्यू वैगरह ले करः

१.२६ इन्टरव्यू - एक

अलयेखिन अजीब आदमी था साहब। अनगिनत चालों के जोड़ से जादू पैदा कर देने वाला माहिर शातिर। भाग्य से अमीर ख़ानदान के यहाँ जन्म लिया और फिर रूसी क्रान्ति में यही भाग्य दुर्भाग्य में बदल गया। छोटी उमर में नाम कमा लिया था। शतरंज का शौक़ इतना गहरा था कि बिलकुल पागलपन, एक बार अल्जेबरा की कक्षा में मास्टरजी ने कोई प्रश्न किया तो अचानक खड़ा हो कर बोला, हाँ पता चल गया -- अगर घोड़ा फलाँ खाने पर चले तो बाज़ी मेरी। पूरी कक्षा हँसने लगी थी। अल्जेबरा का उत्तर चेस नोटेशंज से दे दिया। सबको लगा कि यह पागल तो न जाने कब दुनिया जीत जाए। इस अभागे का दुर्भाग्य देखिए साहब -- मनहाईम, जर्मनी में जहाँ यह लोग टूर्नामेंट खेल रहे थे -- अलयेखिन साफ़ जीत रहे थे और बड़े खुश थे। उस प्रतियोगिता के दौरान ही अचानक पहला विश्व-युद्ध छिड़ गया और दुश्मन देश से होने की वजह से पकड़ कर जेल में डाल दिये गये। लोगों ने गलियों में पीटा और उनकी स्कोर-शीट को उन्होंने जासूसी कोड समझ लिया। क्या यह किसी प्रकार का संकेत था कि पहले विश्व-युद्ध के समय उनके आख़िरी प्रतिद्वन्दी ने फ्रेंच-डिफेन्स खेला था? किसी तरह छूट के वापिस पहुँचे तो माता-पिता चल बसे। पिता तो एक साल तक जर्मन जेल में रहे

फिर बोलश्विकों ने निर्ममता से उनका क़त्ल कर दिया। अलयेखिन ख़ुद रेड- क्रॉस में काम करते हुए बाल-बाल बचे और बम से जख़्मी हो कर कोई एक महीना एक ही मुद्रा में हॉस्पिटल के बेड पर पड़े रहे - शेल-शॉक्ट्ड! वहीं पर लेटे-लेटे कई ब्लाइंड्फोल्ड बाज़ियाँ खेलीं जो बाद में शतरंज के इतिहास की बेहतरीन बाज़ियों में शुमार की गयीं। अस्पताल से छूटे तो मास्को पहुँच कर दो बहादुरी के मेडलों से नवाजा गये। पर तभी रूसी क्रान्ति हो गयी और अलयेखिन एक शहर से दूसरे शहर भागते फिरे। जब बोलश्विकों ने सत्ता पर क़ब्जा कर लिया तो चूँकि यह कुलीन वर्ग से आते थे तो शत्रु की श्रेणी में पाये गये। माता-पिता की अपार सम्पत्ति जब्त हो गयी। यह ज़माना यानी १९१८-१९१९ का साल, लाल-आतंक के नाम से जाना जाता है -- भयंकर समय, जब हर ओर गिरफ़्तारियाँ की जा रही थीं, गोलियाँ मारी जा रही थीं। किसी को भी शक के आधार पर पकड़ा जा सकता था। चूँकि अलयेखिन लाल न हो के सफ़ेद माने जाते थे, उनकी गिरफ्तारी कभी भी हो सकती थी। उनके कुछ दोस्तों ने उनको जब्त की हुई सम्पति बाँटने वाले डिपार्टमेंट में नौकरी दिला दी (विडम्बना यह कि उनकी ख़ुद की सम्पति भी उसी विभाग के पास जब्त थी)। इस नौकरी के वास्ते उन्हें कॉम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य बनना पड़ा था फिर भी वह अपनी गिरफ्तारी से बच न पाये। तुरन्त ही उनको गिरफ़्तार करके गोली मारने के आदेश दे दिये गये। फायरिंग स्क्वॉड के सामने जाने से केवल दो घण्टे पहले वे कैसे बचे, इसकी कई कहनियाँ हैं -- एक तो यह कि त्रोत्सकी ख़ुद ही उनके पास आये और जेल में बैठ कर शतरंज खेली। दूसरे कि किसी अफ़सर ने बचा लिया। अलयेखिन ने ख़ुद भी रूबेन फाइन को बताया था कि चेका की जेल में उन्होंने कुछ वक़्त गुज़ारा था। (यह बात कि त्रोत्सकी ने अलयेखिन की जान बचायी -- रूबेन फाइन ने ही देसानी को बतायी थी)। ख़ैर मौत से बाल-बाल बचने के बाद पता नहीं अलयेखिन के दिमाग को क्या झटका लगा कि उन्होंने शतरंज छोड़ कर अभिनता बनने का फैसला कर लिया, और तुरन्त ही नैशनल फ़िल्म स्कूल में दाख़िले के लिए आवेदन दे दिया फिर अचानक मन बदल गया और टाइफस हो गया। उसी वक़्त हुई पहली सोवियत प्रतियोगिता में हिस्सा लिया और जीत भी गये! पर उस वक़्त की हालत क्या बताऊँ साहब, उस हाल में जहाँ प्रतियोगिता हो रही थी इतनी ठण्डा थी कि खिलाड़ी काँपते हुए मोहरे उठाते थे। कई काँपते हुए हाथ ग़लत मोहरे को छू लेते थे तो झगड़े हो जाते। ठण्डा कमरा और खाने को रोटी नहीं। खिलाड़ियों ने हल्का-सा प्रोटेस्ट किया तो अलयेखिन ने तुरन्त आगे बढ़ कर उनका समर्थन कर दिया। उनके लिए यह एक बहुत बड़ी ग़लती साबित हुई। मास्को की ख़ुफिया पुलिस को संकेत दे दिया गया कि अपने इस नये चैम्पियन पर नया मुकदमा चलने के लिए कोई सबूत जुटाए जाएँ। किस्मत अच्छी थी कि उन्हीं दिनों अच्छी जर्मन और फ्रेंच भाषा जानने के कारण इसको दुभाषिये का काम मिल गया था। वहीं पर इसकी एक इक्तालिस वर्षीय स्विस महिला से मुलाक़ात हुई और जल्दी से शादी करके किसी तरह देश से बाहर निकल भागे। अलयेखिन ने अपने जीवन में चार बार शादी की और हमेशा अपनी से बड़ी औरतों से। मुझे उसने एक बार कहा था 'मैं शतरंज खेलता नहीं बल्कि लड़ता हूँ बिसात पे। सामरिक को स्ट्रैटेजी से, फंतासी को विज्ञान से और कोंबीनेटिव को पोजिशनल से मिला कर मैं कोशिश करता हूँ शतरंज की हर बाज़ी

जीतने की।' यह बात उसने मुझे १९२७ में कापाब्लांका के साथ विश्व-चैम्पियन्शिप का मैच जीतने के बाद कही थी। जब कापा मैच हार गये तो उन्होंने पत्र लिख कर अपनी हार मान ली-- 'प्रिय अलयेखिन! मैं हार मानता हूँ। तुम अब विश्व-चैम्पियन हो। कृपया मेरी मुबारकबाद क़बूल करो, शुभकामनाएँ, कापाब्लांका।' बाद में कापा खुद चेस-क्लब गये और नये चैम्पियन का अभिवादन किया -- हाथ मिलाये -- गले मिले -- लोगों ने ख़ूब तालियाँ बजायीं। पर अन्दर की बात बताऊँ तो कापा के लिए वह अवॉर्ड-सेरेमोनी असहनीय थी। उनको यह बात साफ़ हो गयी थी कि अलयेखिन के जीतने से एक नयी तरह की शतरंज पैदा हो गयी है। स्टेनिट्ज के बाद की शुद्ध शास्त्रीय शतरंज का ख़ात्मा हो गया है और एक नयी तरह का खेल पैदा हो चुका है -- एक तरह का मनोवैज्ञानिक युद्ध। इस जीत के नशे में अलयेखिन अपने जीवन का एक ओर (जिसे शतरंज की भाषा में) बलंडर कहते हैं, कर दिया। नये विश्व-विजेता के रूप में वह जब पेरिस पहुँचे तो उन्होंने अपनी शराब का गिलास उठा कर टोस्ट बनाया ओर ऊँची आवाज़ में दुआ की कि 'बोलश्विकों के अजेय होने का भ्रम हमें बिलकुल ऐसे ही तोड़ देना चाहिए जैसे कि मैंने अभी-अभी कापाब्लांका के अजेय होने का मिथ तोड़ा है आमीन!" इस टोस्ट की ख़बर उसी महफिल में बैठे अलयेखिन के दोस्त और सोवियत जासूस साशा ने सोवियत चेस माफिया के जनक क्रिल्यांको तक पहुँचा दी। क्रिल्यांको ने तुरन्त एलान कर दिया कि आज से अलयेखिन हमारा दुश्मन है -- हम उसके साथ एक दुश्मन जैसा ही सलूक करेंगे। उधर कापा अपना ख़िताब वापिस पाने के लिए तड़प रहे थे और जल्दी से रिटर्न-मैच मैच खेलना चाहते थे। यह रिटर्न-मैच क्यों नहीं हो पाया, इसका किसी के पास कोई जवाब नहीं था। अगर ढंग से तफ़्तीश की जाए तो एक जासूसी उपन्यास लिखा जा सकता है। आरोप-प्रतियारोपों का लम्बा सिलसिला चला जिसका कोई हल नहीं निकला। मूल बात यह है कि कापा नियमों में बदलाव चाहते थे यानी की बाज़ियों में कुछ कमी की जाए -- अनगिनत बाज़ियाँ खेल कर वह थक जाते थे। अलयेखिन इसके लिए तैयार नहीं थे, उन्होंने इस बात को इतना टाला कि ऐसा प्रतीत होने लगा कि शायद अलयेखिन अपना ख़िताब खोने से डर रहे हैं। अन्ततः दोनों महान ग्रैंड्मास्टर एक दूसरे के बड़े दुश्मन बन गये। वैसे कापा भी कभी पैसे का प्रबन्ध तो न कर पाये। अलयेखिन ने इसका जवाब उस समय के शतिरों को दो गुटों में बाँट कर दिया -- नीओ-रोमांटिक यानी हाइपर-मॉडर्निस्ट और सुधारक गुट। हाइपर-मॉडर्निस्ट शातिरों का कहना था कि सीधा मध्य पर हमला क्यों करना है? बगल से मध्य पर ज़्यादा अच्छी तरह दबाव डाला जा सकता है। यह बाज़ी को शुरू करने का कारुणिक तरीक़ा था। शतरंज खुद एक ट्रैजिक कला है -- क्योंकि कई बार शातिर अपनी उत्थान के लिए अपने से बाहरी शक्तियों पर निर्भर है। पर कभी न भूलें शास्त्रीय पद्धति से खेलने वाले रूबेन्स्टायन, मार्शल और रूडॉल्फ को। उधर क्रयलेंको ने अपना दमन जारी रखा हुआ था, पहले तो उसने शख़्मती पत्रिका यह कह के बन्द करवा दी कि इसमें राजनीतिक लेख नहीं छपते हैं और यही एक वजह है कि अलयेखिन जैसा गद्दार भी इसमें अपने लेख लगातार छपवा रहा है। पर अलयेखिन की खुशी ज़्यादा देर टिकी नहीं। १९३५ में हॉलंड में कुछ अनोखा हुआ और एवे नामक एक खिलाड़ी ने अलयेखिन से विश्व-विजेता का ख़िताब छीन लिया।

अपनी हार से अलयेखिन इतना घबरा गया कि अचानक पैंतरा बदला कर क्रिल्यांको को सोवियत सिस्टम की तारीफ़ करते हुए एक ख़त लिख दिया। कई हफ़्तों के इन्तज़ार के बाद जब वहाँ से कोई जवाब नहीं नहीं आया तो रिटर्न-मैच की तैयारी शुरू कर दी और अन्ततः एवे से १९३७ में ख़िताब वापिस भी जीत लिया। इसके बाद अपने वतन वापिस जाने की इच्छा फिर से बलवती हुई और माफ़ी माँगते हुए कई और पत्र लिख दिये-- किसी का जवाब नहीं आया। अब रूस में स्टालिन का दमन ज़ोरों पर था। किसी को भी शक के आधार पर मौत के घाट उतार दिया जा रहा था। १९३८ में तो क्रिल्यांको को ही गोली मार दी गयी। उसकी कहानी भी बड़ी अजीब है। फिर कभी। १९३९ में अलयेखिन और कापा आख़िरी बार मिले। ब्वेनॉस एरीज के ओलम्पियाड में अलयेखिन ने एक बार फिर कापा को सिर्फ़ बीस चालों में हरा दिया। इस टूर्नामेंट के बीच में ही द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ गया और परिस्थितियाँ एकदम वैसीं बन गयीं जैसे कि पहले विश-युद्ध के दौरान मनहाईम के टूर्नामेंट के दौरान बनी थीं। अलयेखिन और तारतकोवर ने जर्मन टीम का बहिष्कार करने का प्रस्ताव रखा। इसी दौरान कापा के साथ फिर से मैच की बात चल पड़ी थी। इसके बाद अलयेखिन वापिस पेरिस आ गये और फ्राँसीसी फ़ौज में दुभाषिये का काम ले लिया। पर दुर्भाग्य ने यहाँ भी पीछा न छोड़ा और १९४० की गरमियों में अलयेखिन का क्षेत्र जर्मन क़ब्जे में आ गया। इसके बाद अलयेखिन का पतन (जिसे शतरंज की भाषा में एंड-गेम कहते हैं) शुरू हो गया। उसने अपनी चौथी पत्नी ग्रेस के साथ पोर्तुगल से अमेरिका भागने की योजना बनायी। १९४१ में नाज़ियों ने आख़िरकार अलयेखिन को लिज्बन जाने की इजाज़त तो दे दी पर पत्नी को साथ नहीं ले जाने दिया। इसके अलावा उन्होंने उससे यहूदी खिलाड़ियों के ख़िलाफ कुछ भद्दे लेख भी लिखवा लिये। जर्मन क़ब्जे वाले क्षेत्र में रहते हुए उसने कुल सोलह प्रतियोगिताओं में भाग लिया जिसमें से उसने तेरह में विजय हासिल की। १९४२ में उसको प्राग में जा कर रहने का आदेश दिया गया। वहाँ वो स्कॉर्लेट फीवर से मरते-मरते बचे। बीमारी के दौरान वह उसी अस्पताल में भर्ती हुए जहाँ उनके ग्रैंड्मैस्टर दोस्त रेती ने अपना इलाज करवाया था। रेती की इस बीमारी से मृत्यु हो गयी थी। पर कमाल की बात यह कि अलयेखिन ने न केवल बीमारी को मात दी बल्कि बुखार से थोड़ा बाहर आते ही उसने बड़े शानदार तरीक़े से प्राग की चेस-टूर्नामेंट जीत ली। उन्हीं दिनों केरेस नामक ग्रांडमास्टर भी जर्मनी के क़ब्जे वाले क्षेत्र में मौजूद थे। अलयेखिन ने उसे कई बार न्योता भिजवाया कि भाई कि चलो हम दोनों वर्ल्ड-चैम्पियन्शिप खेल लेते हैं। अब तो जर्मन लोगों का ही राज रहने वाला है। केरेस ने जब मना कर दिया तो अलयेखिन ने उपहास में कहा यह सब कमबख़्त मेरे बूढ़े होने का इन्तज़ार कर रहे हैं। उन्हीं दिनों अलयेखिन के भाई की मृत्यु हो गयी और कुछ एक सालों बाद बहन की ख़बर भी आ गयी। नाज़ियों की करारी हार के बाद अलयेखिन अकेलेपन और बीमारी के उस दौर में एक ख़ाली पड़े होटल में पड़े पत्र लिखते रहे --गिड़गिड़ाते हुए अपने दोस्तों को अपने बारे में सफाई देते हुए। तभी एक अच्छी ख़बर आयी कि ब्रिटिश चेस एसोसिएशन ने युद्ध के बाद होने वाली पहली टूर्नामेंट में खेलने का न्योता भेजा है। पर कुछ ही समय बाद यही ख़बर बुरी ख़बर में बदल गयी। क्योंकि उन्होंने युद्ध के समय जो यहूदियों

के ख़िलाफ लेख लिख थे (उसने एक लेख में यह स्पष्ट करने की कोशिश की थी कि कैसे एक आर्यन शतरंज का खिलाड़ी सामी खिलाड़ी से बेहतर होता है। दूसरे उसका एक इन्टरव्यू, जिसमें उसने कहा मैं मुबारकबाद देता हूँ कापा को जिसने लासकर जैसे यहूदी से विश्व-विजेता का ख़िताब जीत लिया।) इन्हीं कारणों से ब्रिटिश चेस एसोसिएशन ने न्योता वापिस ले लिया था। (उनके न्योते का प्रतिवाद रूबेन फाइन नामक अमरीकी ग्रांडमास्टर ने किया था। इसका नाम इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि अलयेखिन के बाद यह भी सुल्तान खान से मिलने उसके घर गये थे)

अलयेखिन की मृत्यु रहस्यमय परिस्थियों में उसी होटल में हुई। उसके बेटे का मानना था कि सोवियत सीक्रेट पोलीस ने उनकी हत्या करवायी है। कापा ने उसके मरने के बाद कहा, 'वह एक ठेठ स्लाव थे, भूरे बाल, नीली आँखें -- जब भी वह किसी टूर्नामेंट में दाख़िल होते सब तुरन्त उसकी तरफ देखने लगती। छह भाषाएँ जानने वाला शातिर। सोबोर्न से कानून की डिग्री, कमाल की स्मरण-शक्ति।' हॉलैण्ड का एवे (जिसने उससे एक बार ख़िताब जीत लिया था) ने कहा, 'उसको अलेन-इछ (समपद-पबी) बोलना चाहिए। जिसका जर्मन भाषा में मतलब है -- नितांत अकेला!'

इतना लिखने के बाद देसानी ने एक चार्ट बनाया हुआ है -- जिसमें अलयेखिन के जीवन के उतार-चड़ाव और भाग्य-दुर्भाग्य को मापा हुआ है। चार्ट की रेखा ऊबड़-खाबड़-सी ऊपर-नीचे जाती दिखती है।

१.३० इन्टरव्यू-२

कापा की विधवा ओल्गा

कापा के हर किसी के साथ अच्छे सम्बन्ध थे सिवाय अलयेखिन के। मैंने उसे पहली बार कार्ल्सबड के आस-पास कहीं देखा था। मेरे विचार से १९३६ के आस-पास। गरमियों के दिन थे। एक गार्डन में पार्टी चल रही थी। मैं किसी से बात कर रही थी कि अचानक मेरे सामने बिखरे बालों वाला एक व्यक्ति आकर खड़ा हो गया। वह किसी दुकान का सेल्समान जैसा दिख रहा था। वह अलयेखिन था। क्या वो आकर्षक था? जी नहीं! बिलकुल इसके विपरीत फीका-से व्यक्तित्व वाला। मैंने उसको तुरन्त पहचान लिया। उसके कई फोटोग्राफ देख रखे थे। कापा का पक्का दुश्मन। मैं तो उसको देखते ही घबरा गयी। उसने झुक कर अपना परिचय दिया, 'मेरा नाम अलयेखिन है -- मैं आपसे अकेले में कुछ ज़रूरी बात करना चाहता हूँ।' इसके बाद वह मुझे बाग एक कोने में ले गया और बड़ी सख़्ती से बात करने लगा। आज भी मुझे याद है उस बाग में हर जगह छोटे-छोटे टमाटर के पौधे लगे हुए थे। उसने मुझसे कहा कि कापा उसके बारे में जो भी राय रखे पर लोगों के सामने जब भी हम मिलें तो एक-दूसरे का अभिवादन करना चाहिए। अभी जब मैं उससे मिला तो उसने मेरी तरफ देखा भी नहीं। 'कापा के पास इस व्यवहार के लिए कुछ कारण तो होंगे।', मैंने थोड़ा रूखे शब्दों में जवाब दिया। 'शायद', अलयेखिन बोला, 'बेशक एवे ने मुझसे विश्व-विजेता का ख़िताब जीत लिया है और वो अफिशल वर्ल्ड-चैम्पियन है तब भी सारी दुनिया जानती है कि इस वक़्त दुनिया में केवल दो ही सबसे बेहतरीन खिलाड़ी हैं -- मैं और कापा'। 'नहीं 'कापा और आप', मैंने उसको तुरन्त दुरुस्त किया।

'यह बात तुम जानते भी हो फिर भी तुम उसे रिटर्न-मैच नहीं दे रहे हो।' उसने मेरी तरफ अजीब सी नज़रों से देखा और बोला 'एवे के साथ हुए मैच के दौरान मैं बीमार था। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ'। 'इसी तरह तुम्हारे साथ हुए मैच में कापा की तबियत भी ठीक नहीं थी।' उसने फ्राँसीसी भाषा में मुझे कहा 'C'est impossible de parler avec vous- Vous etes une tigresse' यानी आपसे बात करना बहुत मुश्किल है आप एक शेरनी हैं। इसके बाद मैंने उससे कभी बात नहीं की। हम एक दूसरे पर रूसी और फ्रेंच भाषा में चिल्ला रहे थे। एक भाषा से दूसरी भाषा पर कूद रहे थे। जब मैं वापिस आयी तो कापा को बताया कि अलयेखिन ने मुझे एक शेरनी कहा है। कापा ने मुझे पूछा कि अलयेखिन तुम्हें कैसा लगा? तो मैंने कहा कि अगर किसी मर्द की आप चिकोटी काटें तो आम आदमी तो दहाड़ेगा पर अलयेखिन किकियाएगा, ऐसा सुनते ही कापा ने मेरा हाथ पकड़ कर चूमा और बोला, 'तुम तो हो ही मेरी शेरनी।' फिर अचानक उनका चेहरा सख़्त हो गया और थोड़े तल्ख़ स्वर में बोले -- मुझे अलयेखिन से नफ़रत है।

१.३१ इन्टरव्यू - तीन

रूबिन फाइन जिसने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अलयेखिन पर पाबन्दी लगवायी थी

जनाब मेरी पहली इच्छा या इम्पल्स तो यह थी कि डॉक्टर एवे मेरे बारे में बात करें -- अपने मुहँ से अपनी तारीफ़ कैसे करूँ। फिर मैंने सोचा कि जब मैं ख़ुद ही एक साइको-एनालिस्ट हूँ, तो निष्पक्ष-रूप से अपने बारे में बात करने में क्या हर्ज? मेरा जन्म १९१४ को न्यूयॉर्क में हुआ। मैंने स्कूल और कॉलेज में ख़ूब शतरंज खेली पर यह बताते हुए मुझे बेहद शर्म आ रही है कि ग्रांडमास्टर बनने तक मैंने शतरंज पर एक भी किताब नहीं पढ़ी थी। मेरे जीवन में मेरा पहला शतरंज का नायक अलयेखिन था। मेरे शुरुआती दिनों यानी १९३०-३१ के दौरान उसका खेल शानदार था। अगले साल मैं जब उसे पेसोडिना में मिला तो उसका खेल थोड़ा डगमगाता-सा हुआ था। बड़ी मेहनत से ही सही पर उस दिन मैंने बाज़ी ड्रॉ करवा ली थी। कुछ सालों बाद उसके बारे में कई कहानियाँ फैलने लगी थीं कि वो शराबी है , अपनी बीवी को पीटता है वगैरह। उसने चार शादियाँ की। हर बार उसकी पत्नी उससे कई वर्ष बड़ी होती थी। एक तो इतनी बूढ़ी थी की बाक़ी ग्रांड-मास्टर उसको फिलिड़ोर की विधवा बोलते थे। फिलिडोर सत्रहवीं शताब्दी का खिलाड़ी था जनाब। उसने एक बार शराब के नशे में दो पत्र लिखे -- पहला रूसियों को कॉम्युनिजम की तारीफ करता हुआ और दूसरा जर्मन सरकार को नाजी सिस्टम की तारीफ़ करता हुआ। और चूँकि वे शराब के नशे में धुत्त थे, उसने उन पत्रों को विपरीत लिफ़ाफ़ों में डाल कर पोस्ट कर दिया। और जर्मन क़ब्जे के दौरान उसने यहूदी और आर्यन शतरंज की बात करके तो हद ही कर दी थी। शतरंज का जीनियस पर मानसिक रूप से बीमार आदमी।

इसके बाद अलयेखिन और सुल्तान खान का कोई लिखित ज़िक्र नहीं है पर देसानी ने पाण्डुलिपि के अगले पृष्ठ पर एक श्याम-श्वेत तस्वीर चिपका रखी है। उसमें सुल्तान खान, नवाब साहब और अलयेखिन समेत शतरंज

की दुनिया की कुछ जानी-मानी हस्तियाँ देखी जा सकती हैं।

अलयेखिन देर रात वापिस पहुँचे। सुल्तान खान के कमरे की खिड़की में से हल्की टिमटिमाती पीली रौशनी बाहर लगे छोटे से पेड़ पर छिटकी हुई थी। जैसे ही अलयेखिन ने दरवाज़ा खटखटाया सुल्तान के कमरे से मेज़ सरकने की आवाज़ आयी। अचानक उसके कमरे की रौशनी तेज़ हो उठी और पेड़ के परे गेट पर खड़े अलयेखिन के पीठ पर आ पड़ी। अलयेखिन की परछायी और गहरा गयी। वह धीमे क़दमों से मुख्य दरवाज़े की ओर बढ़े। वह नवाब साहब को जगाना नहीं चाहते थे। जैसे ही सुल्तान ने दरवाज़ा खोला उनकी जान में जान आयी। 'ओह अभी तक सोये नहीं?' दरवाज़ा खुलते ही अलयेखिन ने औपचारिकता-वश पूछा -- उनको अंदाजा था कि न चाहते हुए भी सुल्तान रोज़ रात को दो-तीन घण्टा अभ्यास ज़रूर करता है। सुल्तान को अभी भी अंग्रेज़ी समझने में मुश्किल होती थी, ऊपर से अलयेखिन का रूसी लहजा। उसने आदर से अपना सिर हिला दिया और उनके कमरे की ओर इशारा किया। 'अरे अभी नहीं दोस्त, सोने से पहले तुम्हारे साथ कुछ बाज़ियाँ खेलना चाहूँगा।' सुल्तान कुछ समझ नहीं पाया तो अलयेखिन ने हवा में प्यादा खिसका कर बताया कि वह उसके साथ शतरंज खेलना चाहते हैं। सुल्तान खुश हो गया। उसे अकेले खुद से खेलने में वैसे भी मज़ा नहीं आता था। पर नवाब साहिब का हुक्म था रोज़ रात को खाने की बाद अभ्यास करने का। दोनों कमरे के अन्दर आ गये। मेज़ पर चेस-बोर्ड रखा हुआ था। अलयेखिन इधर-उधर देखने लगे। क्या सुल्तान खान बिना किसी किताब के ऐसे ही प्रैक्टिस कर रहा है? यह कैसे मुमकिन है? और बिना किसी और की बाज़ी का अवलोकन किये बिना कैसे वो अपना खेल धारदार बना सकता है?

सुल्तान बहुत धीमा खेलता था। सफ़ेद मोहरों से खेलता हुआ भी ऐसा लगता था कि वह काले मोहरों से खेल रहा है। अत्याधिक हिफ़ाजती खेल। ऐसा विचार आते ही अलयेखिन सावधान हो गया। बेहद साधारण शुरुआत के बाद सुल्तान धीरे-धीरे बाज़ी पर पकड़ बनाता जाता था। अलयेखिन ने उसकी दो कमज़ोरियाँ अपनी गुप्त डायरी में नोट की थीं। पहली तो उसकी साधारण व कमज़ोर ओपनिंग और दूसरी बाज़ी लम्बी हो जाने पर उकता जाना। (ऐसे में वह कमज़ोर चालों पर उतर आता था।) उस रात अलयेखिन ने सुल्तान को १०८ चालों में हराया। बाद में अलयेखिन जो सपना आया था वो भी उसकी डायरी में लिखा हुआ है:

सफ़ेद स्लाव बच्चा। बिशप के काले पैर। पैराशूट से उतरते दो प्यादे। शुरुआत धीमी मध्य तेज़ व तीखा अन्त।

सुल्तान कभी भी अलयेखिन को हरा नहीं पाया।

१.३२ मुलाकात-तीन

१९३३ - फोकस्टोन ओलम्पियाड

अठारह वर्षीय रूबेन फाइन -- एक खब्ती किस्म का नौजवान और शतरंज का बेहतरीन खिलाड़ी। सब जानते हैं कि शतरंज के खिलाड़ी का स्वभाव उसकी बाज़ियों में झलकता है। इसी तरह

रूबेन फाइन की बाज़ियाँ उसकी तरह ही खब्ती व ढीठ थीं। ऊपर से वह अमरीका जैसे आत्म-विश्वासी देश का नागरिक -- वह देश जिसने दो सौ साल पहले ही अंग्रेज़ों को निकाल बाहर किया हो -- वहाँ के एक आज़ाद ख़याल नौजवान को एक गुलाम देश का नवाब अपनी मध्याकालीन सामन्ती हेकड़ी दिखाने की ग़लती कर बैठा। बाद में रूबेन फाइन ने इस मुलाक़ात का बड़े कठोर शब्दों में वर्णन किया। ऐसा लगता है कि उस समय नवाब साहिब की मानसिक हालत कुछ ज़्यादा अच्छी नहीं रही होगी। फोकस्टोन में बरतनिया टीम का वैसे भी कुछ ख़ास परदर्शन नहीं रहा था -- सुल्तान खान के नेतृत्व में टीम का दसवाँ नम्बर आया था। देसानी की अनुसार सुल्तान के इस ख़राब प्रदर्शन के बाद नवाब साहब का मन शतरंज और सुल्तान खान की और ज़िम्मेवारी लेने से उठ गया था। पता नहीं फिर क्यों उन्होंने टूर्नामेंट ख़त्म होने के बाद पूरी अमरीकी टीम को घर खाने पर बुला लिया था ? एक वजह यह हो सकती हो सकती है कि बचपन से ही नवाब साहिब को जिससे डर लगता था यानी जिससे से वह कभी कोई बाज़ी या शर्त हार जाते थे तो उसे अपने घर पर नौकर रख लेते थे। अमरीकी टीम को नौकर तो नहीं रख सकते थे पर घर खाने पर बुला कर रौब तो झाड़ ही सकते थे। अमरीकी टीम में कुल चार लोग थे पर पाँच मेहमान आये थे -- रूबेन फाइन, फ्रैंक जेम्ज मार्शल, आर्थर विल्यम डेक, इसाक काशदान और उसकी पत्नी। बेशक वे टूर्नामेंट जीत गये थे पर आज उन में से कोई भी कुछ ख़ास अच्छे मूड में नहीं था। आख़िरी कुछ राउंड इतने अच्छे नहीं गये थे। ख़ासकर स्वीडन की टीम आख़िर में बड़े साहस से खेली। उन्होंने पता नहीं कहाँ से रानी का जुआ कहलवाने वाली शुरुआत में कुछ फेरबदल कर के सबको कन्फ्यूज कर दिया। चौधरी खुशी लाल के अनुसार यह तकनीक कोई इतनी भी बढ़िया नहीं थी। वे इसे आजमा कर त्याग चुके थे। स्वीडन का तीसरा नम्बर विरोधी खेमे में मचने वाली अफरा-तफरी से आया। यह तकनीक बाद में 'फोकस्टोन वेरीएशन' के नाम से जानी गयी। इसमें काला अपनी रानी के तरफ वाली प्यादों को फैला कर सफ़ेद के गुर्दे पर लात मरता है।

नोटः अलयेखिन फ्राँस की तरफ से खेलते हुए गोल्ड मेडल जीतता है, लेकिन शतरंज को खेल से ज़्यादा कला मनाने वाले प्रसिद्ध कलाकर मार्सेल दूशां की वजह से इनकी टीम आठवें नम्बर पर रही।

१.३३ मुलाक़ात

सब अलग-अलग रास्तों से आने वाले थे। नवाब के घर के बाहर की गली के मोड़ पर इन्तज़ार करने का प्लान था। रूबेन फाइन सबसे पहले पहुँच गया था -- कोने पर खड़ा हो कर ठिठुर रहा था। नवाब के घर के बाहर एक शीशे का पोर्च था -- वहाँ शायद ठण्ड कम हो इसलिए फाइन ने गली के कोने को छोड़ सीधा अन्दर जाना ठीक समझा। थोड़ी ही देर में धीरे-धीरे सब लोग वहीं सीधे पोर्च पर ही आ गये। किसी ने यह सवाल नहीं पूछा कि तयशुदा मुक़ाम यानी गली के कोने पर इन्तज़ार क्यों नहीं किया गया। तभी वहाँ पर एक नौकर आया और उनको बड़े अदबो आदर से बिठा दिया गया। उनको बहुत इन्तज़ार करना पड़ा था। फाइन को शक था कि इन्तज़ार जानबूझकर करवाया जा रहा था। बैठने की व्यवस्था भी बड़ी अजीब-सी थी -- बैठक एक गैलरीनुमा जगह थी -- इतनी संकरी कि एक दूसरे की तरफ मुँह करके बैठना नामुमकिन था। सब लोग एक ही पंक्ति में बैठ कोई दस

मिनट तक खिड़की से बाहर देखते रहे थे -- बाहर थोड़ी धुन्ध और ठण्ड से शीशे धुँधले होते जा रहे थे। फाइन ने ध्यान दिया कि नवाब साहब को शतरंज का ख़ासा शौक है -- हर चीज़ यानी टेबल, कुर्सी, मेजपोश, परदे सब चीज़ें काले-सफ़ेद थीम में थीं। तभी उसे बाहर धुँधली खिड़की में से दो भयानक कुत्ते दिखायी दिये -- एक काला और एक सफ़ेद। उन कुत्तों को देखकर सब डर गये और इधर-उधर देखने लगे। वे मन ही मन यह मुआयना कर रहे थे कि क्या कुत्तों के अन्दर आने का कोई तरीका है? कहीं अन्दर न आ जाएँ ! फाइन ने भी घूम कर देखा और पाया कि खिड़की, दरवाज़ा --कुछ भी तो खुला नहीं है, अन्दर आने का कोई गुंजाइश नहीं -- सबने मन ही मन चौन की सांस ली।

काशदान ने तो मज़ाक भी किया कि महाराजा ने शतरंज को कुछ ज़्यादा ही गम्भीरता से ले लिया है -- कुत्तों को भी सफ़ेद और काले रंग में रख छोड़ा है। सब हँस रहे थे कि अचानक कानदाश की पत्नी ने ज़ोर से चीख मारी। फाइन को कुछ समझ में नहीं आ रहा था। कानदाश और उसकी पत्नी उसको पीछे न मुड़ने का इशारा कर रहे थे। फिर भी जब फाइन ने हिम्मत कर कनखियों से पीछे देखा तो उसके होश उड़ गये -- दोनों भयानक कुत्ते उसके ठीक पीछे खड़े थे। यह अन्दर कैसे आ गये? फाइन घबराकर अपनी कुर्सी पर खड़ा हो एक बुत की तरह ठहर गया। उसको लगा कि अगर वह जरा-सा भी हिला तो कुत्ते उसको काट खाएँगे। उसी समय नवाब के नौकर को जाने क्या सूझा कि उसी बुत की अवस्था में खड़े फाइन के हाथ में नवाब साहब की चार पृष्ठों की बायोग्राफी थमा गया। उसमें नवाब साहब के बहादुरी के कारनामे लिखे हुए थे। फाइन को बहुत गुस्सा आया पर कुत्तों के डर से हिला नहीं --साँस रोक कर खड़ा रहा। नौकर के जाते ही उसके पीछे-पीछे कुत्ते भी चले गये। सब की साँस में साँस आयी और काँपते हाथों से नवाब साहब की बायोग्राफी टटोलने लगे। नवाब साहब कुल बीस मिनटों बाद उनसे मिलने आये। फाइन ने ध्यान दिया कि उनको उनकी जीवनी वाले पर्चे को पढ़ने में भी बीस मिनट ही लगे थे। अन्दर आते ही नवाब साहब ने बिना किसी से आंख मिलाये सब को एक साथ सम्बोधित किया -- 'आपसे मिलकर अच्छा लगा वरना यहाँ तो बस अपने कुत्तों से बात करनी पड़ती है-- क्या अकेलापन है।' फाइन को आश्चर्य हुआ कि इतने नौकर-चाकर होते हुए भी नवाब साहब अपनी आप को अकेला बोल रहे हैं -- कुत्तों से बातें करते हैं। 'सुल्तान खान तो यहीं रहता है आपके साथ --उसके साथ हर रोज शतरंज पर दिलचस्प बातें या बाज़ियाँ तो होती ही होंगी' --फाइन हिम्मत करके बोला। बाकी अमेरिकी टीम खिसिया कर हँसी, पर नवाब साहब बिना कोई जवाब दिये वापिस चले गये। तभी नौकर ने बाहर आकर सबको अन्दर डाइनिंग रूम में आने का इशारा किया। सब को समझ में आ गया था कि इन्तज़ार लम्बा चलेगा। इस दौरान नौकर कुछ खाने-पीने का सामान व शरबत इत्यादि छोड़ गया था। सब लोग समय काटने के लिए नवाब साहब की किताबों की अलमारियों के इर्द-गिर्द घूमने लगे। फाइन ने नवाब की अलमारी में रखी कुछ किताबों के नाम अपनी डायरी में नोट कर लिए थे :

1) The Complete Indian Housekeeper and Cook by F.A. Steel and G. Gardiner.

2) The History of British India by James Mill.

देसानी का नोटः

फाइन को तो इन किताबों को पढ़ने का समय नहीं मिला होगा तभी तो उसने सुल्तान और उसके नवाब के बारे में इतनी हैरानी से लिखा है -- अगर वो उनको ध्यान से पढ़ लेता तो उसे मामला समझ आ जाता। पहली किताब यानी The Complete Indian Housekeeper and Cook -- स्टील और गार्डिनर नाम की दो अंग्रेज़ औरतों ने १८८८ में लिखी थी। इस का मक़सद हिन्दुस्तान आयी नयी-नयी अंग्रेज़ अफ़सरों की बीवियों को हिन्दुस्तानी नौकरों को ढंग से रखने व बरतने के तौर-तरीक़े सिखाना था। चूँकि हिन्दुस्तानी राजे और नवाब जो हर चीज़ में अंग्रेज़ों की नक़ल करते थे --उन्होंने भी उनकी देखा-देखी इस किताब को कण्ठस्थ कर रखा था और इसी किताब के हिसाब से अपना घर-बार चलाते थे। फ़र्क सिर्फ़ यह था कि यह किताब अंग्रेज़ औरतों के लिए लिखी गयी थी और वो ही इसे पढ़ती थीं पर चूँकि हिन्दुस्तानी औरतों का घर चलाने में इतना दख़ल नहीं था -- वहाँ के मर्द इसे पढ़ने लगे थे। हर राजा और नवाब को इस किताब में लिखे गुर मुहँ-ज़ुबानी याद थे -- बाद में यह गुर ICS अफसरों और आज़ादी के बाद हिन्दुस्तानी और पाकिस्तानी हुक्मरानों और IAS अफसरों तक पहुँच गये। इसी वजह से हिन्दुस्तानी नवाबों और राजाओं की बहुत-सी आदतें अंग्रेज़ ग्रहणियों से मिलती थीं। कुछ सलाहें इस प्रकार थीं -- हिन्दुस्तानी नौकर आज्ञाकारी तो होता है पर थोड़ी ढील देते ही अपनी पुरानी मैली व गन्दी हरकतों पर उतर आता है। इन औरतों ने ऐसे नौकरों से निपटने के लिए कुछ ख़ास इनाम और सजाएँ मुक़र्रर कर रखी थीं। पहले महीने-दर-महीने के हिसाब से रख लो -- बिलकुल कम तनखा पर। और अगर ठीक सेवा करे तो थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते रहो। ख़िदमतगार को नौ रुपये महीने पर रखो। अगर ठीक काम करे तो एक आध रुपया बढ़ा दो -- और अगर ख़राब काम करे या झूठ बोले तो कम कर दो। इस किताब में लेखिका ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया है कि हिन्दुस्तानी नौकर एक बच्चे जैसा है -- और उसने सबसे ढीठ नौकर को अरण्डी का तेल पिलाने की सलाह दी है। तर्क यह था की शारीरिक कष्ट से नौकर को अपनी ग़लती याद रहती है। जब यह नौकर बार-बार पख़ाने भागेगा तो दूसरे नौकर इसको यह कह कर छेड़ेंगे -- 'मेम साब ने तुमको ज़रूर अरण्डी का तेल पिला देना होगा।' इस शर्म से वह कभी भी दोबारा ग़लती नहीं करेगा। सबसे अच्छा प्लान है कि नौकर को कम उम्र में ही पकड़ लो और बख़्शीश पर निर्भर करके धीरे-धीरे तरक़्क़ी दो। कभी भी ज़्यादा समय के लिए एक ही नौकर को मत रखो -- बदलते रहो। अगर हम हिन्दुस्तानी नौकरों को ही ढंग से न रख पाये तो उनका इतना बड़ा साम्राज्य कैसे रख पाएँगे?

चूँकि सुल्तान खान भी एक नौकर था -- एक और जो बहस अंग्रेज़ों के बीच होती थी कि सुल्तान खान पढ़ना-लिखना जानता है कि नहीं -- अंदेशा यह था कि अगर वो बिना पढ़े-लिखे इतना अच्छा खेल लेता है तो थोड़ी बहुत थ्योरी पढ़ लेने के बाद तो इसको वर्ल्ड-चैम्पियन बनने से कोई

नहीं रोक पाएगा। नौकरों की शिक्षा की हिन्दुस्तान में क्या व्यवस्था होती होगी ? देसानी की पाण्डुलिपि पढ़ते हुए लगता है कि उसने इस विषय पर डूब कर शोध और विचार किया है। गाँधी ने १९३१ के गोलमेज़ सम्मलेन में एक लम्बा चौड़ा भाषण दिया था कि हम तो बहुत पढ़े लिखे थे -- अंग्रेज़ों ने आकर हमें अनपढ़ बना दिया है। इस बात पर बड़ा हो हल्ला हुआ था। तब ढाका विश्व-विद्यालय के कुलपति फिलिप हार्टाग ने इसका बहुत बुरा मनाया था और गाँधी से इस विषय पर कई साल तक बहस करते रहे थे। पर हिन्दुस्तानी संस्कृति और सभ्यता की निन्दा और नीचा दिखाने की जिम्मेवारी जेम्ज मिल की ख़तरनाक क़लम को मिली थी। उसे यह काम करने के लिए कभी हिन्दुस्तान आने की ज़रूरत भी न हुई --इंग्लैंड में बैठे-बैठे ही उसने सन १८१७ में तीन मोटे ग्रन्थ इस विषय पर छाप दिये, उसने यह काम इतना बख़ूबी किया कि उसकी यह किताबें भारत में नियुक्त होने वाले अंग्रेज़ अफ़सरों के लिए मैन्यूअल से बन गयीं और उनके देखा-देखी हिन्दुस्तान के राजाओं और नवाबों ने भी अपने ही लोगों से अंग्रेज़ों जैसा व्यवहार की नक़ल करनी शुरू कर दी थी। नवाब का अपने नौकरों और ख़ासकर सुल्तान खान के प्रति अपने इस व्यवहार को इस पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है। पता नहीं क्यों जेम्ज मिल को हिन्दुओं से बड़ी नफ़रत थी, उसके अनुसार 'हिन्दुओं में चीनियों की तरह निष्ठाहीनता, मक्कारी, और नमकहरामी कूट-कूट कर भरी हुई है और यह दोनों क़ौमें अपने बारे में बड़ी-बड़ी ड़ींगे हाँकती हैं। अगर कभी हिन्दुस्तानियों के पास थोड़ा पैसा आ जाए तो जो मुस्लिम हैं वो तो तो तुरन्त ऐयाशियों में डूब जाते हैं पर हिन्दू तब भी कंजूस बने रहते हैं। अगर सच कहूँ तो हिन्दुओं में हिजड़ों की तरह एक अच्छा गुलाम बनने के सारे गुण हैं। यह ख़ुद और इनके घर बहुत गन्दे होते हैं।' देसानी को यह पढ़ कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि जेम्ज मिल ख़ुद भी ग़रीब घर से आया था और एक मोची का बेटा था। वो क्या कारण थे कि उसे अपने जैसे गुलामों से सहानुभूति की जगह इतनी नफ़रत पैदा हुई? वो भी बिना कभी हिन्दुस्तान जाए हुए ? जेम्ज मिल का विश्वास था कि यूरोप के लोग हिन्दुस्तानियों से बेहतर हैं -- 'हिन्दू लड़ तो बिलकुल नहीं सकते, न ही इनके पास रस्ते हैं, न नदियों पर पुल, यह लोग विज्ञान और चिकित्सा में भी शून्य हैं। हाँ कुछ एक कामों में वह अंग्रेज़ों से अच्छे हैं -- महीन बुनाई , कताई, रंगाई, क़ीमती पत्थरों की कटाई और लच्छेदार बातों में। पर अगर आप उनकी कपड़ा बनाने वाली खड्डी देखें तो आपके तो होश ही उड़ जाएँ। इतनी भद्दी खड्डी से यह इतनी परिष्कृत व जटिल बुनकारी कैसे कर लेते हैं? दरअसल ऐसी सभ्यता जो अपने भोंडे व साधारण औज़ारों से इतने दक्षता से काम ले लेती है, वह तो उसके एक असभ्य समाज होने के लक्षण हैं।' इसके बाद उसने इस किताब में हिन्दुओं को कुछ और गालियाँ दी हैं और अपनी नस्ल को उनसे हर मामले में बेहतर बताया है। मार्क्स, विल्बेरफोर्क, मैकाले जैसे लोग भी हिन्दुस्तानियों के बारे कुछ ऐसे ही विचार रखते थे। उनके विचार में हिन्दुस्तानी तभी सभ्य हो सकते हैं जब वो अपनी हिन्दुस्तानियत छोड़ दें।

देसानी को यह सब पढ़ कर बड़ा गुस्सा आया -- उसने तय किया कि वह भारत जा कर इसकी तफ्तीश करेगा --उसने भारत जाकर सबसे पहले पण्डित सुन्दरलाल से बातचीत की -- उनकी

किताब पर अंग्रेज़ो ने हाल में प्रतिबन्ध लगाया था।

पण्डित सुन्दरलाल के कुछ विचार, देसानी की नोटबुक सेः

हिन्दुस्तान में में जिस भी प्रान्त में कम्पनी का शासन जमता गया वहीं पर हज़ारों साल पुरानी प्रणाली सदा के लिए मिट्टी में जाती गयी। अपने यहाँ के राजे रजवाड़े बेशक ऐय्याश होते थे पर अपना धन यहीं इस देश में ख़र्चा करते थे। पर अंग्रेज़ों ने सारा धन इंग्लिस्तान भेज दिया और तो और अपने नवाब, राजा भी इंग्लिस्तान में बंगले ख़रीदते हैं। अपना सारा धन वहीं ख़र्च करते हैं। देश तेज़ी से निर्धन होता जा रहा है।

रूबेन फाइन की डायरीः

यह सुल्तान खान की कहानी सबसे अनोखी निकल आयी। सुल्तान उसका कोई पद नहीं था- नाम था। एक मज़ाक था - एक नौकर को सुल्तान का नाम दे देना। दरअसल वह महाराजा के यहाँ वह एक नौकर था। (फाइन ने न जाने नवाब को महाराजा क्यों कहा था)। नौकरी दौरान ही शायद नवाब को पता चला होगा कि यह तो शतरंज का जीनियस है या फिर उसने उससे कोई बाज़ी हारने से नौकर रख लिया होगा। नवाब ने उसे थोड़ी अंग्रेज़ी सिखाने की भी कोशिश की थी पर सुल्तान बड़ी ख़राब अंग्रेज़ी बोलता था और हिन्दुस्तानी लिपि में अपने चालों को नोट करता था। यूरोप की लिपि को तो वो पढ़ भी नहीं पाता था। टूर्नामेंट के बाद के बाद महाराजा ने हमारी पूरी टीम खाने पर बुलाया। जब हम अन्दर आये तो महाराजा ने यह कह के हमारा स्वागत किया कि आपसे मिल के अच्छा लगा नहीं तो मैं अपने ग्रे-हाउंड कुत्तों से ही बात कर पाता हूँ। हमने तो सुन रखा था कि मुसलमानों को शराब पीने की इजाजत नहीं होती पर वो तो ख़ूब पी रहे थे। मुझे बाद में बताया गया कि उन्होंने इस के लिए बरतनिया हकूमत से ख़ास इजाजत ले रखी थी। उसके नौकर ने हमें चार पन्नों की एक बायोग्राफी थमा दी थी जिसमें उनकी बहादुरी के करनामे दर्ज थे। उस जीवनी को ध्यान से पढ़ने के बाद तो यही लगा की इनका सबसे बड़ा कारनामा तो बस यही है कि वो एक महाराजा पैदा हुआ। इस दौरान सुल्तान खान जिसकी वजह से हम वहाँ थे -- महाराजा उसके साथ महज एक नौकर की तरह बर्ताव कर रहा था। शायद हिन्दुस्तानी क़ानून के अनुसार सुल्तान महाराजा का नौकर ही था पर फिर भी हमें बड़ा अजीब लगा कि एक शतरंज का महान खिलाड़ी, एक ग्रांडमास्टर हमारे खाने की टेबल लगा रहा है -- खाना ला रहा -- पानी ला रहा है -- और जब हम खाना खा रहे हैं तो वो हाथ बाँध कर पीछे खड़ा है।'

यूरोप में नवाब का यह आख़िरी डिनर था और सुल्तान खान का भी। नवाब का लन्दन में काम ख़त्म हो गया था और उसे अपने बेटे के विरोध के कारण लन्दन वाला घर ख़रीदने का विचार त्याग देना पड़ा था। अन्ततः नवाब बड़े भारी मन से हिन्दुस्तान लौट गया और उसके साथ सुल्तान खान और फ़ातिमा भी। कुछ महीनों बाद नवाब की मृत्यु हो गयी और पश्चिम में सुल्तान खान और फ़ातिमा की कहानी को जल्द ही भुला दिया गया।

पर यह बात कोई नहीं जनता था कि उनके लन्दन से गायब होने के बाद भी देसानी ने अपनी खोज जारी रखी थी और उनको ढूँढते हुए हिन्दुस्तान जा पहुँचा था -- उसकी इस पाण्डुलिपि में कई बार ऐसा लिखा है कि इस खोज के दौरान मुझे कई ऐसे विचित्र आध्यात्मिक अनुभव हुए हैं जिसके कारण मेरी ज़िन्दगी बदल गयी है। पर उसने अपने ये सब आध्यात्मिक अनुभव सुल्तान खान की कहानी में क्यूँ मिला दिये इसको समझना बड़ा मुश्किल है। एक बार तो ऐसा लगा कि कहीं दो अलग-अलग पाण्डुलिपियाँ मिल तो नहीं हो गयी हैं। ख़ैर इसमें जो कुछ भी मैं छाँट पाया हूँ उससे सुल्तान खान इतना बड़ा खिलाड़ी कैसे बना, उसकी एक बड़ी अनोखी कहानी बाहर आती है। तो मुलाहिजा फरमाइए यह कहानी जो कई वर्षों तक देसानी की अप्रकाशित पाण्डुलिपी में छिपी रही है।

नेमतख़ाना

ख़ालिद जावेद

उर्दू से अनुवाद : महेश वर्मा

मैं अपने बचपन को दुबारा इसलिए नहीं हासिल करना चाहता, कि उसे एक बार फिर से जीने लगूँ। मैं अब उस तक इसलिए रसाई हासिल करना चाहता हूँ कि उसे समझ सकूँ। जिस तरह ज़रा बड़े हो जाने पर बच्चे अपनी पुरानी गेंद को तोड़कर उस के अन्दर झाँकने की कोशिश करते हैं। पुराने खिलौनों को तोड़कर उस के अंजर पंजर एक करके रख देते हैं ताकि समझ सकें कि चाबी वाला बन्दर दूध की शीशी मुँह में किस तरह लेकर पीता था।

मेरा बचपन? वो कहाँ छिपा बैठा है?

मैंने अपनी उम्र रसीदा बदरंग खाल को बार-बार साठ की दहाई के मुहम्मद रफ़ी के फ़िल्मी गानों की नोकों से उधेड़ा और छीला। इब्ने सफ़ी के नाविलों की धारदार क़ैंची से बातिन के ये मोटे-मोटे बेरहम धागे और सुतलियाँ काट डाले। पुराने दोस्तों के साथ पुरानी बातें करता रहा और मेरे हाफ़िज़े को इन सबकी कुमक मिलते रहने के बावजूद, बचपन इस तरह न मिला जिस तरह मैं चाहता हूँ। हालाँकि, वो मेरे अन्दर ही कहीं है। खाल के नीचे, हड्डियों के गूदे में, कहीं चिपका हुआ, घर के किसी तारीक गोशे में पड़े प्लास्टिक की गेंद के एक टूटे हुए टुकड़े की तरह, अपने बचपन के इन टूटे हुए टुकड़ों पर जब तवज्जोह मर्कूज़ करते हुए ग़ौरो फ़िक्र करता हूँ तो एक बात सामने ज़रूर आती है और वो ये कि आहिस्ता-आहिस्ता मेरे अन्दर एक किस्म की कीनापर्वरी पैदा होती जा रही थी। एक ख़तरनाक किस्म का कीना, जिसके अन्दर एक घटिया किस्म का तशद्दुद पोशीदा था। दूसरों को ईज़ा पहुँचाने की एक नाक़ाबिले फ़हम ख़्वाहिश अक्सर मेरे अन्दर पैदा होती रहती थी। मसलन बार-बार मेरा जी चाहता था कि अपने पास बैठे अफ़राद के जिस्म में कोई बारीक सी सूई चुभो दूँ, या खाना पकाते हुए किसी शख़्स के खाने में चुपके से थूक दूँ, और भी इसी किस्म की घटिया और ग़ैर अख़लाक़ी हरकतें करता फिरूँ।

मैं मिसाल के तौर पर एक वाक़िए का ज़िक्र करूँगा, कुछ दिनों से मैं देख रहा था कि सर्वत मिमानी और फ़िरोज़ ख़ालू आपस में बहुत बेतकल्लुफ़ होते जा रहे हैं और मामूं और मिमानी के आपसी झगड़े ज़रूरत से ज़्यादा बढ़ते जा रहे हैं। यहाँ तक कि एक रात मामूं ने मिमानी को चप्पलों से मारा-पीटा भी। मुझे ख़ुशी हुई क्योंकि सर्वत मिमानी बेहद बद-दिमाग़ किस्म की औरत थीं। उनके

कोई औलाद न थी मगर मैंने हमेशा ये महसूस किया कि वो मुझसे चिढ़ती थीं। इसकी कोई-न-कोई वजह ज़रूर होगी जिसका मुझे इल्म नहीं। इन्सान को वजहों के पीछे हाथ धोकर नहीं पड़ना चाहिए। बस तेल देखना चाहिए, और तेल की धार। अगरचे इस कारआमद उसूल पर मैं ख़ुद भी क़ायम न रह सका।

उस शाम बावर्चीख़ाने से उस मसाले की बू आ रही थी जिसके साथ मछली भूनी जाती है। मुझे मसाले वाली मछली बहुत पसन्द है मगर मेरी छठी हिस ने मुझे आगाह कर दिया था कि आज ये अच्छा शगुन नहीं है। कोई भी बुरा वाक़िया किसी के भी साथ पेश आ सकता है। मगर मैंने उस रात मछली ख़ूब मज़े ले-ले कर खाई। मछली सर्वत मिमानी ने पकाई, अगर अंजुम बाजी पकातीं तो लुत्फ़ दो-बाला हो जाता। रात का खाना साथ ख़ैरियत के खा लिया गया और कोई नाख़ुशगवार वाक़िआ या हादसा पेश नहीं आया। मेरी छठी हिस भी सो गयी।

वो शायद अप्रैल के शुरू के दिन थे। बाहर वाले दालान से मुल्हक़ एक आड़ में छोटा-सा बरामदा था जिसकी छत लकड़ी की कन्डियों और शहतीरों की थी। इन अतराफ़ में इन दिनों शहद की मक्खियाँ जगह-जगह अपने छत्ते बनाती फिरती थीं। बरामदे में एक शहतीर पर शहद की मक्खियों ने बहुत बड़ा-सा छत्ता बना रखा था। तेज़ कत्थई रंग का बेहद नफ़ासत और नाप तौल कर बनाया गया छत्ता जो कभी-कभी छत पर फ़ानूस की तरह लटका हुआ नज़र आता था । घर में किसी की हिम्मत न थी कि उसे छेड़े।

बरामदे के सामने बावर्चीख़ाने का उक़बी रौशन-दान खुलता था जिससे ये छत्ता साफ़ नज़र आता था। रात के तक़रीबन दो बज रहे थे और मुझे नींद नहीं आ रही थी। कुछ बेचैनी-सी थी। घर के तमाम अफ़राद इधर-उधर दुबके हुए सो रहे थे। मुझे कुछ मीठा खाने की ख़ाहिश हुई। रात में अक्सर मैं छिपकर मीठा खाता था जिसके लिए मुझे बावर्चीख़ाने में जाना पड़ता था। मैंने सोचा कि थोड़ी शक्कर ही फाँक लूं। अपने इरादे को अमली जामा पहनाते हुए मैं बिस्तर से उठता हूँ और बिल्ली की चाल चलते हुए बावर्चीख़ाने तक पहुँचता हूँ। बहुत आहिस्तगी और कमाल-ए-एहतियात से काम लेता हुआ में बावर्चीख़ाने का दरवाज़ा खोलता हूँ । अन्दर दाख़िल होता हूँ। अँधेरे बावर्चीख़ाने में मछली की बसांध भरी हुई है। बग़ैर बत्ती जलाए, अंदाज़े से मैं शक्कर के डिब्बे तक पहुँचता हूँ। रौशन-दान में से पाम का एक बड़ा-सा पत्ता अन्दर को चला आया है जो अप्रैल की रात में चलने वाली ख़ुशगवार हवा में आहिस्ता-आहिस्ता लरज़ रहा है।

मैं शक्कर का डिब्बा खोलता हूँ, शक्कर को मुट्ठी में दबाए हुए उसे मुँह में डालने ही को होता हूँ कि एक अजीब-सी आहट सुनायी देती है।

मेरा कनकटा ख़रगोश?

लूसी या जैक?

कोई बिल्ली?

या वो स्याह नाग?

मैं ख़ौफ़ज़दा हो जाता हूँ। मेरी बन्द मुट्ठी खुल जाती है। सारी शक्कर अंधेरे में फ़र्श पर गिर जाती है।

मगर नहीं ये इन्सानी साँसें हैं और इन्सानी सरगोशियाँ।

कोई बरामदे में है।

मैं हिम्मत से काम लेता हूँ और एक बड़े-से पतीले पर पैर रखकर रोशन-दान से झाँकता हूँ। पाम का पत्ता मेरी आँखों और नाक पर चुभने लगता है। मेरे पूरे चेहरे पर सख़्त किस्म की खुजली होने लगती है जिसको बर्दाश्त करते हुए उचक कर मैं देखता हूँ।

मद्धम-सी चाँदनी में दो साए आपस में इस तरह गुथे हुए नज़र आए जैसे कुश्ती लड़ रहे हों। एक पल को उनके चेहरों पर ख़ास ज़ाविए से रोशनी पड़ती है। मैं उन्हें पहचान लेता हूँ।

वो सर्वत मिमानी और फ़ीरोज़ ख़ालू हैं।

मेरे अन्दर एक ज़बरदस्त किस्म की नफ़रत का भँवर पैदा हो गया। मेरे अन्दर कीना और ईर्ष्या अपनी हदों को पार करने लगे। मैं सरापा तशद्दुद बन गया, मगर कुछ न कर पाने की सकत के एहसास ने मेरे पूरे जिस्म पर कपकपी तारी कर दी।

ठीक उसी वक़्त चाँदनी-रात में मुझे वो नज़र आया। वो छत्ता जो ठीक इन दोनों के सिरों पर ही लटक रहा था।

मैं काँपते हुए पैरों से पतीले से नीचे उतरा। तारीक बावर्चीख़ाने में अटकल से मिट्टी की उस हाँडी तक पहुँचा जिसमें नमक के डिब्बे पड़े हुए थे। मैंने नमक का एक बड़ा-सा ढेला हाथ में दबाया और दुबारा उस पतीले पर चढ़ गया। इस बार मैं काँप नहीं रहा था। हैरत-अंगेज़ तौर पर मैं ख़ुद को बहुत ताक़तवर महसूस कर रहा था।

दो तारीक साये दो जानवरों की मानिन्द एक-दूसरे से गुँथे हुए और लिपटे हुए हैं। मैं पाम के पत्ते को एक हाथ से थोड़ा-सा हटाता हूँ। शहद की मक्खियों के छत्ते पर अपना निशाना साधता हूँ। साँस रोककर अपने दाएँ हाथ में अपने जिस्म और रूह की तमाम ताक़त को मुंतक़िल करता हूँ और फिर नमक का ढेला छत्ते पर ज़ोर से फेंककर मार देता हूँ। हल्की-सी आवाज़ आती है। जिसके बाद एक अजीब और पुर असरार-सी भनभनाहट गूँजती है। जैसे मौत ग़ुस्से में भरी सरगोशियाँ कर रही हो।

इन दोनों की हज़ यानी चीख़ों से सारा घर जाग जाता है। मक्खियाँ दोनों पर बुरी तरह चिमट

गयी थीं। चाँदनी-रात में मक्खियों के साये भयानक तारीक धब्बों की तरह उड़ते और गर्दिश करते फिर रहे थे।

ग़ैज़-ओ-ग़ज़ब से भरी शहद की मक्खियाँ उनके कपड़ों में घुस गयी थीं। फ़ीरोज़ ख़ालू को मैंने भागते हुए ज़ीने की तरफ़ जाते देखा। वो छत पर दौड़ रहे थे, शायद मुंडेर से बराबर वाले घर या गली में छलांग लगाने के लिए। उनकी क़मीज़ और पतलून उनके काँधों पर थी। वो बार-बार अपने निचले हिस्से पर इधर-उधर हाथ मार रहे थे शायद उनके पोशीदा आज़ा को मक्खियों ने डंक मारे थे।

सर्वत मिमानी बुरी तरह चीख़ें मार रही थीं और दीवानों की तरह ज़मीन पर लोटें लगा रही थीं। कभी वो उठकर खड़ी होतीं और बगुले की तरह चकराने लगतीं। उनके बाल खुलकर उन के घुटनों तक जा रहे थे। फिर ज़मीन पर गिरकर लोटें लगाने लगतीं। मैंने उन्हें अपना जंपर उतारते हुए देखा, उनकी ग़ैरमामूली तौर पर बड़ी और भारी-भारी लटकी हुई छातियों की परछाईयाँ कभी ज़मीन पर पड़तीं, कभी दीवार पर। उनके बाल खुल गए थे। उनका चेहरा उन में छिप गया। उनको देखकर लगता था जैसे वो कोई ख़ौफ़नाक तांडव नाच नाच रही हों। एक चुड़ैल, एक आसेब की मानिन्द। उनकी चीख़ें कभी भारी और तवील हो जातीं और कभी पतली, बारीक और मुख़्तसर। वो किसी ग़ैर इन्सानी शै में तब्दील हो चुकी थीं। थोड़ी देर बाद बिलकुल ख़ामोश होकर वो ज़मीन पर एक वज़नी दरख़्त की मानिन्द आ गिरीं। मुझे लगा कि वो मर गईं।

घर के तमाम अफ़राद ख़ौफ़-ज़दा से इधर-उधर खड़े या छिपे हुए थे।

आहिस्ता-आहिस्ता वो ख़ौफ़नाक भनभनाहट मद्धम पड़ती गयी। मक्खियों के साये सिमटने लगे। अप्रैल की हवा फिर चलती हुई महसूस हुई। सर्वत मिमानी अब तक़रीबन बिलकुल नंगी फ़र्श पर शायद बेहोश पड़ी थीं। घर के दूसरे लोग इधर को आने लगे। मेरा सारा जिस्म पसीने से भीग गया। दिल इस तरह धड़क रहा था कि मुझे महसूस हुआ कि मैं यहीं, उसी जगह, उसी बावर्चीख़ाने में मर जाऊँगा।

मगर नहीं, अचानक फिर एक मक्कार हिम्मत और चालाकी ने मुझे न जाने कहाँ से नमूदार होकर सहारा दिया । मैं तेज़ी से बावर्चीख़ाने से निकलकर बरामदे और आँगन में इकट्ठा दूसरे अफ़राद में जाकर घुल-मिल गया। इस अफ़रातफ़री में किसी ने भी मुझे वहाँ से निकलते नहीं देखा।

ये तो ख़ैर हुई कि छत्ता टूटकर नीचे नहीं गिरा था। नमक के ढेले से वो शायद सिर्फ़ हिल कर रह गया होगा। इसी लिए मक्खियाँ अपना बदला लेने के बाद दुबारा छत्ते पर जाकर चिपक गईं थीं। नूरजहाँ ख़ाला ने सर्वत मिमानी के नंगे बदन पर अपना सूती दुपट्टा डाल दिया था। मगर दुपट्टा डालने से पहले मैंने उनके सीने की तरफ़ देखा था। वहाँ अब छातियाँ न थीं। वो सूजकर एक बहुत बड़े से थैले में बदल चुकी थीं। मुझे आटा लाने वाला थैला याद आ गया। तब उन्हें उठाकर अन्दर लाया गया। उनका पूरा चेहरा सूजकर कुप्पा हो गया था। आँखें नज़र ही न आती थीं। उनके होंठ

किसी दरिन्दे की थूथनी की तरह नीचे लटक रहे थे। चेहरा इस क़दर लाल था जैसे कोई बड़ा-सा अंगारा, मुझे ये हरगिज़ इल्म न था कि शहद की मक्खियों के काटने से इस हद तक मुआमला बिगड़ जाएगा। कोई कह रहा था कि अगर फ़ौरन अस्पताल न ले जाया गया तो वो मर भी सकती थीं।

'मर जाने दो, मर जाने दो उस कुतिया को।' मामूं चीख़े। सबने झपटकर मामूं का मुँह बन्द कर दिया, मगर वो दुबारा पागलों की तरह चीख़ने लगे। 'पूछो। पूछो उस छिनाल से, ये किस के साथ मुँह काला कर रही थी। कौन छत पर भागा था।'

अंजुम बाजी ने मेरा हाथ पकड़ा और कहा-

'चलो गुड्डू मियाँ, तुम जाकर सो जाओ। मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूँ।' अंजुम बाजी मेरा हाथ पकड़कर मुझे अन्दर वाले दालान में ले आईं। उन्होंने प्यार से मुझे सो जाने के लिए कहा। मैंने उनका चेहरा देखा। वो बहुत उदास थीं। इतनी उदास कि उनके चेहरे की पाकीज़गी तक इस अफ़्सुर्दा रंग की ओट में कहीं गुम हो गयी थी।

और मैं सो गया। मैं बाक़ायदा सो गया। इतना बड़ा शैतानी कारनामा अंजाम देने के बाद मैं बेख़बर सो गया।

दूसरे दिन की सुबह ग़ैरमामूली तौर पर सूनी और ख़ामोश थी। पता चला कि सर्वत मिमानी बच तो गयी थीं मगर अब वो इस घर में नहीं थीं। मुझे यही बताया गया कि वो इलाज के लिए बांग्लादेश अपने मायके के कुछ रिश्तेदारों के यहाँ चली गयी थीं।

इसके बाद सर्वत मिमानी को मैंने कभी नहीं देखा। चन्द दिनों पहले कहीं से ये उड़ती-उड़ती ख़बर आयी थी कि पाकिस्तान में उनका इंतिक़ाल हो गया। वो शायद बांग्लादेश से पाकिस्तान मुंतक़िल हो गयी थीं।

फ़ीरोज़ ख़ालू जो मुहल्ले में ही रहते थे और हमारे निस्बतन दूर के रिश्तेदार थे, उनका भी कोई पता न चला। वो तो इस तरह ग़ायब हुए जैसे उन्हें ज़मीन खा गयी हो। उनकी बीवी का इस वाक़ये से पहले ही इंतिक़ाल हो चुका था। और बच्चे अपनी ननिहाल में रहते थे।

जहाँ तक मामूं का सवाल है वो एक अर्से तक गुमसुम रहे। फिर उन्होंने अपने आपको मुक़द्दमों और कचहरी की दुनिया में पूरी तरह ग़र्क़ कर दिया।

ये सब मैंने बड़ी मुश्किल से याद करके लिखा है। और अब मुझे ये भी एहसास होता है कि वो सब जितना भयानक था, उतना ही मज़हकाख़ेज़ भी। यानी ये कि दो नफ़्स जब जिन्सी अमल में मशग़ूल हों तो उनपर शहद की मक्खियों के डंगारे का हमला...! और फ़ीरोज़ ख़ालू के पोशीदा आज़ा पर ठीक उस वक़्त ऐसी मुसीबत जब वो आज़ा बज़ात-ए-ख़ुद दूसरे जहानों की सैर कर रहे हों। बहरहाल, मुज़हकाख़ेज़ी और भयानकपन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक के साथ दूसरी की मौजूदगी

नागुज़ीर होती है। मिसाल के तौर पर आप भूत को ही ले लीजिए। वो डरावना और मसख़रा एक साथ है। बस बात ये है कि आप किस पहलू पर ज़ोर देते हैं। मेरे अन्दर उस ज़माने में दूसरे को ईज़ा पहुँचाने का ख़ब्त इस हद तक बढ़ चुका था कि किसी भी क़िस्म के एहसास-ए-जुर्म वग़ैरह से मेरा दूर का भी वास्ता न था और ज़मीर किस चिड़िया को कहते हैं, इसका कोई इल्म कम-अज़-कम उस ज़माने में होने का तो सवाल ही नहीं पैदा होता था। फिर ये भी है कि मैं अगर ये हरकत न करता तब भी कुछ-न-कुछ होकर रहता। एक ग़लत वक़्त और ग़लत दिन मसालेदार मछली का पकना गुल खिलाकर ही रहता। ये मेरा ईमान और ईक़ान है।

यक़ीनन ये कहा जा सकता है कि मेरे अन्दर मुज़्रिमाना जरासीम बहुत बचपन से ही पल रहे थे। मगर एक ऐसा मुजरिम जिसकी सज़ा जिस अदालत में तै होना थी वो अभी पैदा नहीं हुई थी। लिहाज़ा, एक अर्से तक बल्कि शायद ताज़िन्दगी मैं इसी तरह छुट्टे बैल की तरह घूमता रहूँगा। और अपने ऊपर इसरार के इतने दुबैज़ और स्याह पर्दे डाले रखूँगा कि मेरा बातिनी वजूद अपने आप में एक इसरार, एक भेद, एक ख़ुफ़िया रियाज़ी में बदल जाएगा।

और ये सब होने में बहुत देर नहीं है। अगर मैं नावेल लिखने के क़ाबिल होता तो मेरे मुखौटे फ़ितरी तौर पर आहिस्ता-आहिस्ता सरककर नीचे गिरते जाते मगर मुक़द्दमों की अपीलें, अर्ज़दाश्तें और अदालतों में होने वाली बहसें, ये सब तो अपने आप में ख़ुद स्याह नक़ाबें हैं। हर वकील, हर गवाह और हर मुंसिफ़ एक नक़ाबपोश है।

मैं जो ये सब लिख रहा हूँ (लिख भी रहा हूँ या बड़बड़ा रहा हूँ?) तो ये भी एक अपील, एक अर्ज़दाश्त के सिवा कुछ भी नहीं। इसको किस अदालत में दाख़िल करना है, ये अभी मुझे नहीं मालूम। बस मैं उसे हाथ में पकड़े-पकड़े भटक रहा हूँ। अपनी अदालत की तलाश में, जब भी मुझे मिल जाएगी, मैं वहाँ उसे दाख़िल करके ख़ामोशी के साथ अपने सारे मुखौटे गिरा दूँगा। मैं वहाँ अदालत के सामने नंगा हो जाऊँगा। मैं ये जिस्म तक उतार कर फेंक दूँगा।

मई का तपता हुआ और लूओं के झक्कड़ों से हिलता और काँपता हुआ महीना आ पहुँचा। ये बड़ा शानदार और पुरवक़ार गर्मी का ज़माना था। हर शै तप रही थी। गर्मी हर शै को आग की मानिन्द जलाकर राख कर देने के दर पे थी। हर शै को पवित्र करने के लिए तैयार। यही काम तो आग करती है।

अंजुम बाजी की शादी की तैयारियाँ होने लगीं। तारीख़ भी मुक़र्रर हो गयी। शादी, बरसात का मौसम गुज़र जाने के बाद होना तय पाई थी मगर ये शादी आफ़ताब भाई के साथ नहीं हो रही थी जिसका मुझे अंदेशा था। शादी कहीं और हो रही थी और उनका होने वाला शौहर सऊदी अरब में मुलाज़मत करता था। मैंने ये वाज़ेह तौर पर महसूस किया कि अंजुम बाजी ज़्यादातर रोती रहती हैं और अपने ब्याह के कामों में रत्ती बराबर भी दिलचस्पी नहीं लेतीं। मुझे न जाने क्यों इससे बड़ी

तमानियत सी महसूस होती।

एक दिन मैंने उनसे पूछा थाः

'आप मुझे भूल तो नहीं जाएँगी?'

वो पहले तो कुछ नहीं बोलीं, फिर मेरी गोद में बैठे कनकटे ख़रगोश को उठाकर अपने सीने से लगा लिया और सिसकियाँ लेने लगीं।

'आप मेरी वजह से रोती हैं न!'

अंजुम बाजी ने ख़रगोश ज़मीन पर उतार दिया और मुझे ख़ाली-ख़ाली बेगानी नज़रों से देखने लगीं।

जून का महीना आते-आते मैं कुछ और बड़ा हो गया। ऐसा ही होता है। आप किसी भी दिन बल्कि किसी भी लम्हे अचानक बड़े हो जाते हैं, तब्दील हो जाते हैं और आपको अपने बड़े हो जाने या बदल जाने का एहसास तक नहीं होता। तब्दीली का अमल इतना ही पुरअसरार है जितना कि ज़मीन का गर्दिश करना, जिसका इन्सान को पता तक नहीं चलता।

मैं कुछ और बड़ा हो गया या मेरे जिस्म में एक-आध इंच उम्र और बढ़ गयी। इन दिनों मुझे जानवरों से बहुत लगाव हो गया था। सुंबुल तोता और कनकटा ख़रगोश तो थे ही। हमारे घर में कहीं से गिलहरी के दो बच्चे आ गए थे। मैंने ज़िद करके उन्हें तक़रीबन पाल ही लिया। मैं उनको जूते के डिब्बे में रूई भरकर रखता था जिससे कि वो उनका घोंसला बन जाये। छोटी-सी तामचीनी की कटोरी में दूध देता था और जो कुछ भी, दाना दुनका वो खाते थे। नूरजहाँ ख़ाला ने उन के नाम भी रख दिए थे। लूसी और जैक। मगर जब वो बड़े हुए तो इन्सानों से ख़ासा हिल जाने के बावजूद उन्होंने आम के दरख़्त के एक खोके में अपना बाक़ायदा घोंसला बना लिया। रात में वो वहाँ सोते थे और दिन में सारे घर बल्कि बिस्तरों तक पर घूमा करते थे।

जून के आख़िर में जब हल्की-हल्की बारिश शुरू हुई तो दोनों को एक अजीब मश्ग़ला हाथ आ गया। बारिश की बूँदें जैसे ही टीन पर गिरतीं वो दासे पर से उछलकर अपनी ख़ूबसूरत दुमें सर पर रखकर भागते हुए दरख़्त के खोके में घुस जाते और फिर वहाँ से अपना मुँह बाहर निकालकर बारिश देखा करते।

वैसे अभी मॉनसून नहीं आया था और उमस का ये आलम था कि सारा बदन गीला और चिकना हो गया था। अब कह सकता हूँ कि वो इन्सानी इर्तिक़ा के इब्तिदाई पड़ाव का तजुर्बा था। मुझे अपनी खाल मछली की खाल की तरह लगती थी। पसीना सूखता ही न था। जो शख़्स भी क़रीब से गुज़रता, तो पसीने की बदबू से नाक सड़ाकर रख देता। ज़्यादा-तर अफ़राद दालानों से निकलकर रात में आँगन में ही सोया करते।

ऐसी ही उमस भरी एक शाम का ज़िक्र है। मैं छत से पतंग उड़ाकर नीचे आया। बावर्चीख़ाने में एक खट्टी-मीठी-सी ख़ुशबू जो मुझे बदबू महसूस हुई, आ रही थी। मैं अन्दर गया।

नूरजहाँ ख़ाला चूल्हे के सामने बैठी थीं और एक हाँडी में बार-बार कफ़गीर चला रही थीं।

'क्या पक रहा है?'

'आम रस।' नूरजहाँ ख़ाला ने इसी तरह कफ़गीर चलाते-चलाते जवाब दिया। उनके कपड़ों से पसीने और आम की मिली-जुली बू ने मेरा जी मचलाकर रख दिया। मुझे न आम पसन्द है और न इससे बनी कोई दूसरी शै।

मैं जैसे ही वापिस जाने के लिए मुड़ा, मुझे महसूस हुआ कि मेरे पाँव डगमगा रहे हैं। दोनों वक़्त मिल रहे थे, आसमान पर एक पीला-सा गुबार था, जैसे आँधी आते-आते रह गयी हो। नहीं, ठीक नहीं है। आम रस आज नहीं पकता तो अच्छा था। मैं धीरे-से बड़बड़ाया। मेरी वो मनहूस छठी हिस शायद जागने वाली थी। मगर फिर मैंने ख़ुद ही अपनी तवज्जोह ज़बरदस्ती कहीं और मर्कूज़ कर दी। मैंने लूसी और जैक को चुमकारकर ज़ोर-ज़ोर-से आवाज़ें देना शुरू कर दी।

दोनों अपनी दुमें सर पर उठाए दौड़े चले आए। मैं थोड़ी देर तक उनसे खेलता रहा। फिर जैक कुछ सूँघता हुआ बावर्चीख़ाने में चला गया और लूसी छोटे चचा के पलंग के पाए पर चढ़ने-उतरने लगी।

रात हो गई, लालटेन जल गयी। मुझे भूख लगने लगी। खाना तो पहले ही तैयार हो चुका था। बस आम रस का इंतिज़ार था। वो भी अब पक गया था।

मैं बावर्चीख़ाने में देख रहा था कि नूरजहाँ ख़ाला ने आम रस की हाँडी को चूल्हे से उतार लिया है।

जैक उनके पास ही अपने अगले दो पंजों में कुछ दबाए कुतर रहा था। नूरजहाँ ख़ाला ने चूल्हे में से सुलगती हुई लकड़ी निकाली और वहीं बैठे-बैठे लोटे से पानी डालकर उसे बुझा दिया।

जलती-सुलगती लकड़ी पर जैसे ही पानी गिरा, सन-सन की एक तेज़ आवाज़ बावर्चीख़ाने में गूँजी। इन्सान इस आवाज़ से सदियों से मानूस हैं मगर बेज़बान जानवर नहीं। जैक इस (भयानक आवाज़?) आवाज़ से बुरी तरह ख़ौफ़-ज़दा होकर हवासबाख़ता होते हुए ज़ोर-से उछला और चूल्हे में जा गिरा। चूल्हे में ताज़ा-ताज़ा भोभल थी जिसकी तह में अँगारे दहक रहे थे।

वो चीं चीं की बड़ी दर्दनाक आवाज़ें थीं। सब चूल्हे की तरफ़ दौड़े, मैं ज़ोर-ज़ोर-से रोने लगा।

छोटे चचा ने उसे किसी तरह चूल्हे से बाहर निकाला। जैक चीं चीं करता हुआ, लड़खड़ाता, डगमगाता हुआ, फ़र्श पर इधर-उधर चक्कर लगा रहा था। उसके नन्हे-नन्हे पैर पूरी तरह जल गए

थे और क़साई की दूकान पर रखे छीछड़ों की मानिन्द नज़र आ रहे थे। उसकी जिल्द पर से सफ़ेद धारियाँ ग़ायब थीं। उसकी दुम जलकर टूट गयी थी। और वो एक गिलहरी न होकर एक बदनुमा, ख़ारिश-ज़दा और गंदा, दुम कटा चूहा नज़र आ रहा था। थोड़ी देर तक वो इसी तरह उछलता-कूदता रहा, फिर ख़ामोश और निढाल होकर फ़र्श पर पड़ गया। छोटे चचा ने उसे हाथ से छुआ, मैंने देखा, उसकी आँखें ग़ायब थीं। सर की जली हुई खाल आगे को लटक रही थी।

'दूध लाओ, दूध।' अंजुम बाजी ने किसी से कहा, मगर नहीं, सब बेकार था। जैक ने इससे पहले ही दम तोड़ दिया।

बावर्चीख़ाने में सन्नाटा हो गया। उस रात किसी ने खाना नहीं खाया। मैं तमाम रात पलंग पर लेटे-लेटे रोता रहा। लूसी पता नहीं कहाँ थी।

कोई मेरे पास आने की या दिलासा देने की हिम्मत न कर सका। मगर शायद आधी रात रही होगी जब मेरा ख़रगोश आकर मेरे पैरों के पास बैठ गया। वो अपनी थूथनी मेरे पांव से रगड़ रहा था। पता नहीं कब मुझे नींद आ गयी।

सुबह मैं देर से उठा। छोटे चचा ने मुझे बताया कि लूसी भी मर गयी।

फ़ज्र की नमाज़ के बाद जब छोटे चचा मस्जिद से लौट रहे थे तो उनकी नज़र बे-ख़याली में बिजली के खम्बे की तरफ़ उठ गयी। उन्होंने देखा, ऊपर बिजली के खम्बे से होकर जहाँ बहुत-से तार जाते हैं, वहाँ इन बिजली के तारों में वो झूल रही थी, मुर्दा और अकड़ी हुई।

इस बार मैं रोया नहीं, बस ख़ामोशी-से ज़ीने की सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ छत पर चला गया।

मुझे नहीं मालूम कि जानवर ख़ुदकुशी करते हैं या नहीं। मगर आज इस बात पर मुझे पूरा यक़ीन है कि लूसी ने ख़ुदकुशी की थी।

इस वाक़ये के बाद मैं अपनी इस ख़तरनाक सलाहियत से बेहद ख़ौफ़ज़दा और सरासीमा रहने लगा। मैं ख़ुदा से दुआ मांगता कि वो मुझसे ये सलाहियत, ये पुरअसरार हिस छीन ले। मैंने काफ़ी अर्से तक बावर्चीख़ाने की जानिब रुख भी न किया। मैं इसके क़रीब से भी गुज़रता तो नाक बन्द करके कि कहीं कोई ख़ुशबू न आ जाए और फिर कोई हादिसा, कोई बुरा वाक़िआ न रूनुमा हो जाए। मगर अब मुझे ये अपना बचपना और हिमाक़त ही नज़र आते हैं। अब तो ये मेरे लिए बहुत आम-सी और फ़ित्री बात हो चुकी है। जैसे कोई पैदाइशी बहरा, गूँगा या अंधा हो, बिलकुल इस तरह ये ज़ाइद और ख़ौफ़नाक छठी हिस मेरे वजूद का वो पैदाइशी ऐब या महरूमी बन चुकी है जो अब मेरी आदत में शुमार है और जिसके साथ, बग़ैर किसी परेशानी या मुश्किल के, इत्मीनान के साथ मैंने जीना सीख लिया है। बल्कि सच्ची बात तो ये है कि इस मनहूस और काली सलाहियत ने मेरे अन्दर की कमीनगी और कीनापर्वरी को भी सहारा देकर उसे और ज़्यादा मज़बूत बना दिया है।

और फिर बारिश आ गयी। वो तो उमस और हब्स के रेशों में पहले ही से पोशीदा थी। एक रात जब मैंने अपनी कलाइयों और चेहरे को उंगलियों से छुआ, तब ही मुझे महसूस हो गया कि वो आ पहुँची है।

रात के तक़रीबन तीन बजे होंगे। जब बादलों की ज़बरदस्त गरज और चमक के साथ पानी बरसने लगा। साथ में बारिश की अज़ली रफ़ीक़ हवा भी आयी। उमस की दीवार टूटकर गिर गयी और मैं बाहरी दालान में टीन से लगे दासे से लगकर खड़ा हो गया। बराबर में सुंबुल का पिंजरा लटक रहा था। हवा के तेज़ झोंके में दासे में लटकी हुई लालटेन भक्-से बुझ गयी। सारा घर तारीक हो गया। एक-बार बहुत ज़ोर-से बिजली चमकी तो मैंने देखा कि तोते ने अपने परों में मुँह छिपा लिया है।

अँधेरे में, बारिश के भयानक शोर में मुझे भी डर लगने लगा। छतों के परनालो से ज़बरदस्त आवाज़ पैदा करता हुआ पानी बह रहा था।

बारिश के शोर में अचानक मैंने एक मुख़्तलिफ़ और पुरअसरार आवाज़ सुनी। एक अजीब-सी सरसराहाट और फुंकार ज़ीने के क़रीब बने मुर्ग़ियों के दड़बे की तरफ़ से आती हुई महसूस हुई। फिर बावर्चीख़ाने के दरवाज़े पर, फिर आम के दरख़्त के क़रीब और फिर मादूम हो गयी। ये बारिश की आवाज़ हरगिज़ न थी। बारिश का ज़ोर बढ़ता जा रहा था। मुझे सर्दी और ख़ौफ़, दोनों महसूस हुए। मैं जल्दी से अन्दर जाकर अपने पलंग पर लेट गया और चादर में मुँह ढाँपते ही मुझे गहरी नींद आ गयी।

सुबह जब मेरी आँख खुली तो बारिश हो रही थी। घर में कुछ हलचल-सी महसूस हुई। मालूम हुआ कि दड़बे में बन्द सारी मुर्ग़ियाँ मर गयी हैं।

अच्छन दादी ने बताया कि रात नाग का गुज़र इधर से हुआ था। वो इतना ज़हरीला है कि उसकी फुंकार से ही मुर्ग़ियाँ और कबूतर मुर्दा हो जाते हैं। उन्होंने ये भी बताया कि ये साँप इस घर का बहुत पुराना मकीन है, जब ये घर बन रहा था तब ही से, ये उसकी बुनियादों में रेंगता और सरसराता हुआ देखा गया था। उसके असर से जानवर तो कई बार मर चुके हैं मगर किसी इन्सान को इस नाग ने कभी नहीं डसा।

अच्छन दादी यूं तो गप मारने में मशहूर थीं मगर उनकी इस बात की ताईद घर के दूसरे अफ़राद ने भी की। अगर रात का वक़्त होता तो मुझे बहुत डर लगता मगर उस वक़्त तो मुझे इस नाग को देखने का तजस्सुस पैदा हो गया। रात और दिन का यही तो फ़र्क़ है। इन्सान रोज़ एक दोहरी ज़िन्दगी जीता है। दिन में कुछ और रात में कुछ बल्कि एक दूसरी ज़िन्दगी। ज़मीन की गर्दिश कोई मामूली वाक़िआ नहीं, उसे हमेशा याद रखना चाहिए। इस अमल को फ़रामोश करना हमेशा ख़तरनाक

नताइज का मुअज़्ज़िब हुआ करता है।

'आपने नाग को देखा है?' मैंने अच्छन दादी से पूछा था। 'हाँ, कई बार। जब मैं तेरह साल की थी और इस के बाद भी कई बार। उसके ऊपर ये बड़े बड़े बाल हैं। वो बहुत पुराना है और बिलकुल काला। ऐसा काला कि उसके आगे चिराग़ नहीं जल सकता।' अच्छन दादी ने झुरझुरी लेते हुए जवाब दिया।

'वो अक्सर बावर्चीख़ाने की कोठरी में भी दिखाई दिया है।' नूरजहाँ ख़ाला ने कहा था। मगर इस पुरअसरार साँप को देखने की आरज़ू मेरे दिल में ही रह गयी। मैं जब तक अपने घर में रहा, मुझे वो कभी नज़र न आ सका। मगर अब मुझे उसे न देख पाने का कोई मलाल या अफ़सोस नहीं है क्योंकि मुझे मालूम है कि मेरे दिल में भी एक इतना ही ज़हरीला, इतना ही काला और इतना ही उम्र रसीदा एक नाग कुंडली मारे बैठा है। मैं ये जो अपनी याददाश्तें लिख रहा हूँ या सुना रहा हूँ, ये अपने दिल के इस स्याह नाग को पिटारी में बिठाकर उसके सामने बीन बजाकर तमाशा दिखाने के ही मुतरादिफ़ है। ये हिम्मत और जान जोखम का काम है, मैं तो ख़ैर अपनी अदालत को ढूंढ़ रहा हूँ या अदालत मुझे शिकारी कुत्ते की तरह सूंघती फिर रही है, मगर तुम सब क्या कर रहे हो?

मैंने तो अपना कोबरा दिखा दिया। ये रहा मेरा नाग, मगर तुम भी तो अपने-अपने नाग, अपने-अपने कोबरे दिखाओ। नेक दिल और शरीफ़ इन्सानो!

इस वक़्त मेरी याददाश्त को बहुत ज़्यादा मेहनत करना या भटकना नहीं पड़ रहा है। बारिश की याद, मेरे हाफ़िज़े को इस तरह अपने साथ लिए-लिए चल रही है जैसे बादल पानी को लेकर चलता है। बारिश कितनी भी अँधेरी हो, वो याददाश्त के लिए एक कभी न मिटने वाले उजाले की मानिन्द होती है। अब कुछ देर तक मैं जो भी लिखूँगा वो तहरीर क़लम की स्याही के ज़रिये नहीं बल्कि टीन पर टप-टप गिरती हुई बारिश के ज़रीये ख़ुदबख़ुद वजूद में आ जाएगी। बारिश की धुंध और उसकी बूँदें, उसकी बौछार और झावट और स्याह बादलों से मढ़ा हुआ आसमान, ये सब मेरे काग़ज़-क़लम हैं। बारिश ही वो लफ़्ज़ है जिसके सहारे में बग़ैर लुक्नत के, अपनी फ़र्राटेदार ज़बान में उस सीलन ज़दा और भीगे हुए ज़माने को हिफ़्ज़ कर सकता हूँ।

फिर वो रुकी नहीं। वो होती ही रही। किसी भी दिन का आसमान बादलों से ख़ाली न रहा। कभी मूसलाधार बारिश होती और कभी-कभी हल्की पड़ जाती। मगर फुहार बराबर पड़ती रही। दस दिन गुज़र गए। नदियाँ ख़तरे के निशान के ऊपर बहने लगीं। बांध खोल दिए गए और पानी ने आस-पास के इलाक़ों को डुबोकर रख दिया।

बाढ़ आ गई, इस बाढ़ में इन्सानों के साथ उनके मवेशी भी बह गए। शहर की सड़कों पर घुटनों-घुटनों पानी था। मुहल्ले के कई घरों की छतें और दीवारें गिर गईं। लोग इन गिरती हुई छतों और दीवारों के नीचे दब-दब कर मर गए। मगर बारिश न रुकी।

हमारा घर काफ़ी पुख़्ता और मज़बूत था, मगर उसकी दीवारों में जगह-जगह दरारें पड़ गईं और दालानों और कोठरियों की छतें बुरी तरह टपकने लगीं। पलंग, बिस्तर, संदूक़, मेज़, कुर्सियाँ, सब पानी से तरबतर हो गए। बावर्चीख़ाने का तो सबसे बुरा हाल था। उसकी छत से तो पानी तक़रीबन उसी तरह नीचे आ रहा था जैसे आँगन में। चूल्हा ठंडा पड़ गया। खाना दालान में अँगीठी रखकर पकाया जाने लगा।

बावर्चीख़ाने के बर्तन, तेल, घी, अनाज और मसाले-सब पानी में डूबे पड़े थे।

एक दिन घर के कच्चे आँगन में भी घुटनों-घुटनों पानी भर गया। सड़कों की नालियाँ बन्द थीं और पानी की निकासी का कोई रास्ता न था। बावर्चीख़ाना क्योंकि आँगन की सतह से बिलकुल मिला हुआ था इसलिए वहाँ भी पानी आ गया। बावर्चीख़ाने के बर्तन उसी पानी में बह-बहकर आँगन में तैरने लगे। देगचियाँ, पतीले, तसले, चमचे, कफ़गीर, पतीलियाँ और तवे, सब आँगन में बहते चले जा रहे थे। वो घर की नाली से बाहर निकल जाना चाहते थे।

पूरा घर बारिश रुकने की दुआएँ मांगने लगा। आँगन में चलना दुश्वार हो गया। लोग फिसल-फिसलकर गिरने लगे। पाख़ाने और दरवाज़े तक जाने के लिए चंद ईंटें रख दी गईं थीं जो अब पानी में पूरी तरह डूब चुकी थीं और नज़र न आ रही थीं। नारंगी के एक छोटे-से दरख़्त में अच्छन दादी ने एक सफ़ेद पुर्ज़े पर 'क क क' लिखकर लटका दिया। आँगन में पानी और काई के सिवा और कुछ न था। जब वो ये सफ़ेद पुर्ज़ा दरख़्त में लटकाकर जल्दी-जल्दी दालान की जानिब वापिस आ रही थीं, तब ही काई में उनका पैर फिसल गया। वो चारों ख़ाने चित्त गिरीं। वो काई और कीचड़ में लथ-पथ थीं। उनके कूल्हे की हड्डी टूट चुकी थी। (इस के बाद वो जब तक जिईं, साहिब फ़िराश ही रहीं और मुझे हमेशा काई में लिथड़ी हुई महसूस हुईं) घर में नालियों से बह-बहकर हशरात-उल-अर्ज़ चले आए। मेंढ़क और कछुवे, कनखजूरे और कान सलाइयाँ। केंचुए और साँप के छोटे-छोटे बच्चे भी। हद तो ये थी कि एक दिन छोटी-छोटी मछलियाँ भी। पूरा घर काई की बसांध से भर गया और उसकी हर दीवार हरी और काली नज़र आने लगी। अन्दर की दीवारों पर सीलन और पानी ने आकर सारी क़लई नेस्त-ओ-नाबूद कर दी। गारा और चूना जगह-जगह से फूल कर नीचे गिरने लगा। वहाँ तरह-तरह के धब्बे और शक्लें सी बनती नज़र आने लगीं। भयानक और बोलती हुई सूरतों, ख़ुदरौ घास और पौधों ने दीवारों की मुंडेरों पर फैलना शुरू कर दिया। आसमान फट गया था और शायद ज़मीन भी जल्द ही पैरों के नीचे से फिसलकर ग़ायब हो जाने वाली थी। तूफ़ानी बारिश में, मैं अपने कनकटे ख़रगोश के साथ दालान, कभी कोठरी और कभी दासे के क़रीब दुबका रहता और बारिश देखता रहता। जब कभी बिजली ज़ोर-से कड़कती तो नूरजहाँ ख़ाला के मुँह से बेइख़्तियार निकलता या अल्लाह ख़ैर।

रात में इस बारिश की आवाज़ महीब और पुरअसरार हो जाती। टीन पर गिरती हुई बारिश

अब मुझे उस मातमी बाजे की याद दिलाती जो मुहर्रम के दिनों में तख़्तों के साथ बजाया जाता है।

बारिश की ये आवाज़ आहिस्ता-आहिस्ता सन्नाटे में बदलती जाती थी। जैसे कोई उदास और मातमी मौसीक़ी आख़िर में ख़ामोशी या एक गहरी चुप में जाकर खो जाती है। अब मेरे कान इस बारिश की आवाज़ के आदी हो चुके थे। इसलिए मेरे लिए अब रात के सन्नाटे और बारिश में कोई फ़र्क़ नहीं रहा। मुझे नींद आने लगी, उन रातों में, मुझ पर जल्द ही नींद का ग़लबा हो जाता और मैं गहरी नींद सोने लगा। न सिर्फ़ सोने लगा बल्कि ख़ाब भी देखने लगा। ऐसे ख़ाब जिन्हें मैं आज तक नहीं भूला।

कुछ बीमारियाँ, आदतें, इज़्तिरारी अमल या रद्दे अमल वग़ैरह विरसे में मिल जाते हैं। हमारे घर के तक़रीबन तमाम अफ़राद की अक्सर सोते में अपने ही दाँतों से ज़बान कट जाती थी। जैसे वो एक लज़्ज़त आगीं या वहशत-अंगेज़ ख़ाब देखते थे। वो सुबह को आँखें मलते हुए उठते और उनके मुँह से ठोढ़ी की तरफ़ बहती हुई एक ख़ून की लकीर होती।

अब तक मैं बचा हुआ था। सोते में, मेरी ज़बान दाँतों के दरम्यान कभी नहीं आयी थी मगर इस दफ़ा बारिश और सैलाब की इन पुरअसरार रातों में, जब में बहुत गहिरी नींद सोने लगा और ख़्वाब देखने लगा तो सुबह को जागने पर मेरे मुँह से भी ख़ून की पतली सी लकीर ठोढ़ी पर बहती नज़र आने लगी। मैं उसे अक्सर शहादत की उंगली से पोंछ दिया करता।

इन ख़ाबों में हमेशा एक लड़की होती या ये कि लड़की न होकर वो बारिश थी जिसने ख़ाब का चोला पहन लिया था। हर बार के ख़ाब में उस की सूरत मुख़्तलिफ़ होती मगर मेरे अन्दर, ज़ीरीं सतह पर ये एहसास हमेशा मौजूद रहता कि वो एक ही लड़की है। वही एक वजूद जो हर ख़ाब में आता है। मैं लाख कोशिश कर लूँ मगर उसका हुलिया लफ़्ज़ों में नहीं बयान कर सकता। कभी लगता कि वो चेहरा दुनिया के हर इन्सान से मिलता-जुलता है। और कभी ये महसूस होता कि वो चेहरा किसी से भी मुशाबहत नहीं रखता। कुछ शक्लें, कुछ सूरतें ऐसी होती हैं जो आँखों की गिरफ़्त में नहीं आतीं। वो आँखों से होकर निकल जाती हैं। और फिर ख़ुशबू बनकर रूह में उतर जाती हैं, ये और बात है कि हर ख़ुशबू आपको महज़ मसर्रत ही नहीं फ़राहम करती, वो कभी-कभी बल्कि अक्सर बेहद अफ़्सुर्दा भी कर देती है।

वो अपनी हथेली आगे बढ़ाती है। कलाइयों तक उसके हाथों में मेहँदी लगी हुई है। मैं ग़ौर से देखता हूँ, गोरी, उजली साफ़, नाज़ुक सी हथेली पर एक सूखा शामी कबाब रखा हुआ है।

'लो, खा लो।'

मैं एहतियात के साथ शामी कबाब उठाता हूँ। शामी कबाब बर्फ़ की तरह ठंडा और उदास है। मैं शामी कबाब का एक टुकड़ा दाँतों से काटता हूँ।

मन्न व सल्वा शरमाकर एक कोने में छिप जाता है। लड़की भी अचानक गुम हो जाती है।

मेरी आँख खुल जाती है। बारिश हुए जा रही है।

'गुड्डू मियाँ! तुम्हें खाने में सबसे ज़्यादा क्या पसन्द है?' लड़की पूछती है। इस बार उसकी कलाइयों में सब्ज़ चूड़ियाँ हैं। चूड़ियाँ उसकी खनकदार आवाज़-से खुद भी खनकने लगतीं हैं।

'कोरमा।' मैं जवाब देता हूँ।

और?'

'पुलाव।'

'और?'

'अरहर की दाल।'

'और?'

'और... और...' मैं ज़हन पर ज़ोर देता हूँ। फिर जोश भरे लहज़े में कहता हूँ। 'और सबसे ज़्यादा तो गुर्दा कलेजी।'

'गुर्दा कलेजी?'

'हाँ! वो मुझे बहुत-बहुत पसन्द है।'

'तुम्हें गुर्दे कलेजी इतने पसन्द हैं?' लड़की की आवाज़ रुँध जाती है।

'हाँ! मगर हमारे यहाँ बहुत कम पकते हैं। सिर्फ़ बक़र ईद में।'

मैं अफ़्सुर्दगी के साथ कहता हूँ।

'तुम्हें गुर्दे कलेजी इतने पसन्द हैं तो मेरे निकालकर खा लो।'

मैं उसे टुकुर-टुकुर देखता रहता हूँ।

'हाँ निकाल लो, मेरे दोनों गुर्दे और मेरी कलेजी।' वो पुर-खुलूस लहज़े में कहती है।

मैं बावर्चीख़ाने में जानवर ज़बह करने वाली छुरी लेने के लिए चला जाता हूँ।

मेरी आँख खुल गयी। सुबह हो गयी है। बारिश हुए जा रही है। मुँह से ठोढ़ी तक ख़ून लगा हुआ है। मेरी ज़बान में बहुत तकलीफ़ हो रही है। ज़बान दाँतों के दरम्यान आकर बुरी तरह कट गयी है। मैंने सोचा कि मेरे दाँत नुकीले भी तो बहुत होते जा रहे हैं।

ख़ाबों का ये सिलसिला तब तक चलता रहा जब तक बारिश होती रही। फिर एक दिन पानी बरसना बन्द हो गया। आख़िर-ए-कार बारिश रुक गयी। हर बारिश को बहरहाल एक-न-एक दिन रुकना ही होता है। इस तवील तरीन भयानक बारिश को भी थककर रुकना ही पड़ा था जो लाखों

बरस तक इस क़ुर-ए-अर्ज़ पर होती रही थी।

धूप निकल आयी। सूरज ने बादलों की स्याह निक़ाब, अपने चेहरे से नोचकर फेंक दी। हर शै अब सूखने लगी। घर, दीवारें, छत, कपड़े-सब गर्म होने लगे। मगर ये एक सीलन ज़दा तमाज़त थी। बारिश के बाद सारे शहर में बुख़ार की वबा फैल गयी। खाने सड़ने लगे। खाना, बावर्चीख़ाना हो, या कोई और जगह, हर जगह सड़ रहा था। और सड़े हुए खाने की बू हर जगह से आ रही थी। ये बुख़ार आँतों और पेट में ख़तरनाक जरासीम पैदा होने से आता था। हमारे घर में भी हर किसी का पेट ख़राब था। सब उल्टियाँ कर रहे थे और एक-दूसरे को, चिड़चिड़ाते हुए, तक़रीबन खा जाने के लिए दौड़ते थे। सबकी आँतों में मरोड़ थी। अंजुम बाजी तक की आँतों में (मुझे इस बार उनके पेट में आँतें होने के एहसास से इतना सदमा नहीं पहुँचा)। इन दिनों घर में सिर्फ़ मूंग की दाल की खिचड़ी पकती थी और सारा घर उसे दही के साथ दोनों वक़्त खाता था। मैंने इतने बड़े देगचे में इतनी ज़्यादा खिचड़ी पकती कभी नहीं देखी थी।

मैं भी खिचड़ी ही खाता रहता, मगर मेरा पेट ख़राब नहीं हुआ। न तो मेरी आँतों में मरोड़ हुई और न ही मुझे कोई उल्टी हुई।

दरअसल, हैज़ा फैल गया था। बरसात के बाद, इन दिनों ये बीमारी आम थी, लेकिन इस बार उसने वबा की सूरत इख़्तियार कर ली। लोग क़ै और दस्तों से मरने लगे। हमारे मुहल्ले में ही कई मौतें हुईं। घर के पास ही डॉक्टर इक़बाल का मतब था। डॉक्टर इक़बाल एक नीम हकीम था और उसके पास बाक़ायदा कोई मेडिकल डिग्री नहीं थी मगर उस के मतब पर मरीज़ों का मेला लग गया। मतब एक पतली-सी गली में था। ये पूरी गली हैज़े के मरीज़ों से और पेशाब-पाख़ाने की नागवार बदबुओं से भरी रहती थी। मरीज़ एक के ऊपर एक लदे-से रहते और अक्सर अपनी-अपनी उल्टियाँ और क़ै बर्दाश्त न करते हुए, एक-दूसरे की पीठ पर ही कर देते और फिर आपस में मारपीट की नौबत आ जाती। अगरचे मारपीट हो न पाती क्योंकि वो सब लगातार दस्तों, उल्टियों, बुख़ार और कुछ न खाने-पीने की वजह से इंतिहाई लाचार और कमज़ोर हो चुके थे। उनकी खाल, गोश्त और हड्डियों में पानी की बूँद तक न बची थी। कई मरीज़ों ने डॉक्टर इक़बाल के मतब के सामने, इसी गली में नालियों में गिरकर दम तोड़ दिया।

ये था इन्सान की आँतों का तमाशा जिसे सबने खुली आँखों से देखा। ये थी मुँह चलाए जाने की सज़ा। इन्सान का जुर्म और उसकी सज़ा, दोनों ही उसकी तामीर में मुज़्मिर हैं।

इसलिए मैंने कहीं कहा था कि इन्सान अपनी आँतों में रहता है।

फिर आहिस्ता-आहिस्ता ये वबा भी कम होने लगी क्योंकि ज़मीन ने गर्दिश करना तो छोड़ा नहीं था। सितंबर के आख़िरी दिन आ पहुँचे और वो हवाएँ चलने लगीं जिनसे तेज़ धूप भी हार जाती

है, वो धुली धुलाई और पाकीज़ा धूप थी। नीला आसमान पहले से ज़्यादा नीला नज़र आने लगा और दोपहर में तेज़ हवा के झक्कड़ जैसे धूप और आसमान, दोनों को अपने साथ उड़ाए ले जाते थे, मौसम ने करवट ली थी। हैज़े के जरासीम कमज़ोर पड़ने लगे।

ये हवाएँ बारिश के रुख़सत हो जाने का एक जश्न मना रही थीं या नौहा, ये तो मेरी समझ में आज तक न आ सका, हालाँकि मैं हर साल बारिश के बाद चलने वाली इन हवाओं से दो चार होता हूँ मगर अब ये भी है कि जश्न और नौहा कौन-सी दो मुख़्तलिफ़ बातें हैं, जिस तरह ज़िन्दगी और मौत दो मुख़्तलिफ़ चीज़ें नहीं हैं।

वो ख़ौफ़नाक बारिश तो चली गयी थी मगर मैं पहले से कुछ ज़्यादा बड़ा और शायद ज़्यादा ख़तरनाक हो गया था। मेरे गालों और ठोढ़ी पर हल्का-हल्का-सा रोआँ-सा उग आया था। मुझे अब उस मेहरबान लड़की वाले ख़ाब बिलकुल नहीं आते थे, न ही दाँतों के दरम्यान आकर ज़बान कटती थी। मेरे इम्तिहान क़रीब आ रहे थे। मुझे रातों को जाग-जाग कर पढ़ना था। इसलिए मैंने उन ख़ाबों को बाएँ तरफ़, अपने दिल के क़रीब, अपनी क़मीज़ की ऊपरी जेब में रख लिया है जिसे जब चाहे निकालकर देखा जा सकता है। मैं अपने ख़ाबों को देखने के लिए नींद का मुहताज नहीं था।

मैं देर रात तक जाग-जाग कर पढ़ता। ज़्यादातर रियाज़ी के सवाल हल करता क्योंकि हाई स्कूल में, इस मज़्मून से सबसे ज़्यादा मुझे डर लगता था। बहुत-से सवालों को मैं हल नहीं कर पाता था। तब उनके जवाब, किताब के आख़िर में देखकर मैं उलटे-सीधे, ऊटपटांग तरीक़े से फ़ॉर्मूले का ग़लत इस्तेमाल करते हुए नीचे लिख दिया करता था। ज़ाहिर था कि मेरी रियाज़ी चौपट हुई जा रही थी। और सबसे ज़्यादा तो अलजबरा और ज्योमेट्री जहाँ सब कुछ पहले से ही फ़र्ज़ कर लिया जाता था। यहाँ सब कुछ एक तुकबन्दी थी। एक अंधा रास्ता, कुछ मानकर चलो और एक ऊटपटांग, मगर अपने ही बनाए हुए रास्ते पर चलकर उसे साबित कर दो। (दुनिया के वजूद को भी ऐसे ही साबित किया गया और ऐसे ही सराब मानकर उसका न होना भी साबित कर दिया गया) अक़्ल-ओ-दानिश और मंतिक़ की ये ख़ुद-ग़रज़ मक्कारियाँ अब तो मेरे सामने पूरी तरह अयाँ हो चुकी हैं। मगर उन दिनों हिसाब का मज़मून मुझे बुरी तरह थकाकर रख देता था और मैं तंग आकर सवाल को हल किए बग़ैर उसका जवाब देखकर वहीं लिख दिया करता था और ये बात भी आज तक मेरे लिए नाक़ाबिल फ़हम बल्कि मज़हकाख़ेज़ है कि अगर किसी सवाल या मसले का जवाब कहीं लिखा हुआ है या किसी ने उसे हल कर रखा है और उस पर उसे यक़ीन भी है तो फिर दूसरों को उलझाने और परेशान करने से क्या फ़ायदा?

मगर इस रियाज़ी से अलग एक दूसरी रियाज़ी भी थी। एक मुह्लिक और पुर असरार रियाज़ी जिसका इल्म मेरे इलावा किसी को नहीं था। सिर्फ़ मेरे पास ही उसके ख़तरनाक फ़ॉर्मूले थे। उसकी कोई किताब न थी जिसके आख़िरी औराक़ पलटकर मैं सवालों के हल ढूंढ़ लेता, मगर मैं हल से

लाइल्म रहते हुए भी हल की नौईयत से वाक़िफ़ था और जानता था कि वो कितने आदाद के दरम्यान कहीं होगा। कम नहस से ज़्यादा नहस के दरम्यान।

यक़ीनन अब ये एक घटिया हथियार था जो मेरे हाथ लग गया था और मैं उस पर कभी कभी फ़ख्र भी करता। घटिया बातों पर फ़ख्र करने वालों में, दुनिया में अकेला मैं ही तो नहीं हूँ। कितने आमिल, तांत्रिक, ज्योतिषी, क़िस्मत का हाल बताने वाले और छिछोरे, सियासतदां और कारोबारी लोग आख़िर घटिया बातों पर ही तो फ़ख्र महसूस करते हैं।

इस ख़तरनाक मज़मून का एक सवाल मैंने जल्द ही फिर हल किया।

मेरे छह माही इम्तिहान ख़त्म हो गए थे। मैंने फिर से जासूसी नॉवल पढ़ना शुरू कर दिए और ज़्यादा-से-ज़्यादा वक़्त अंजुम आपा के घर गुज़ारने लगा। अंजुम आपा एक साँवले बल्कि पक्के रंग की लड़की थीं। मगर उनका मुँह, हाथ पैरों की बनिस्बत काफ़ी साफ़ रंगत लिए हुए था जो एक अजीब बात थी। उनका क़द ठिगना था और चेहरा बिलकुल गोल था। किसी चपाती की तरह जिस पर चेचक के जा-बजा निशानात थे। बिलकुल चपाती पर लगी हुई चपतियों की मानिन्द। उस चेहरे को देखकर मुझे हमेशा भूख लगने लगती थी और मेरी आँतें कड़कड़ाने लगती थीं। वो चेहरा मुझे हमेशा अपना-अपना-सा लगता था। जैसे अपने घर में खाना खाते वक़्त, रोटी की डलिया में रखी चपाती अपनी-अपनी-सी लगती है। अंजुम आपा मुझसे बहुत ख़ुलूस से पेश आतीं, कभी-कभी तो मुझे लगता जैसे वो मुझे अंजुम बाजी से भी ज़्यादा चाहती हैं।

बरसात के बाद उनका बावर्चीख़ाना बहुत ख़स्ता-हाल हो गया था। वो कच्चिया ईंटों का बना था और दीवारों पर हर तरफ़ जंगली घास उग आयी थी। अक्टूबर का महीना था जिसमें धूप बहुत तेज़ और चमकदार होती है और शाम को कुछ धुंध-सी फैलने लगती है।

मैं अंजुम आपा से एक जासूसी नॉवल के मुजरिम के बारे में बातें कर रहा था कि मुझे उन के बावर्चीख़ाने से कुछ तले जाने की ख़ुशबू आयी। मेरे नथुने महककर रह गए। दोपहर थी और मुझे ज़ोरों की भूख पहले से ही लग रही थी। मैंने नाक के नथुने फुलाकर ख़ुशबू को सूँघा।

अंजुम आपा हँसने लगीं।

'अम्मां दाल भरे पराठे तल रही हैं।' एक पराठा खाकर जाना।

'पराठे! दाल भरे पराठे।' मैंने दुहराया।

'हाँ!'

ठीक उसी वक़्त मेरे दिल पर जैसे एक सुई-सी चुभी, एक गीली-गीली, पानी से तर सुई जिसकी ठंडी चुभन अब मेरे बाएँ कांधे तक रेंग आयी। मैं ख़ौफ़-ज़दा-सा हो गया। इस ख़तरनाक और पोशीदा रियाज़ी का एक सवाल मेरे सामने था। और में इसके हल की हदूद का तअय्युन करने

के लिए एक मुख़्तलिफ़ शख़्सियत में तब्दील हो चुका था।

'नहीं, अब मैं जाऊँगा।' मैं उठ कर खड़ा हो गया।

'क्यों? क्या ग़रीबों के घर खाना नहीं खा सकते?'

'ये बात नहीं अंजुम आपा, मगर मुझे बाज़ार से सौदा लाना है।'

मैंने बहाना किया और कल फिर आने का वादा करते हुए उनके घर से बाहर आ गया। मेरी भूख जैसे बिलकुल मर गयी थी। दाल भरे पराठे। दाल भरे पराठे। मेरा ज़हन लगातार यही गर्दान किए जा रहा था।

मैं अभी बस इन क़ब्रों तक ही पहुँचा होऊँगा कि मैंने अपने पीछे एक ज़ोर की धमक सुनी। एक ऐसी धमक जिसके साथ-साथ एक पुरअसरार-सी सनसनाहट भी शामिल थी। मैं वापिस मुड़ा। उधर शोर बुलंद हो रहा था।

'दीवार गिर गई, दीवार गिर गयी।' कोई चीख़ रहा था।

'किस की दीवार गिर गई?'

मगर में अच्छी तरह जानता था कि किसकी दीवार गिरी है।

मैं भागता हुआ अंजुम आपा के मकान पर पहुँचा। वहाँ भीड़ लग गयी थी।

अंजुम आपा के ख़स्ता और बोसीदा हाल बावर्चीख़ाने की दीवार गिर गयी थी। और उनकी माँ इससे दबकर मर गयी थीं।

मैंने ख़ुद अपनी आँखों से देखा।

गिरी हुई दीवार के मलबे और बरसों पुरानी कच्ची ईंटों और ख़ुद रौ जंगली घास के नीचे वो साकित व जामिद पड़ी हुई थीं। उनके सारे जिस्म को मलबे ने ढँक लिया था। सिर्फ़ उनका मुँह बाहर था। उनके सर से खून बह रहा था।

दीवार के मलबे के नीचे ही शायद ईंटों का चूल्हा भी दबा पड़ा था जिसकी आग बुझकर मिट्टी, गारे और ख़ुद रौ घास पौदों में दफ़्न हो गयी थी।

'इन दिनों ही तो मकान गिरते हैं। बरसात के बाद की धूप में ही दीवारें अपनी जगह छोड़ती हैं।' कोई कह रहा था।

मगर मुझे अच्छी तरह इल्म था कि दीवार क्यों गिरी है। दूध में पड़ी एक ज़हरीली छिपकली ने मुझे तिगनी का नाच नचाकर रख दिया था। अंजुम आपा ग़श खाकर गिर पड़ी थीं। बावर्चीख़ाने की उसी दीवार की तरह। घर में भीड़ बढ़ती चली गयी। सारा मुहल्ला इकट्ठा हो गया।

बावर्चीख़ाने में दाल भरे पराठे मुझे नज़र नहीं आए। मगर उनकी ख़ुशबू अब दूर-दूर तक फैल रही थी। यहाँ तक कि जब में अपने घर पहुँचा तो वहाँ भी हवा के ज़ोर पर दाल भरे पराठों की ख़ुशबू इधर-उधर रेंगती महसूस हुई।

मैं परेशान, सरासीमा और एक बेवजह के एहसास-ए-जुर्म से मग़्लूब होकर तोते के पिंजरे के पास जाकर खड़ा हो गया। मेरा कनकटा ख़रगोश आकर मेरी पतलून के पायंचे पर मुँह रगड़ने लगा।

काश में वहाँ आज उस वक़्त न जाता। मैंने पशेमान होकर सोचा।

'गुड्डू मियाँ आ गए.... गुड्डू मियाँ आ गए....' : तोता ज़हरख़ंदा लहज़े में बोला।

उन्हीं दिनों नूरजहाँ ख़ाला की रिश्ते की एक भतीजी जो एक क़रीबी तहसील में रहती थी, शहर में इलाज कराने के लिए आयी। वो हमारे घर ही ठहरी, उसका नाम अंजुम बानो था।

वो अपने भाई के साथ आयी थी जो क़स्बे से रसाविल की हाँडी भी साथ लाया था। मिट्टी की हाँडी जिस पर लाल काग़ज़ मढ़ा हुआ था। इन दिनों ये रिवायत थी कि हमारे घर से जब कोई किसी रिश्तेदार के यहाँ दूर गांव या क़स्बे जाता तो रसाविल की हाँडी लेकर ज़रूर जाता और जो रिश्तेदार हमारे यहाँ आते वो भी रसाविल की हाँडी लेकर आते। ये हाँडी अपनी बनावट और हैअत के एतबार से हमेशा मुझे पुरअसरार ही नज़र आयी। अगरचे रसाविल मैं भी बहुत शौक़ से खाता था।

अंजुम बानो उम्र में मेरे बराबर थी। उसके जिस्म में ख़ून की कमी थी। वो ज़र्द रंग की थी। मुम्किन है कि उसकी रंगत पहले गोरी रही हो मगर अब उसकी तमाम खाल ज़र्द थी। उसकी पीली रंगत का मुवाज़ना अंजुम बाजी की रंगत से नहीं किया जा सकता था जो कि उन्हें फ़ित्रत की तरफ़ से दिया गया एक ख़ूबसूरत और पाकीज़ा तोहफ़ा था। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी और ख़ाली-ख़ाली-सी थीं जिसकी पुतलियों में सिर्फ़ पीला रंग लगा हुआ था। जब वो मुस्कुराती तो उसकी पुतलियों का ये पीला रंग हल्की-सी सुर्ख़ी में तब्दील होता नज़र आता मगर फ़ौरन ही मादूम हो जाता।

दुपट्टे में उसके सीने का उभार बहुत ग़ौर से देखने के बाद ही महसूस होता वर्ना वो सिर्फ़ एक सपाट सीना था। मेरी उम्र अब इतनी हो गयी थी कि मैं औरत के तईं ख़ास जिन्सी दिलचस्पी भी ले सकता था। और यक़ीनन मुझे अंजुम बानो से एक ख़ालिस जिन्सी दिलचस्पी पैदा हो गयी। मुमकिन था कि आगे चलकर इसमें मुहब्बत का असर भी शामिल हो जाता क्योंकि मुहब्बत और जिन्स एक दूसरे के इस तरह पीछे लगे रहते हैं जैसे उमस के पहले बारिश या हब्स के पीछे पीली आंधी। मगर ऐसा न हो सका, उसकी वजूहात तब तो नहीं मगर अब मैं थोड़ा-थोड़ा समझ सकता हूँ।

अंजुम बानो की आँखों में भी एक प्यास थी। एक सख़्त जिन्सी प्यास जो किसी भी जवान लड़की, जो बीमार रहती हो, मैं ग़ैरमामूली तौर पर पाई जाती है। सिर्फ़ एक हफ़्ते के अन्दर-अन्दर हम दोनों ने एक-दूसरे की आँतों... माफ़ कीजिएगा, आँखों को मुकम्मल तौर पर पढ़ लिया।

एक सुनसान-सी दोपहर में, मैं चुपके-से उठकर बावर्चीख़ाने में आ गया। वो बाहरी दालान में बैठी मसूर की दाल बीन रही थी।

बावर्चीख़ाने में आकर मैंने उसे इशारा किया। वो पहले तो ख़ामोशी से दाल बीनती रही फिर एक चौकन्नी बिल्ली की तरह उसने इधर-उधर देखा। और दाल की सैनी लिए-लिए, दबे-पाँव, बिल्ली की चाल चलती हुई बावर्चीख़ाने में आ गयी।

मैं उसे अन्दर कोठरी में ले गया जहाँ रोशनदान से छन-छनकर दोपहर के सूरज की रोशनी अन्दर आ रही थी। मुझे कोई पहल नहीं करनी पड़ी, वो तो आते ही मुझसे बुरी तरह लिपट गयी और मुझे दीवाना-वार चूमने लगी। उसकी साँसों से आम के अचार की बू आ रही थी। मैंने उसके पिस्तानों की तरफ़ हाथ बढ़ाया तो वहाँ कुछ भी न था या अगर था तो मेरी उँगलीयों को महसूस न हो सका।

मगर वो बिलकुल ही होश खो बैठी। उसने मेरा एक हाथ पकड़कर अपने सीने पर ज़ोर-से चिपका लिया। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि किसी औरत के पिस्तान बाहर को उभरे हुए या बड़े-बड़े हैं या नहीं। शायद जिस तरह कुछ इन्सानों के एक-आध दाँत मसूड़ों के अन्दर ही रहते हैं और ज़िन्दगी-भर बाहर नहीं निकलते, इसी तरह कुछ औरतों के पिस्तान सीने की नामालूम, पुर असरार गहराइयों में छुपे रहते हैं और मर्द के हाथ लगने से बाहर आने के लिए तड़प उठते हैं।

वो बुरी तरह तड़प रही थी। उसकी साँसें बहुत तेज़ हो गईं। उसकी धौंकनी-सी चलने लगी। लगा कि जैसे उसके फेफड़े फटने वाले हैं। आम के अचार की बू बढ़ती गयी। मुझे आम की बू या ख़ुश्बू से नफ़रत थी जो आज तक क़ायम है। मैं बदमज़ा होने लगा। और फिर धीरे-धीरे ख़ौफ़ज़दा भी।

उसके पीले चेहरे पर रोशनदान से आती हुई धूप की किरण पड़ रही थी। मुझे अचानक उसका पीला चेहरा और पीला जिस्म बहुत पाकीज़ा नज़र आया।

ये जिस्म बीमार था, इस जिस्म में खून नहीं बनता था। आदमी के जिस्म में ज़्यादा खून होना हवस की निशानी है और भद्दा भी।

मगर अंजुम बानो की हवस उसकी रूह में पोशीदा थी और इस भयानक हवस और वहशत का साथ देने में उसका बीमार, खून की कमी का मारा हुआ, यर्क़ान-ज़दा जिस्म साथ नहीं दे सकता था। इसलिए वो जिस्म एक खिज़ां रसीदा पत्ते की तरह लरज़ने और काँपने लगा। अंजुम बानो की रूह की प्यास न जाने कितनी सदियों की प्यास थी और ये प्यास इसलिए बेक़ाबू थी कि अंजुम बानो का जिस्म बहुत बीमार था। रूह जिस्म पर अपनी वहशत, अपनी ख़ाहिश और अपनी हवस के वार-पे-वार लगाती जा रही थी। वो इस कमज़ोर, बीमार मगर पाकीज़ा जिस्म के टुकड़े-टुकड़े कर हलाक कर देने

के दर पे थी।

मैं अंजुम बानो से दूर हट गया। वो मेरी तरफ़ बढ़ी। मैंने उसे झटक दिया। उसकी बड़ी-बड़ी ख़ाली आँखों में अंडे की-सी ज़र्दी आकर बैठ गयी। ऐसा लगा जैसे उसे मिर्गी का दौरा पड़ने वाला हो। वो धम-से ज़मीन पर बैठ गयी। उसके दाँत भिंचने लगे और पूरा जिस्म अकड़ने लगा। उसका पीला जिस्म अचानक नाक़ाबिल-ए-यक़ीनी तौर पर स्याह पड़ने लगा। अंजुम बानो पीली से काली हो गयी। मेरे सामने, हाँ बिलकुल मेरी आँखों के सामने।

मगर मैं वाज़हे तौर पर कह सकता हूँ कि वो एक मुक़द्दस स्याही थी। हवस ज़दा रूह ने पाकीज़ा जिस्म से बदला लिया था। मगर जिस्म ने भी रूह के आगे हथियार नहीं डाले थे। मैं थोड़ी देर तक, डरा-डरा उसे यूँ ही देखता रहा फिर जल्दी-से बावर्चीख़ाने से बाहर निकल गया।

अंजुम बानो तीन दिन और हमारे घर में रही मगर न मैंने उसकी जानिब देखा और न उसने मेरी तरफ़ नज़र उठाई। तीन दिन बाद उसका भाई आकर उसे वापिस ले गया। मगर इस बार भी वो लाल काग़ज़ मढ़ी रसाविल की हाँडी लाना नहीं भूला था। डॉक्टरों ने उसका मर्ज़ लाइलाज बताया था। उसे एक बहुत ख़तरनाक बीमारी थी। उसका जिस्म ख़ून बनाता ही नहीं था, सिवाए इसके कि उसे ख़ून चढ़ाया जाता रहे और कोई चारा न था।

क्या किसी ने भी उस पर ग़ौर किया कि महज़ रूह की पाकीज़गी के डंके पीटते रहने से ही कुछ नहीं होता? असल मसला तो जिस्म का है, जिस्म की पाकीज़गी ही असल शै है। इन्सान को चाहिए कि शुऊर बिज्ज़ात की बात तो बहुत हो चुकी, अब ज़रा बदनाम-ए-ज़माना माद्दे की बात भी हो जाये। माद्दे को भी उसका जायज़ हक़ दिया जाये। आख़िर कब तक रूह अपने आमाल की सज़ा जिस्म को देती रहेगी।

रूह ने क्या सोचा है कि अगर कभी जिस्म उसके अहकाम की तामील करने और उसकी ग़ुलामी करने से इन्कार कर दे तो? तो फिर शायद दुनिया की तारीख़ दूसरी तरह से लिखी जाएगी।

एक अर्से बाद मैंने सुना कि अंजुम बानो का इंतिक़ाल हो गया। वो जब तक ज़िंदा रही, उसके जिस्म में लगातार ख़ून चढ़ाया जाता रहा। मगर फिर उसके जिस्म ने दूसरों का ख़ून भी क़बूल करने से इन्कार कर दिया। जब भी उसे ख़ून की बोतल चढ़ाई जाती तो उसके बाद उसकी नाक, कानों और मुँह से ख़ून बाहर आने लगता। मरने से एक माह पहले अंजुम बानो ने खाना-पीना बिलकुल छोड़ दिया था। उसकी आँतें बिलकुल साफ़ और पाक थीं और पुरानी आलूदगी, बदनीयती, चटोरेपन और भूख के हर निशान से आरी थीं।

आख़िर अंजुम बानो के जिस्म की पाकीज़गी ने सबको हरा कर रख दिया।

अफ़्सुर्दा कर देने के लिए इन्सान के पास कितनी बातें, कितनी यादें होती हैं और ख़ुश होने

के लिए बहुत कम। माज़ी का मुआमला भी अजीब है। माज़ी की मसर्रतों और ख़ुशियों को भी अगर याद करें तो वो भी एक उदासी और अफ़्सुर्दगी में ही बदल जाती हैं। गुज़रा हुआ वक़्त हूबहू सामने नहीं आता, वो एक प्रेत की ख़ौफ़नाक शक्ल में सामने आता है। मुर्दा बन्दर के पंजे या हड्डी की तरह।

अक्टूबर का महीना भी गुज़र गया और नवम्बर का महीना आ पहुँचा। नवम्बर का महीना दरअसल कोई महीना ही नहीं। उसका अपना कोई मौसम ही नहीं। ये एक ज़वालपज़ीर महीना है। अँधेरी ढलान पर बे जान चट्टानों की तरह लुढ़कते हुए, नवम्बर के ये दिन, रातों के हाथ मज़बूत करते हुए। आने वाले सर्द, गाढ़े, हवाओं के शोर से लदे फंदे, दिसम्बर के अँधेरों के इंतिज़ार में पहले से ही सफ़ें बाँधे, सैल्यूट करते हुए, नवम्बर के ये दिन जो साल के बारह महीनों में कहीं अपनी कोई इन्फ़िरादी या बावक़ार छाप नहीं छोड़ते। मौसम के एतबार से, ये मामूली, हक़ीर दिन, गिरते हुए, जल्दी-से ग़ायब होते हुए। उनकी छाप सिर्फ़ उन बद-नसीबों पर ही पड़ती है जिनके सीने पर नवंबर का कोई लुढ़कता हुआ पत्थर आकर ठहर गया हो।

रूह के पागलपन की सज़ा जिस्म को झेलना पड़ती है।

उन्हीं दिनों एक पागल बन्दरिया ने हमारा घर देख लिया। वो बन्दरिया हर वक़्त हैज़-से होती रहती थी और जब मौक़ा मिलता, किसी-न-किसी को काट खाती। उस ज़माने में मुझे ये नहीं मालूम था कि बन्दरियों को भी हैज़ होता है, मगर जब मैंने उस बन्दरिया की दुम पर खून के धब्बे देखे तो मैं समझ गया। आख़िर साइन्स के मुताबिक़ बन्दर ही तो इन्सानों के आबा-ओ-अजदाद हैं। उन्हीं हैवानों की सारी लानतें, इन्सान भी भुगत रहे हैं।

रात को सोते वक़्त, हर शख़्स को ख़ौफ़ था कि कहीं सोते में बन्दरिया न आकर काट ले। मुहल्ले में बहुत-से लोगों को उसने सोते में काट लिया था।

दिन में वो, छतों और मुंडेरों पर इधर-उधर कूदती-फाँदती और भटकती फिरती और रात में पता नहीं कहाँ दुबककर बसेरा करती।

मैंने उसे देखा था, वो एक क़वि उल जुस्सा बन्दरिया थी जिसकी आँखों में पागलपन और एक बेक़ाबू और बेतुका गुस्सा भरा रहता था। उसे कोई बीमारी थी। वो शायद हमेशा हैज़-से होती रहती थी। ये कोई ऐसी हैरानकुन बात नहीं। जिस्म के अन्दर हज़ारहा पुरअसरार पहलू होते हैं। उस पागल बन्दरिया की वजह से जाड़े के ये शुरुआती दिन बड़ी दहशत में गुज़र रहे थे, मगर एक दिन ये मसला हल हो गया। वो सामने वाले घर की तीन मंज़िला इमारत की छत पर कूदते-कूदते अचानक टप-से सड़क पर गिर पड़ी। सारा मुहल्ला उसे देखने भागा। मैं भी गया।

वो सड़क पर मुर्दा पड़ी थी। उसके मुँह में डबल-रोटी का एक टुकड़ा फँसा हुआ था। उसके जिस्म का निचला हिस्सा खून से सना हुआ था। उसकी आँखें खुली हुई थीं जिनमें वही पागल गुस्सा

लगातार अब आसमान की तरफ़ ताके जा रहा था। शाम हो रही थी, मग़रिब की अज़ान होने लगी। मैंने सोचा क्या बन्दरिया ने भी ख़ुदकुशी की है। लूसी की तरह? मुमकिन है कि ऐसा ही हो या न हो। बढ़ती हुई तारीकी ने सड़क पर पड़ी बदनसीब बन्दरिया की लाश को ढँक दिया।

नवम्बर के आख़िरी दिन थे या फिर दिसम्बर की शुरुआत। मुझे कुछ ठीक से याद नहीं आ रहा है। बहरहाल, ज़माना यही था जब नयाज़ों और शादी ब्याहों का दौर आ पहुँचा। इन दिनों मैंने जितनी दावतें खाईं, उनका शुमार नहीं किया जा सकता। मैं चूँकि अब भी घर में सबसे छोटा था बल्कि बच्चा ही तसव्वुर किया जाता था इसलिए घर का हर फ़र्द दावत में मुझे ज़रूर साथ ले जाता था। चाहे वो मुहल्ले की कोई शादी हो या फिर रिश्तेदारों के यहाँ। वो एक अजीब मंज़र होता। उस ज़माने में शादी हॉल या होटलों का रिवाज न था। मुहल्ले का कोई एक निस्बतन बड़ा मकान ले लिया जाता। उसके आँगन या दालान में लकड़ी की तीन-चार मेज़ें मिलाकर लगा दी जातीं, इन मेज़ों पर काले मैल और सालन और चिकनाई की मोटी-मोटी तहें जमी होतीं। मेज़पोश अगर होते तो सालन के पीले-पीले धब्बों से बिलकुल रंगे हुए और पानी से तर भी। मेज़ों के दोनों जानिब क़तार से लोहे की बदरंग और बेहद तकलीफ़देह कुर्सियाँ लगाई जातीं, मेज़ें और कुर्सियाँ, दोनों ऊपर-नीचे हिलती रहती थीं।

लोग अपनी बारी का इंतिज़ार अलग बैठकर कम करते, वो कुर्सियों के पीछे इस तरह खड़े रहते जैसे कुर्सी ग़ायब न हो जाये। वो खाने वालों का हर हर निवाला गिनते और बेचैनी के साथ कभी एक पाँव पर ज़ोर देकर टेढ़े हो जाते तो कभी दूसरे पैर पर। खाने वाले ख़ुद बहुत जल्दी जल्दी खाते। अक्सर बग़ैर चबाए ही निवाला मुँह में रखकर निगल जाते, वो मरभुक्खों की तरह खाने पर टूटते थे।

खाने में बहुत ज़्यादा अश्या नहीं होती थीं। ज़्यादातर क़ोरमा रोटी (जिसे वो लोग गोश्त रोटी कहते थे) वर्ना अगर साहिब हैसियत लोग होते थे तो पुलाव और ज़रदा भी, हमारे अतराफ़ में बिरयानी का रिवाज नहीं था, हालाँकि आजकल तो पुलाव को भी बिरयानी ही कहा जाता है।

रोटियाँ ख़मीरी और तन्दूरी हुआ करतीं। इन रोटियों का हुजम बहुत बड़ा होता, तक़रीबन एक थाली जितना।

खाना ला-लाकर रखने वाले बहुत शोर मचाते, इधर-उधर से एक-दूसरे को आवाज़ लगाते और बेहद हवासबाख़्ता नज़र आते। अक्सर क़ोरमे का डोंगा किसी खाने वाले के सर पर भी छलक जाता, एक हाय-तौबा मची रहती।

डोंगा जैसे ही मेज़ पर रखा जाता, लोग उसमें से बेहतर बोटियाँ और तरी यानी रोग़न निकालने के लिए एक साथ झपटते। कभी-कभी डोंगा मेज़ पर ही पलट जाता, मगर खाने वालों को उसकी मुतलक़ परवाह न होती। कोई किसी को नहीं पूछता, सबको अपनी-अपनी आँतों की फ़िक्र होती। ये ऐसी ही नफ़्सी नफ़्सी का मंज़र होता जो शायद मैदान-ए-हश्र में भी न दिखाई दे।

मेज़ों के पास एलुमीनियम के टब रखे रहते जिसमें झूठी रकाबियाँ पड़ी रहतीं। रकाबियाँ या तो एलुमीनियम की होतीं या फिर सफ़ेद ताम चीनी की। उन्हीं टबों में बोटियाँ, हड्डियाँ और रोटियों के पानी से तर फूले हुए, टुकड़े भी भरे रहते जिन पर मक्खियाँ-ही-मक्खियाँ भिनभिनाती रहतीं।

उस किस्म के एक-दूसरे टब में पीने का पानी भरा रहता। अगर गर्मियों के दिन होते तो टब पर लकड़ी का एक तख़्ता रखकर उस पर बर्फ़ की सिल्लियाँ जमा दी जातीं। बर्फ़ पिघल-पिघलकर पानी में गिरता रहता और उसे ठण्डा करता रहता। इसी टब में एलुमीनियम के जग डाल-डालकर पानी भरकर मेज़ों पर रख दिया जाता। बमुश्किल दो-तीन गिलास (वो भी एलुमीनियम के ही होते) मेज़ पर रखे होते या इधर-उधर लुढ़कते फिरते।

खाने वाले, खाना ख़ूब बर्बाद करते। रकाबियों में ढेर-सा सालन, हड्डियाँ और चिकनी बोटियाँ निकालते और नाक तक खाना ठूँस लेने के बाद ऐसे ही छोड़कर उठ जाते। वो उस बेहंगम अंदाज़ से उठते कि कुर्सियाँ उलटते-उलटते बचतीं और मेज़ें इतने ज़ोर-से हिलतीं कि पानी से भरे जग उलट जाते।

रोटियाँ भी ख़ूब बर्बाद होतीं, बल्कि उनकी तो बेहद बेहुरमती भी की जाती। मैं क़समिया कहता हूँ कि मैंने कई बारिश हज़रात को अपनी सफ़ेद दाढ़ी पर लगे हुए शोरबे और मसाले को रोटियों के टुकड़े से साफ़ करते देखा है। बिलकुल उस तरह जैसे आजकल लोग नैपकिन का इस्तेमाल करते हैं। रोटियाँ हाथ पोंछने, मुँह, होंठ और ठोढ़ी साफ़ करने और मिर्च की ज़्यादती के सबब नाक से निकलते पानी को साफ़ करने के लिए और शोरबे में भीगी दाढ़ियाँ पोंछने के लिए एक बेहतरीन और मुफ़्त के रूमाल का काम अंजाम देती थीं।

उस हंगामे और शोर पर तो यह था कि लाउड-स्पीकर भी छत पर कहीं फ़िट होता और उसका रुख़ खानों की जानिब ही होता। लाउड-स्पीकर पर या तो किसी नई फ़िल्म के वाहीयात गानों के रिकॉर्ड कान फाड़ देने वाली आवाज़ में बजाए जाते या फिर हबीब पेंटर की क़व्वालियाँ।

(आज की बूफ़े दावतों में भी जहाँ सब खड़े होकर अपना खाना निकालते हैं, और खड़े होकर खाना खाते हैं, नौईयत के एतबार से कोई बड़ा फ़र्क़ नहीं है)

क्या ये मैदान-ए-जंग नहीं था?

हाँ! एक ऐसा मैदान-ए-जंग जिसमें इन्सान एक-दूसरे से, अपने-अपने दाँतों, अपने जबड़ों, अपनी ज़बानों और अपनी आँतों के ज़रिये लड़ते हैं।

यही सब उनके हथियार हैं जिन्हें चलाए जाने की लज़्ज़त में सराबोर होकर वो एक-दूसरे की इन्सानी भूख का शिकार करते हैं।

कौन थे वो लोग जो भूख बर्दाश्त करने के लिए पेट पर पत्थर बाँध लिया करते थे?

मैंने ऐसे लोग नहीं देखे। मैंने तो इन्सानों को अपनी-अपनी आँतों में पत्थर बाँधकर एक-दूसरे की तरफ़ फाँसी के फंदे की तरह फेंकते देखा है। एक का गला दूसरे की आँतों में फँसा हुआ है। आँतों की लम्बाई खास तौर पर छोटी आँत की लम्बाई तो ख़ुदा की पनाह!

ख़ुद मैं भी इसी बेरहम खेल में शामिल हूँ। जाड़ों की दोपहर में, ज़मींदार घराने की रिवायत को सँभाले हुए हम सब देसी घी में डुबो-डुबोकर उड़द की दाल की काली खिचड़ी खाते और फिर सो जाते। बाक़ायदा लिहाफ़ ओढ़कर सो जाते, और फ़िर अस्र के वक़्त जब उठते तो सबका मुँह सूजा-सूजा और आँखें छोटी-छोटी नज़र आतीं। चावल और माश की दाल का बादीपन उस हुलिये का ज़िम्मेदार होता।

ख़ुद मेरा भी यही हुलिया होता। मैं आईने में अपना चेहरा देखता और शर्मिंदा हो जाता। वो आईना जो दालान के उस हिस्से में लगा था जहाँ से बावर्चीख़ाना भी आईने में साफ़ नज़र आता था। ख़ास तौर पर उसका चूल्हा और एक तरफ़ रखा ये बड़ा-सा काला तवा।

ये सब मुझे शर्मिंदा करता था और करता आया है, मगर महज़ शर्मिंदगी से क्या होता है?

इन्सान कब से शर्मिंदा होता आया है मगर उसकी शर्मिंदगी दुनिया का कूड़ा-करकट साफ़ करने के लिए कभी झाड़ू न बन सकी।

एहसास-ए-जुर्म, शर्मिंदगी, अपने गुनाहों की फ़ेहरिस्त, सबको लिए-लिए मैं भी ज़िन्दगी जीता रहा और जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गयी वैसे-वैसे मेरी ज़िन्दगी में भयानक वाक़िआत भी बढ़ते गए। खाना खाने से ज़्यादा ख़ौफ़नाक गुनाह भी मुझसे सरज़द हुए हैं। ऐसे भयानक वाक़ियात जो एक ख़ुफ़िया तहरीर की मानिन्द मेरे दिल में हमेशा के लिए दफ़्न हैं, मगर अब जब मुझे अपने बचपन के खिलौनों को तोड़कर उनका पोस्टमॉर्टम करने की धुन सवार हो गयी है, तो फिर मेरे हाफ़िज़े को उस मुर्दा-ख़ाने की तरफ़ रुख़ करना ही पड़ेगा।

उपन्यास अंश

स्वर्गद्वार

प्रभात त्रिपाठी

सामने समुद्र था। वही का वही जो कल था। वह उसे देख रहा था। पर कुछ ही पलों में वह वहाँ से गायब हो जाता। कोई लहर उसे भीतर पटक देती। उसे लगता जैसे वह चित्त पड़ा है। वहाँ अन्दर की रेतीली दुनिया में, बाहर के समुद्र से परे किसी ऐसी जगह में, जहाँ उसके सुनसान में किसी की आवाज़ तक नहीं पहुँचती, सोचना भी, एक समुद्र को देखते हुए, न देखने जैसा है, सोचता हुआ वह थमा। अपने आप नहीं। अपने आप से अलग, जैसे वहीं, अदृश्य मगर मौजूद, किसी ने उसे आवाज़ देकर बुला लिया हो।

उसने फिर समुद्र की ओर देखा। दूर आसमान को छूती उसकी सीमारेखा पर उठती लहरें, जैसे कोई उजली रेख, असीम नीले में बिजली की तरह दौड़ रही हो। पर कुछ ही पलों में वह फिर लौट आया। अपनी कुढ़न के कुएँ में।

पुरी आने का निर्णय उसने अपनी अचानक सनक के चलते लिया था। उस समय उसके अन्दर ऐसा कुछ घुमड़ा था कि वह यह भी नहीं सोच पाया था कि वहाँ जाकर अकेले करेगा क्या ? उसकी यह यात्रा ही उसकी कुढ़न का एक कारण थी। पहले रायपुर से भोपाल की यात्रा तो उसके लिए ज़रूरी थी। उसके एक मित्र के इकलौते पुत्र की मृत्यु हो गयी थी। हिन्दपाक सीमा पर। उसे आतंकवादियों ने या घुसपैठियों ने गोली मार दी थी, जब वह अपनी फ़ौज के किसी जख़्मी सिपाही को हेलिकॉप्टर से एयरलिफ़्ट करने गया था। वह सेना में डॉक्टर था। एक डॉक्टर को सीमा पर इतने आगे जाकर अपना कर्तव्य निभाने की ज़रूरत नहीं पड़ती, पर वह थोड़ा अतिरिक्त कर्तव्यनिष्ठ था। उसने अपनी जान ज़ोखम में डालकर एक अधिक घायल सैनिक को बचाने की कोशिश की थी। ख़बर सुनते ही उसने उसी पल टैक्सी से रायपुर एयरपोर्ट की यात्रा की थी और फिर वहाँ विण्डो से टिकट लेकर भोपाल। वह क़रीब नौ बजे भोपाल पहुँचा था। वहाँ उसे पता चला था, कि आर्मी के हवाई जहाज में अभी थोड़ी देर पहले ही शव भोपाल आया है और मित्र सपरिवार याने अपनी पत्नी और भाई के साथ, उसे घर लाने के लिए गया हुआ है। मित्र के दूसरे सारे रिश्तेदार या दोस्त यारों के लिए वह कतई अजनबी था। सो चुपचाप, वहीं पास के एक होटल में उसने रात गुज़ारी थी, हालाँकि रात भर उसे नींद नहीं

आयी थी। वह सोचता रहा था, कि उसके मित्र पर क्या गुज़र रही होगी? यों उसका यह मित्र स्वभाव से ही काफ़ी चुप्पा और गम्भीर व्यक्ति था, लेकिन कोई कितना भी गम्भीर हो, इकलौती सन्तान की इस तरह अकाल मृत्यु के बाद, संयत बने रहना, उसकी कल्पना से बाहर थी। उसने रात की अपनी करवटें बदलने की बेचैनी के दौरान, एकाधिक बार उस खूबसूरत जवान लड़के के चेहरे को देखा था। उसे यकीन नहीं हुआ था, कि कल सुबह के बाद यह चेहरा लपटों के रस्ते आकाश के असीम में मिल जाएगा और बची रह जाएगी सिर्फ़ राख। उसने उस लड़के को बचपन से जवानी तक पहुँचते, पाँच-छः बार देखा था। जो तस्वीर अभी उसके मन में उभर रही थी, वह उसकी नवीं क्लास की तस्वीर थी, जब वह खुद उसके और उसकी माँ के साथ सिंहाचलम का मन्दिर देखने गया था। उसके बाद, मेडिकल कॉलेज के दाखिले के पहले भी, उसने उसे यहीं भोपाल में देखा था। सिर्फ़ देखा भर नहीं था, उसके साथ दो तीन शामें गुज़ारी थीं। रात के उन बेनींद लमहों में हल्की झपकियों की लहरें सी आती थीं और वह चौकन्ना होकर आने वाली सुबह के बारे में सोचने लग जाता था, जब उसे अपने मित्र का सामना करना पड़ेगा।

पर सुबह वहाँ पहुँचते ही भीड़ देखकर उसे लगा कि शायद आर्मी के अफ़सर की शवयात्रा किसी साधारण आदमी की शवयात्रा की तरह नहीं हो सकती। वह बड़ी मुश्किल से दो पल के लिए अपने मित्र से मिल पाया था, जिसका चेहरा काठ हो चुका था। बाहर रखे शव दर्शन के बाद वह वहाँ से निकल कर, बाहर सड़क पर कुर्सियों पर बैठे अजनबी आगन्तुकों के साथ बैठ गया था। शवदाह के समापन तक सन्ध्या घिर चुकी थी, और वह वहाँ से सीधे एयरपोर्ट निकल गया था।

क़रीब नौ साढ़े नौ बजे रात वह रायपुर पहुँचा था और स्टेशन के पास के उस होटल में पहुँच गया था, जहाँ वह तभी रुकता था, जब उसे महज रात काटने के लिए होटल में कमरा लेना पड़ता था। इस बार उसकी ट्रेन शाम को साढ़े चार बजे थी, जिससे उसे घर लौटना था। सादी दाल के साथ दो रोटी खाकर वह बिस्तर पर पड़ गया था, लेकिन फिर उसके दिमाग में रह रहकर अपने मित्र का चेहरा उभरने लगा था, जिससे वह ठीक से बात भी नहीं कर पाया था। पर वह इतना थका हुआ था, कि थोड़ी देर बाद उसे नींद आ गयी थी। सुबह एक अजीबोगरीब सपने से उसकी नींद कुछ इस तरह टूटी, जैसे किसी ने उसे तेज़ आवाज़ के साथ हिलाकर जगाया हो। जागने के बाद भी वह सपने की गिरफ़्त में था, जिसमें वह अपनी छोटी बहन की चलती कार में चढ़ने की कोशिश कर रहा था और उसका ड्रायवर कार को एक छोटे से मैदान जैसी जगह में गोल गोल घुमा रहा था। वह कार की पिछली सीट पर उठंग कर बैठा, कार के खुले दरवाजे को बन्द करने की कोशिश में, उसके हत्थे की तरफ हाथ बढ़ा रहा था, और रूँधती सी आवाज़ में चिल्ला भी रहा था, कि कार का दरवाजा खुला है, और तभी उसकी नींद टूटी थी। अपने को बिस्तर पर साबित पाकर, सपने को सोचते हुए वह मुस्कराया था और सुबह के खुलासे के लिए टॉयलेट की ओर बढ़ गया था।

नहा धोकर दो तीन अखबारों के दफ़्तर में कोई चारेक घण्टे तक खिचखिच करने के बाद,

जब उसे अपना पावना मिला था, तो उसे अपने इस पेशे से ही नहीं, बल्कि अपने आप से भी घिन सी होने लगी थी। वह कलकत्ते के एक अखबार के लिए पश्चिम ओड़िशा के विशेश संवाददाता के अतिरिक्त, रायपुर के दो तीन अखबारों के लिए, रायगढ़ के इस्पात बिजली और दूसरे लघु उद्योगों के विज्ञापन जुटाने का काम भी करता था। इन्हीं विज्ञापनों से कभी पचीस तो कभी तीस फीसदी उसे कमीशन के बतौर मिलते थे। अभी जब उसे मित्र के बेटे की अचानक मौत के सिलसिले में भोपाल जाना पड़ा, तब उसे इस बात का खयाल नहीं आया था। पर वापसी में ट्रेन के लिए कमरे में पड़े पड़े इन्तज़ार करने की सोच कर, उसके दिमाग में स्वतःस्फूर्त ढंग से यह बात आयी थी, कि इस खाली वक्त का उपयोग अब धन्धे के लिए भी किया जा सकता है, हालाँकि हिसाब किताब और सौदेबाजी का यह काम उसे बिलकुल नहीं सुहाता था, पर खाली बैठे बैठे वक्त काटना तो और भी बड़ी समस्या थी। वैसे उसकी अपनी निजी आर्थिक ज़रूरतें तो कलकत्ते के अखबार से ही पूरी हो जाती थीं। उसकी डॉ. दीदी तो कई बार यह प्रस्ताव भी कर चुकी थी, कि वह इस खुशामदखोरी के फिजूल धन्धे को छोड़ दे, क्योंकि वह खुद तो न सिर्फ़ सरकारी पेंशन पा रही थी, बल्कि अपने प्रायवेट क्लिनिक से भी वह इतनी तो कमा ही लेती थी, कि पूरे परिवार का खर्च आराम से चल जाए। पर शायद अपने स्वभाव से मजबूर समीर, हर बार अपने ही निर्णय को अपने ही तर्क से काट कर फिर सोचने लगता था, कि हर्ज ही क्या है, कि इस धन्धे को जारी रखने में। लेकिन इस बार जब वह अपना काम निपटा कर लौट रहा था, तो उसे एक तरह की अन्दरूनी थकान और वितृष्ण-सी महसूस हो रही थी। ज़ाहिर तौर पर न सही, पर कहीं अन्दर उसके दिमाग़ में यह बात बार बार अमूर्त तरीके से अपना फन उठा रही थी, कि जिस इकलौती सन्तान को, मित्र ने अपनी औकात से बाहर जाकर डाक्टरी की शिक्षा दिलायी, वही, इस तरह बुढ़ापे में उसे असहाय छोड़कर चला गया। यह सब सोचते सोचते उसे झपकी सी आ गयी और जब उठा तो उसने देखा कि चार बजने में दस ही मिनट बाकी हैं। उसने अपना पिट्ठू टाँगा और सर्र से निकल गया, जैसे अपनी गाड़ी की सीटी सुनने के बाद कोई दौड़ता-सा भागता है। लगभग वैसी ही रफ़्तार में जब वह प्लेटफॉर्म पर पहुँचा, तो पता चला कि उसकी ट्रेन छह घण्टे लेट थी। पहले से बदहवास दिमाग को इस खबर ने एकदम ही बौखलवा दिया। सामने बरहमपुर होती हुई पुरी जाने वाली यह ट्रेन खड़ी थी। उसने टी टी से बात की। टी टी ने हज़ार एक्स्ट्रा की मांग की। वह राज़ी हो गया। प्लेटफॉर्म पर थेपले के साथ हरी मिर्च का ताज़ा अचार लेकर वह ए सी टू के लोअर बर्थ नम्बर तेरह पर लेट गया। रात आठ के बाद खाना खाकर सो गया। जब उसकी नींद खुली, तो साढ़े सात बज रहे थे। साढ़े आठ ट्रेन का पुरी एराइवल का समय था। हड़बड़ा कर वह टॉयलेट की ओर भागा। वापस आया तो पता चला, कि अभी तो कटक पहुँचने में घण्टे भर की देरी है, और आखिर पुरी पहुँचते पहुँचते, पूरे बारह बज गये। बिना हाथ मुँह धोये, बिना नहाये, उसने एक बियर के साथ खाने की सादा थाली का ऑर्डर दिया, तो उसे इस तरह पियक्कड़ों की तरह गटागट की आवाज़ के साथ पीते और भुक्खड़ों की तरह भात भकोसते देखकर, उसके ऐन बाजू की टेबल पर बैठी विदेशिनी मुस्करा रही थी और साथी को उसकी ओर आँखों से संकेत कर रही थी, पर भोजन

में मगन समीर का ध्यान उस तरफ था ही नहीं। खाना खाकर तीन घण्टे तक नींद में धुत्त पड़े रहने के बाद जब वह निंदासा ही पिंक हाऊस की रेत में ही बने ओपन रेस्तराँ के झाऊघेरे से बाहर निकला, तो तट की तरफ बढ़ते हुए उसे यह भी नहीं याद रहा, कि उसे बायें तरफ नहीं, दायीं तरफ बढ़ना है, जैसे अभी बायीं तरफ केंवटों की बस्ती वाले तट की थोड़ी सूखी सी रेत पर पड़े पड़े, वह खुली आँखों से ढलते सूर्य की लालिमा से लिपटते समुद्र की ओर ताक रहा है, पर उसे नहीं, अपनी सोच में उस बदहवास बीते समय को ही देख रहा है, यहाँ आने के बाद भी जिससे उसका पीछा नहीं छूटा है।

वह रुका। समुद्र के सामने कुँए में पड़ी उसकी सोच, जैसे उस लहर के हल्के से स्पर्श से ही धुल पुँछ गयी, जो बिलकुल अचानक की सी कौंध में, गीली रेत की अपनी सीमा लाँघ कर, उस ऊँची जगह तक आ गयी थी, जहाँ वह अपने पाँव फैलाए बैठा था। इस अचानक स्पर्श ने उसे याद दिलाया, कि रेत के गीलेपन को समुद्र की कारगुज़ारी की सीमा मानना हमेशा ही सही नहीं होता। हाथों के सहारे उठते हुए उसने देखा, कि तट के इस हिस्से में सैलानी बहुत कम थे। वह खुद भी इधर नहीं बैठता था। आज अपनी बेचैन सी अन्यमनस्कता में वह यहाँ तक चला आया। अभी सोचते हुए उसे यह भी लगा, कि अधिकांश चीजों के ऊपर आदमी का कोई वश नहीं होता और इसका ताज़ा नमूना है, घर जाने के बदले उसका इस तरह अचानक पुरी चले आना और फिर यहाँ बैठ कर सोचते रहना, कि बेकार चला आया है वह, और ऐसा सोचते हुए उसने घर लौटने के लिए नहीं, खड़े होने के लिए अपनी हथेलियाँ रेत पर टिकायीं। एक कराह की सी आवाज़ से उसने घुटनों में होती चिलकन को पहचाना। फिर कमर सीधी करते हुए दूर पूरब के स्वर्गद्वार तक पसरी सैलानियों की भीड़ को न देखने सा देखने लगा।

खड़े होने के बाद पल भर के लिए लहरों के उठने गिरने को इस तरह घूर घूर कर देखता रहा, जैसे उसी लहर को फिर से देखने की कोशिश कर रहा हो, जिसने अचानक ही उसके पाँवों को चूमते हुए उसे न सिर्फ़ चौकन्ना और संसारी बना दिया, बल्कि उसके पाँवों को उसके अनजाने ही उस तरफ बढ़ा दिया था, जिधर सैलानियों की भीड़ कुछ ज़्यादा थी। सोच तब भी जारी थी। बायें हाथ पर विशाल समुद्र, दायें दूर पर तटवर्ती इमारतें, और पास शाम की लाली में थोड़ी अलग दिखती रेत को ताकता, वह धीरे धीरे घिसटने सा आगे बढ़ रहा था। उसने दूर से ही देखा, कि सामने पोलिथिन की चादर तानकर बनायी गयी अस्थायी चाय की दुकान के सामने, प्लास्टिक की बगैर हत्थेवाली दो तीन कुर्सियाँ खाली थीं। सिर्फ़ एक पर, चाय का कप हाथ में लिए एक विदेशिनी बैठी थी। दूर से प्रौढ़ा लगती थी। चाय पीने के बहाने थोड़ी देर इत्मीनान से कुर्सी पर बैठे बैठे शाम के इस बोझिल वक्त को गुज़ारने की इस इच्छा के पीछे, सिर्फ़ बेवक्त की नींद की खुमार और सर का भारीपन ही कारण नहीं था। दोनों हाथ टिका कर चौपाया, दोपाया, बनने और कमर सीधी करने की कोशिश करते समय, पल भर को उसकी आँखों के सामने अँधेरा सा छा गया था। और तब वह पल भर के लिए डरा भी

था, कि कहीं यह किसी भीतरी बीमारी का संकेत तो नहीं। और फिर उसी वक्त खुश भी हो गया था, कि अगर सचमुच वही बीमारी है, तब तो जाने के इस रस्ते को सबसे कम तकलीफ़देह रास्ता ही कहा जा सकता है। सोचते सोचते वह मुस्कराया, कि पल भर की स्मृति के इस आकार से भी उसका स्वभाव कैसे झाँक रहा है और फिर भी कैसे उसका दिमाग उसे चौकन्ना और संसारी बनाये हुए है। और वह सोच रहा है, कि जल्दी से जल्दी वहाँ पहुँच कर, एक कुर्सी पर कब्जा जमा लेना चाहिए, क्योंकि सैलानियों के कई झुण्ड, सीटी रोड पर बने होटलों से निकल कर, उसी दुकान की तरफ बढ़ते नज़र आ रहे थे। उसकी चाल अपने आप थोड़ी तेज़ हो गयी।

पर चाय दुकान के पास पहुँचते ही, मालकिन युवती को स्टोव में चाय बनाते देख वह चौंकने सा ठिठक गया, लेकिन रुका नहीं। एक चाय, कहकर, वह उस विदेशिनी के ऐन बाजू की कुर्सी पर बैठ गया। जब वह युवती चाय लेकर आयी, तब उसने उसे थोड़े गौर से देखा। वह पचीसेक की लगती थी। साँवले रंग की। चेहरा बिलकुल भावहीन और निर्विकार। कोई चार साल पहले होटल में इससे मुलाकत हुई थी। कमरे में झाड़ूपोंछा करवाने के बाद, चारे की तरह उसने उसको पचास रूपये दिए थे, और उसे अच्छे से याद है, कि इतनी देर तक कमरे में उसके सवालों का जवाब देते हुए, काम में लगे रहने के दौरान, उसका चेहरा उसी तरह भावहीन और निर्विकार बना हुआ था, जैसे अभी उसे चाय का कप थमाते हुए लग रहा है।

'आप लला दा के दोस्त हैं न ?' उसने सीधी सरल ओड़िया में कहा। रत्ती भर स्मृति की खनक भी उसकी आवाज़ में नहीं थी, जबकि वह उसे देखता हुआ, पुराने दिनों की याद में ही डूबा हुआ था। उसे इस बात की खुशी हुई थी, कि इसे याद है, कि वह पहले भी यहाँ कई बार आ चुका है और होटल मालिक का दोस्त है। थोड़ा दायें मुड़कर उसको देखते हुए बातचीत जारी रखने के लिए उसने पूछा, 'तुम्हारी तो शादी हो गयी थी न?' 'हाँ,' उसने संक्षेप में कहा, 'मैंने उसे छोड़ दिया ?' 'क्यों ?' समीर ने यूँ ही सा सवाल दागा, जबकि इस तरह के भावहीन मुख से बतियाने में उसे ऊब-सी होने लगी थी।

समीर के सवाल के जवाब में उसने किस्से जैसा कुछ लम्बा सुनाने की भूमिका सी बाँधी, तो कुर्सी पर दायें मुड़कर थोड़ी कष्टकारी मुद्रा में उससे मुखातिब, समीर का ध्यान अचानक ही एक खनकती खिलखिलाहट से भटक गया। उसने बाजू में खड़ी युवती को अनसुना करते हुए, उसके पीछे से आती खिलखिलाहट पर नज़र डालने की कोशिश की और एक पुलकती-सी हैरत ने उसे सिहरा दिया। वह वही थी।

और यह तीसरी बार का इत्तफाक था, जब वह उसे यूँ देख रहा था, जैसे वह किसी चमत्कारी घटना की तरह, वहाँ अवतरित हो गयी हो। उसने मार्क किया था, कि अचानक उससे नज़र मिलते ही तान्या ने (उसका यह अजीबोगरीब विदेशी-सा लगता नाम उसने पिछली बार इस कमनीय स्त्री के घर पर ही सुना था) अपनी आँखें फेर ली थीं, और अपनी सहेली से एकदम सटकर उससे कुछ कहने

लगी थी। समीर कुछ पलों तक भकुआया सा उसे ताकता रहा। मन ही मन इन्तज़ार करता रहा, कि वह ज़रूर दुबारा उसकी ओर देखेगी। सामने खड़ी चायवाली, उसे इस तरह विस्मयविभोर ताकते देखकर, वहाँ से चुपचाप पोलिथिन की अपनी छानी वाली दुकान पर चली गयी। दो पल बाद कड़वी कुढ़न के साथ, वह फिर समुद्र की ओर मुड़ गया और गर्म चाय को इस तरह गटागट पी गया, जैसे नीट जिन पी रहा हो।

वह तान्या ही थी। उसने भी, समीर को अभी तट पर ही नहीं, उसके काफ़ी पहले, होटल में, उसना भात भकोसते और बियर पीते समय ही देख लिया था। उस समय भी उसकी यही सहेली दीपा उसके साथ थी, जिससे यहीं पुरी में तीनेक साल पहले उसकी मुलाकात हुई थी। एक साथ एक कमरे में तीन दिन के अपने अन्तरंग सान्निध्य के दौरान, दोनों ने यह भावुक-सा निर्णय लिया था, कि वे इसी महीने की इसी तारीख को पुरी में इसी तरह मिलने की कोशिश ज़रूर करेंगी। दीपा, उराँव जनजाति से थी, पर जे.एन.यू. से अँग्रेजी में एम.ए.करने के बाद, उसकी जबान में ही नहीं, शायद उसके रूप रंग में भी कुछ ऐसा निखार आ गया था, कि काले रंग के बावजूद, वह सपाटे से किसी का भी ध्यान अपनी ओर खींचती थी। तान्या से उसका परिचय दीपा के ब्वाय फ्रेंड के जरिए हुआ था, जो पुरी का ही रहने वाला था, और तान्या का दूर का रिश्तेदार भी था।

अभी समीर को अपनी तरफ ताकते देखकर, जानबूझकर उसने उसकी ओर से अपनी नज़रें हटा ली थीं। उसे थोड़ा अटपटा यह भी लग रहा था, कि वही नहीं, दीपा भी बहुत छोटे साइज के हाफ़ पैंट में थी, और दोनों रेत पर पूरा पैर फैलाये बैठे थे। दीपा के कानों पर पर झुककर वह फुसफुसायी, उसने हमें पहचान लिया है।

'तो तू जाकर उससे मिल क्यों नहीं आती।'

'ना।' तान्या ने सपाटे से कहा। फिर एक बार चाय की दुकान के सामने की कुर्सी पर बैठे, समीर की गर्दन दायीं मुड़ी। लगभग नाटकीय मुद्रा में तान्या ने फिर उसकी तरफ से आँखें फेर लीं।

'क्या मजाक है ?' दीपा ने कहा, 'तू उसके पास जाती क्यों नहीं ?' 'मजाक नहीं, खेल है' तान्या ने मुस्कराते हुए कहा, पर उसका यह खेल दीपा को काफ़ी बचकाना लग रहा था। जब होटल में पहली बार, भात भकोसते इस लगभग बूढ़े का परिचय देते हुए उसने बताया था, कि ये समीर अंकल हैं, और थोड़े दूर के रिश्ते में अब्बू के भाई भी लगते हैं। उसने इस अंकल से राउरकेला की पार्टी के दिन, अपने घर में हुई मुलाकात के बारे में ही नहीं, बल्कि बिलकुल अजनबी की तरह दिल्ली में हुई दिलचस्प मुलाकात की बात भी, पूरे डिटेल्स में बतायी थी और यह भी जोड़ा था, कि उस पहली और परिचयहीन मुलाकात के दिन भी, इन्हें देखकर तान्या को अपने बीत चुके अंकल की याद आयी थी।

अभी दीपा के कहने के बाद भी, वह उनके पास नहीं गयी, पर बीच-बीच में उस तरफ अपनी

नज़र ज़रूर घुमाती रही। उसकी इस तरह की नाटकीय बेरुख़ी देख कर, समीर भीतर ही भीतर चिडचिड़ा-सा गया था, लेकिन वह भी बीच-बीच में उसकी तरफ गर्दन मोड़ मोड़कर देखना बन्द नहीं कर सका था। एक छोटे से हाफ़पैंट में रेत पर पैर फैलाकर बैठी, इन दो युवतियों की उघरी टांगों को देख कर, शुरू में समीर को लगा था, कि यह हर बात में विदेशी स्त्रियों से होड़ करने के एक नये और बहुप्रचलित फैशन का स्थानीय नमूना भर है, लेकिन जब उसकी नज़र चिकने स्निग्ध सघन केश पीठ पर फैलाये, तान्या के मुख पर पड़ी थी, तो बेसाख्ता उसे अपने धुर बचपन की एक नन्हीं लड़की की याद आ गयी थी। तान्या के लम्बोतरे चेहरे के साफ़ साँवले रंग के आधे को ढाँपते, उसके केशों की वजह से नहीं, उसके चेहरे की वजह से भी नहीं, बल्कि उसके चेहरे पर झिलमिलाते उसके खिलन्दड़े स्वभाव की वजह से, वह अचानक ही अपनी उस पहली गर्लफ्रेंड को याद करने लगा था, जो उसके घर के सामने ही रहती थी। तब उसकी उम्र बमुश्किल दस ग्यारह की रही होगी। घर के सामने की हमउम्र लड़की से उनकी दोस्ती कुछ ऐसी गाढ़ी थी, कि स्कूल के बाद का सारा समय उसी के साथ कटता था। वह लड़की आनन फानन अपने बगीचे के अमरूद के पेड़ पर चढ़ जाती थी। चढ़ने को वह भी चढ़ जाता था, लेकिन वह इस डगाल से उस डगाल तक इतनी फुरती और सहजता से जाती थी, कि नन्हीं बन्दरिया लगती थी। वह स्वभाव से ही खिलंदड़ी और बातूनी थी। चाहे गली में गेंद, पिटठूल का खेल हो, चाहे पेड़ पर चढ़कर कूदने फाँदने का खेल, चाहे कंचे हो या लटटू, हर तरह के खेल में वह लड़कों से भी आगे रहती थी। बातूनी भी वह बहुत थी और उसे देखकर ही लगता था, जैसे शरारत और मासूमियत दोनों एक साथ उसकी आँखों से झाँक रहे हैं। लेकिन बचपन की वही अन्तरंग, दस ग्यारह की कच्ची उम्र में ही भगवान के घर चली गयी थी और समीर उस समय यह तक समझ नहीं पाया था, कि इतनी कम उम्र में कोई कैसे मर सकता है। वह उसके जीवन में मृत्यु की पहली अनुभूति थी, प्रेम की भी। रोचक यह भी था, कि तान्या के पतले ओठ, सलीके से लम्बी नाक, चौड़ा माथा और पीठ पर बिना घूँघर वाले सीधे पसरे केशों को देखकर, बिना किसी शारीरिक समानता के उसे अपनी माँ की याद भी आ रही थी। लेकिन दस कदम दूर तक जाकर, खुद ही उससे बात करने के अपने ही सुझाव पर अमल करने के बदले, वह भी अपनी मर्दाना इज्जत बचाये रखने की जिद पर अड़ा था।

पर दोनों के अड़ियलपने में एक बड़ा फ़र्क था। तान्या उसे चिढ़ाने का खेल खेल रही थी, और समीर, अपनी तरफ से पहले बात न करने की ज़िद पर अड़ा, मन ही मन कुढ़ रहा था।

समीर से थोड़ा पीछे की ओर दायीं तरफ उन दोनों की बातचीत जारी थी। सूरज डूबने ही वाला है, अभी थोड़ी देर में अँधेरे में समुद्र डरावना लगने लगेगा, दीपा ने कहा, जबकि वह अभी भी मन ही मन अपनी इस नयी दोस्त पर झल्ला रही थी। झल्लाहट की वजह भी थी। तान्या जानबूझ कर एक बूढ़े आदमी को परेशान कर रही थी और वह बूढ़ा तो लगता था, कि इस रूपसी के इन्द्रजाल में पूरी तरफ फँस चुका था। गर्दन घुमा घुमाकर हर दो तीन मिनट में वह उनकी तरफ देखने लगता

था। तान्या अब उसके बाजू में बैठी नहीं थी। उसकी गोद में सिर रखकर चित्त लेट गयी थी। कह रही थी, 'हम लैंप पोस्ट के एकदम पास हैं, और फिर यह रात तो पूनो के क़रीब की चाँद रात है।' उसने कहा और अपनी आँखें मूँद लीं। उसकी मुँदी पलकों की ओर देखते हुए दीपा को उसकी पलकें झपकने की अदा याद आयी। और उसे लगा कि उसके नैन ही नहीं, उसकी पलकें भी खूबसूरत हैं। तपाक से झुककर उसने उसकी पलकों को चूम लिया। आँखें खोल कर तान्या ने सपने में डूबी आवाज़ में कहा, 'पहली मुलाकात में अंकल इसी तरह मेरी गोद में सर रखकर लेटे थे।'

'कौन-से अंकल ?' दीपा ने सचमुच की जिज्ञासा के स्वर में पूछा था। वह भूल गयी थी, कि उसकी साथिन अपनी मुँदी आँखों में जिसे छिप छिप कर देख रही है, वह सामने बैठा बूढ़ा है, माने अंकल।

'यही, जो सामने बैठे हैं।' तान्या ने कहा, 'उस दिन वे ओवर ड्रंक थे। उन्हें मितली आ रही थी।'

'कहाँ ?'

'दिल्ली में, एक रईस पार्टी में, बड़े से लॉन में ?' तान्या ने धीमे धीमे एक एक शब्द अलग अलग करते हुए कहा, जैसे उस व्यतीत में ही वह बह रही हो। पर वह बह नहीं रही थी। उसे याद आ रही थी वह रात, जब कतई अजनबी भीड़ वाली पियक्कड़ पारटी में उसे मजबूरी में शामिल होना पड़ा था, अपनी एक सहेली की जिद के चलते। वहाँ पहुँचते ही सहेली दिल्ली के अपने दोस्तों में खो गयी थी। यह अकेली टहलती टहलती बोर होने लगी थी। थक भी बहुत गयी थी। थोड़ा-सा कुछ खाने का और पानी की दो बोतलें लेकर, वह हरे हेज से सटकर एक छतनार नीम की छाँव की ओर चली गयी। पेड़ के नीचे की जगह चट्टानी थी। उस पथरीली जगह पर इत्मीनान से अधलेटी-सी बैठ गयी थी। तभी उसने एक बूढ़े को लड़खड़ाते हुए हरी चारदीवारी की ओर बढ़ते देखा था। वहीं बिलकुल गिरने-सा बैठकर वह उल्टी करने लगा था। तान्या ने वहाँ जाकर उसे सम्हालने की कोशिश की थी। सहारा देकर उसे पेड़ के नीचे की ओर लायी थी। फिर पैर फैलाकर कहा था, 'कुछ देर आप मेरी गोद में सिर रखकर लेट जाइए।'

बूढ़े ने अबोध बच्चे की तरह उसकी ओर ताका था। 'लेट जाइए।' उसने लगभग आदेश के स्वर में कहा था। वह चुपचाप लेट गया था। दस पन्द्रह मिनट में ही उसकी स्थिति सामान्य हो गयी थी। तेज़ी से पी गयी आधी से ज़्यादा शराब बाहर निकल चुकी थी। अपने को थोड़ा स्वस्थ महसूस करते हुए बूढ़ा उठा था और एकदम से खड़े होने की कोशिश करते थोड़ा लड़खड़ाया था। तान्या ने फिर सहारा दिया था। और देखा था, कि वह देखने में इतना बूढ़ा नहीं लगता था, जितना उसने सोचा था। थोड़ी देर साथ साथ चलते हुए उसे अचानक अपने अंकल की याद आयी थी, ऐन उसी वक़्त, जब वह हाथ जोड़कर, उसे धन्यवाद देता हुआ, बुदबुदाता-सा विदा माँग रहा था।

और अभी अचानक दीपा गोद से उठकर, फिर उसके बाजू में बैठते ही, उसने जब सामने

की तरफ देखा था, तो ये नये अंकल नहीं, वे पुराने अंकल ही उसे समुद्र में मगन नहाते नज़र आ रहे थे, जो बरसों पहले ही उसका साथ छोड़ गये थे। तान्या ने भरपूर आँखों से समीर की ओर देखा।

वह समुद्र की ओर ताक रहा था। शायद सामने रेत पर घर घरौंदे बनाते मछुआरे बच्चों की ओर। कुछ नंगधड़ंग बच्चे समुद्र की लहरों के साथ खेल रहे थे। उसके ऐन सामने, लहरों से काफ़ी दूर, एक नन्हीं लड़की घर बना रही थी। और अपने से छोटे लड़के को समझाने जैसा कुछ कह रही थी। उसे देखकर समीर को फिर एक बार बचपन की उस साथिन की याद आयी। उसने मुड़कर पीछे बैठी तान्या और उसकी सहेली की ओर देखने की कोशिश की, पर उन्हें, मिहीदाना बेचते छोकरे से बतियाते देख, उसने फिर अपना चेहरा घुमा लिया। अपने अनजाने ही वह सोचने लगा था, कि आखिर किस वजह से तान्या उसके प्रति बेरुखी दिखा रही है, क्योंकि ऐसा तो हो ही नहीं सकता, कि वह उसे भूल गयी हो। दिल्ली की पहली मुलाकात को तो शायद मुलाकात कहना उचित नहीं है, समीर ने तीन चार बरस पहले की उस घटना को याद करते हुए सोचा था। पिछली बार अपने मित्र हरमीत के साथ जब वह उनके घर एक अजनबी अतिथि की तरह गया था, तो उस दिन महफिल में उसके माता पिता और उनके परिचितों के साथ ही नहीं, खुद तान्या के साथ देर तक उसकी बातें होती रही थीं, खासकर तब जब उसके अब्बू की महफ़िल की बातचीत में सक्रिय हिस्सा न ले पाने के कारण, वह उस विशाल अहाते वाली जगह की चारदीवारी के चक्कर लगाने लगा था, और तब तान्या ने खुद उसके पास आकर, उसे पीछे के आदिवासियों के क्वार्टर में कोसना पीने के लिए आमन्त्रित किया था। इसलिए उसे न पहचान पाना, या भूल जाना तो नामुमकिन है, तो फिर,.... सोचते हुए अचानक उसकी सोच की दिशा बदल जाती थी और उसे अपने बचपन की उस साथिन की याद आ जाती थी, और अपशकुन की सोच कर वह थोड़ा डर भी जाता था, पर अभी उसकी मनःस्थिति ही बड़ी अजीब सी थी। एक तो ज़्यादा सोने की वजह से और भारी खाने की वजह से भी उसका सिर, तभी से भन्ना रहा था, जब सोकर उठने के बाद, वह कमरे से बाहर निकल कर समुद्र तट पर आया था। देर तक मछुआरों की बस्ती के सामने के सुनसान से तट पर, समुद्र के ऐन सामने बैठकर भी उससे परे, अपने आत्मालाप में डूबा, जब वह अचानक इस तरफ आया था, तो देवदत्त संयोग की तरह तान्या को वहाँ देखकर, उसके मन में सुख की सिहरन-सी खेलने लगी थी, क्योंकि दो ही इत्तफाक़ी मुलाकातों के बाद, इस लड़की से इस तरह मिलते हुए, उसके मन में जो लहर सी उमड़ी थी, उसे अतिकामुकता के अपने स्वाभाविक लालच की तरह, वह इसलिए भी नहीं देख पा रहा था, कि उसकी लगभग लहर-सी स्मृति में भी, मासूमियत जैसी कोई बात थी, जो उसे बार बार आकर्षित कर रही थी।

सोचकर उसने सिर घुमाया। पर उसके पहले उसने देखा, कि बाजू की विदेशिनी उसकी तरफ देख रही थी। इस बार लैंप पोस्ट के पास वाली उस ऊँची रेतीली जगह पर किसी को न पाकर, उसे धक्का-सा लगा। कहीं ऐसा तो नहीं, कि उसके बार बार पलट कर देखने की वजह से उन लोगों को बुरा लगा हो और उससे बचने के लिए वे दोनों वहाँ से उठ गयी हों। बहुत मुमकिन है कि ऐसा ही

हुआ हो, क्योंकि पसन्दीदा लड़की या स्त्री को उसकी दृष्टि थोड़े इतने गौर से देखती है, कि किसी को भी लग सकता है, कि बुड्ढ़ा उन्हें खामखा घूर रहा है, हालाँकि ऐसा वह जानबूझ कर नहीं करता। हाँ जानबूझकर वह अपने देखने की इस तरह की नैसर्गिक हरकत पर बंदिश ज़रूर लगा देता है। अभी उसने वही किया।

यों अभी उसकी ज़रूरत नहीं थी। पीछे की वह जगह, जहाँ वे दोनों लिपटती, चिपटती बैठी समुद्र तट की गहराती सन्ध्या में अपनी कामनाओं के रंग देख रही थी, एकदम खाली थी। शायद उन दोनों की गन्ध वहाँ बची रह गयी हो। शायद वही गन्ध, उसके मुड़कर सीधे बैठ जाने के बाद, हवाओं पर सवार उसके सीने में बिखर गयी हो। शायद जगह का खालीपन, मन के खालीपन के कान तक आकर, फुसफुसाने-सा कुछ ऐसा कह रहा हो, जिससे उमगती सिहरन को, वह अभी एक सुखद बेमालूम-सी कामज लहर की तरह महसूस कर रहा है, और एक अनाम अकारण की आशंका की तरह भी, कि जिस तरह की अस्वाभाविक भावाविभोरता से वह इस लगभग अजनबी युवती को अन्दर ही अन्दर चाह रहा है, वह कहीं, उसके अंगरचे अकेलेपन को और बेचैन न बना दे।

अभी उसके सामने दस ग्यारह की उम्र का एक लड़का और एक लड़की थी। दोनों रेत पर घर बनाने का खेल, खेल रहे थे। रेत को इकट्ठा करके, एक ईशत् ऊँचा-सा चबूतरा बनाने के बाद, लड़की चारों तरफ की ऊँचाई को यकसाँ करने में लगी थी। लड़का, जो उससे साल छै महीने छोटा ही होगा, ग़ौर से उस चबूतरे को देख रहा था। लड़की चबूतरे पर रेखाएँ खींचकर अपना घर और उसका घर बना रही थी। बीच बीच में उसे समझा भी रही थी, कि घर में दरवाजा भी रहेगा और खिड़की भी। लड़का उत्सुक आँखों से उसे देख रहा था। दो कदम की दूरी पर कुर्सी पर बैठा समीर भी देख रहा था, उनके खेल को। उसे फिर उसी बचपन की अपनी दोस्त की याद आ रही थी, जिसके साथ वह नदी में पहली बार नहाने गया था, हालाँकि इसके लिए उसे घर में काफ़ी रोना धोना पड़ा था, जबकि उसके सामने ही रहने वाली इस लड़की को उसके चाचा, पाँच बजे सुबह अपने साथ नदी ले जाते थे। उसे नदी भेजने के पहले समीर के पिता ने, लड़की के चाचा को घर पर बुलाया था, और उसे तरह तरह की हिदायतें दी थीं, और तब उसे नदी जाने की अनुमति मिली थी। उस पहाड़ी पथरीली नदी के तट की गीली रेत पर, तरह तरह की आकृतियाँ बनाती लड़की को, उसी दिन उसने रेत का घर बनाते भी देखा था। ईशत् गीली रेत अपने एक पैर पर जमाकर, उसे थपक कर मजबूत बनाने के बाद, आखिर में बहुत सावधानी से उसने अपना पाँव बाहर निकाला था। और जोर से चिल्लायी थी।

'बन गया।'

अकबकाए से घरघुसरे समीर ने पूछा था 'क्या ?'

'घर' लड़की ने कहा था। फिर पाँव निकालने से पोली हो गयी रेत के घरौंदे की ओर इशारा करते हुए कहा था, 'यह दरवाजा है और भीतर घर।' कहती हुई वह नदी तक दौड़ गयी थी, और

उसके चाचा थोड़ी दूर तैरते हुए चिल्लाए थे, 'ज़्यादा आगे मत आना।' उसकी देखादेखी, उसके होने को किसी भरोसेमन्द सहारे की तरह सोचते, नन्हा समीर भी नदी में नहाने लगा था।

अभी इस छोटे से लड़के को सींक से लकीर खींच कर घर बनाने की कला सिखाने वाली लड़की को देखते हुए, कुछ पलों के लिए वह सचमुच भूल गया था, कि वह कहाँ है और क्यों है। और बुढ़ापे की इस शुरुआत में, जैसे अपने बचपन की नदी के पास चला गया था और सोचने लगा था, कि समुद्र की गीली हो चुकी रेत पर पाँव में रेत में जमा करते हुए, बचपन का वह गुफा जैसे दरवाज़े वाला घर तो नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि क्या पता कब कौन-सी लहर आकर उस पर चढ़ जाए और उसका नामोनिशान मिटा दे। शायद इसी लिए यह लड़की इस ऊँची और सुरक्षित जगह पर चाय की दुकान पर बैठे समीर से दो कदम दूरी पर, अपने साथी के साथ अपना घर बना रही है, सोचकर उसने लड़की को गौर से देखा। वह थोड़ी चपटी नाक और गोल चेहरेवाली एक मछुआरिन लड़की ही थी, जो गहराती शाम तक निर्भीक खेल रही थी, अपने दोस्त के साथ। लेकिन तभी कद काठी उनसे थोड़ा बड़ा लगता, निकर पहने एक नंगधड़ंग छोकरा, जोर से दौड़ता हुआ उस जगह तक आया, और उसने एक लात मारकर उसका चबूतरा तोड़कर बिखेर दिया। फिर उसी रफ़्तार से समुद्र की तरफ दौड़ा। शेरनी की तरह दहाड़ती लड़की, उसके पीछे-पीछे दौड़ी। लहर के आने के पहले ही वहाँ पहुँचकर, उसने उसे एक करारा झापड़ लगाया और उससे गुत्थमगुत्था हो गयी। तभी एक ऊँची लहर उनके सिर पर से गुजरी और लगा कि वे उसी में बिला गये हैं, पर दूसरे ही पल घुटनों से ऊपर तक जाते खारे जल के परिचित स्पर्श और मुँह में भर गये नमकीन स्वाद के साथ, एक-दूसरे से उसी तरफ लिपटे वे खिलखिला रहे थे। थोड़ी दूर प्लास्टिक की कुर्सी पर बैठा समीर, उन्हें उसी तरह अकबकाया-सा ताक रहा था, जैसे तट पर खड़ा वह बच्चा, जो थोड़ी देर पहले लड़की के साथ घर बनाने के खेल में डूबा था। और तभी समीर ने जैसे किसी चमत्कार को साकार देखने-सा देखा, कि तान्या और उसकी सहेली भी, सिर से पैर तक भीगी खड़ी थीं, और आने वाली लहर का इन्तज़ार कर रही थीं। लहर के क़रीब आते ही वे उसके सामने नहीं, उसे बाजू में करती हुई उछलीं और लगा जैसे वे लहर पर सवार होकर तैर रही हैं। फिर वे थोड़ा आगे बढ़ीं और तट पर खड़े समीर की तरफ, भरपूर मुस्कराती आँखों से देखकर तान्या ने हाथ के इशारे के साथ-साथ, आवाज़ देते हुए समीर को बुलाया। समीर के मन में कामना की किसी लहर की तरह आयी, पर उसे पता था, कि अब समुद्र के साथ खेलते हुए नहाने की उम्र से वह काफ़ी आगे आ गया है। अब तो सिर्फ़ कल्पना का समुद्र स्नान ही उसके बस में रह गया है। बेशक स्मृतियाँ आज भी यहाँ आने पर उसे उकसाती हैं, पर वे भी अब उसे उस तरह समुद्र में धकेल नहीं पातीं, कि वह सब कुछ भूलकर स्नान पर्व में डूब जाए। पर अभी तान्या के इस स्नेहिल आमन्त्रण से उसे लगा, कि अभी कुछ देर पहले तक की उसकी बेरुखी में, मूल भाव शायद संकोच का था, कि वे दोनों तो नहाने के इरादे से, उस तरह के कपड़ों में यहाँ तक आयी हैं। शायद उनका कपड़ा ही, उनके संकोच का मूल कारण हो, सोचता समीर अपने अनजाने

ही धीमे धीमे समुद्र की गीली रेत के घेरे तक आ गया था और चाहता था, कि कोई एक लहर कम से कम उसके पाँव तो मिगो दे।

पर दूसरी शाम भी वह हाफ़पैंट और टी शर्ट में थी, और बिलकुल उसी जगह पर पैर पसार कर बैठी हुई थी, जहाँ कल बैठी थी। आज उसके साथ उसकी सहेली नहीं थी।

अभी घण्टे भर पहले ही पुरी स्टेशन तक जाकर उसने उसे छोड़ा था। ट्रेन छूटने के पहले, बल्कि छूटने के बाद, सरकती ट्रेन में दौ़कर चढ़ने के पहले, उसने उसे प्लेटफॉर्म पर इतनी ज़ोर से अपनी छाती से चिपटाया था, कि तान्या को तकलीफ़-सी होने लगी थी। फिर दौड़ कर ट्रेन में चढ़ने के बाद कुछ ऐसी आँखों से उसकी ओर ताकती, विदा करा हाथ हिलाती रही थी, जैसे अभी दूसरे ही पल वह ट्रेन से कूद कर कुछ ही पलों में फिर उसके पास आ जाएगी। पर वह यह भी जानती थी, कि ऐसा होगा नहीं। दीपा से उसकी अन्तरंगता ऐसी नहीं थी, कि सांसारिक नियम कायदों को भूल कर, दोनों एक दूसरे के साथ मिलन पर्व मनाते रहें। तीनेक वर्षों में यह उनकी चौथी, पाँचवी मुलाकात थी। और इन मुलाकातों में एक दूसरे के नज़दीक वे ज़रूर आयी थीं, पर फिर भी दीशा को लगता था, कि उनका साथ उस तरह का नहीं है, जहाँ एक दूसरे की अनुपस्थिति भी, मौजूदगी की तरह लगे। शारीरिक निकटता से कहीं अधिक गहरा सामीप्य तो एक दूसरे के मन में रच बस जाने से ही सम्भ्व होता है। शायद इस तरह के साथ के लिए आन्तरिक संवाद और साथ की ज़रूरत पड़ती है। दीपा चौंकी। प्लेटफॉर्म से निकलकर, बिना आटो किये, वह हॉटल वापसी का रास्ता पकड़ चुकी थी और अनजाने ही दीपा के बारे में सोचते सोचते, उसकी आँखों के सामने अंकल का चेहरा उभर आया था।

एक ऑटो वाले ने बिलकुल उससे टकराते हुए उसके बाजू से ऑटो निकाला, तो उसने त्यौरियाँ चढ़ा कर उसकी तरफ देखा। ऑटो वाले का क्षमायाचनापूर्ण चेहरा देखकर उसने उससे कुछ नहीं कहा। फिर उसे लगा कि अभी भी हॉटल यहाँ से काफ़ी दूर था। लेकिन वह पैदल ही आगे बढ़ने लगी थी। आज की पूरी रात और कल पूरे दिन भर उसे अकेले ही गुज़ारना है। कई बार ऐसे कई काम अपने आप हो जाते हैं, जिनके बारे में सोच विचार करना फ़िजूल है, सोचती हुई, वह सोचने लगी, कि हॉटल जाकर थोड़ी देर आराम करेगी। फिर उसने घड़ी देखी। ऊपर आसमान की ओर देखा। फरवरी के निरभ्र आकाश में सूरज पश्चिम की ओर तेज़ी से बढ़ रहा था। इस महीने में आमतौर पर पुरी का मौसम सुखद ही होता है, पर अभी तान्या को धूप की तेज़ी और उमस दोनों महसूस हो रही थी। उसे लग रहा था, कि हॉटल में अपने कमरे में पहुँचते तक तो वह किसी काम की नहीं रह जाएगी, लेकिन अपने ही भीतर की किसी अतार्किक जिद की गिरफ़्त में फँसी, वह ऑटो लेकर चलने के लिए अपने को तैयार नहीं कर पा रही थी और इस बात पर उसे अपने ऊपर हँसी आ रही थी और एक तरह की चिड़चिड़ाहट भी महसूस हो रही थी। शायद थोड़े चिपचिपे मौसम और तीखी धूप की वजह से ही, उसकी स्वाभाविक मस्ती गायब हो गयी थी। इस वजह से भी, कि दो दिनों तक दीपा के साथ धींगामुश्ती

में वह मस्त मगन थी। अब उसे बिलकुल खाली खाली लग रहा था। बेशक उसे अकेले रहने की आदत बचपन से ही थी। हाय स्कूल के समय से ही वह अधिकांशतः घर से बाहर रह कर पढ़ी थी। और जब घर में रहती भी थी, तो उसके मम्मी, पापा अपनी अपनी नौकरियों में व्यस्त रहते थे। दोनों कॉलेज में पढ़ाते थे, और इसलिए काफ़ी मनमानी ढंग से नौकरी करने की परम्परा के ही नौकर थे। पर घर में भी, खासकर तान्या के एम.ए. करने के बाद, वे उसके साथ बहुत ज़्यादा समय नहीं गुज़ारते थे। हाँ जब तक अंकल थे तो कम से कम महीने में एक बार राउरकेला ज़रूर आते थे। तब तो चाहे घर में हो या बाहर, उसका पूरा समय अंकल के साथ ही गुज़रता था। लेकिन यह उसके हाई स्कूल के दिनों की बात थी। उन्हें गये तो अरसा बीत गया, सोचते हुए, चलते चलते ही तान्या रुआँसी हो गयी। फिर थोड़ी सख्ती से उसने अपनी भावुकता को सम्हाला और थकान के बावजूद, अपनी चाल तेज़ कर दी। क़रीब बीसेक मिनट बाद वह हॉटल के अपने कमरे में पहुँची, तो पसीने से लथपथ थी। पंखा चलाकर बेड पर वैसी की वैसी चित्त पड़ गयी। लेकिन थकान के बावजूद कोशिश करने के बाद भी, उसे नींद नहीं आयी और जाने कितनी सारी इधर उधर की फिजूल सोच में भटकती वह सिर्फ़ करवटें बदलती रही। फिर उसने घड़ी देखी। चार बजे थे। उसका मन कह रहा था, कि चलकर समुद्र के किनारे बैठना ही ठीक होगा। सोचते ही तपाक से बेड पर से उठ गयी। उसने सलवार और कुर्ती की जगह कल जैसी हाफ पैंट और टी शर्ट पहन ली। झोले में खादी भण्डार का गमछा, एक टी शर्ट और बरमुड़ा रखती हुई वह सोच रही थी, कि अनजाने ही वह शाम को फिर से नहाने की तैयारी-सी करने लगी है, हालाँकि वह जानती थी, कि दुनिया भर की बातें सोचती हुई समुद्र की ओर देखती देखती, वह घण्टों गुज़ार सकती है, लेकिन अकेली नहाने की सोच भी नहीं सकती। उसे फिर से अपने किशोर दिनों की याद आयी। अंकल की भी। समुद्र की साक्षी में उसने अंकल की निकटता का पहला पाठ पढ़ा था। समुद्र से दोस्ती के तौर तरीके भी उन्होंने ही सिखाये थे। उन्होंने ही इन विशाल लहरों के झूले में बेखौफ झूलने के कायदे समझाये थे। तैरना भी तान्या ने उन्हीं से सीखा था। इसी लिए, उनके सशरीर नहीं रहने पर भी, समुद्र के पास जाते ही अंकल की स्मृतियाँ उसे घेर लेती थीं, खास कर जब वह इस तरह अकेली बैठ कर समुद्र की ओर खामोश ताक रही हो। अभी भी यही हो रहा था। पर बीच बीच में उसे यह भी महसूस हो रहा था कि इसी समुद्र के अतल में या आसमान के अछोर में खो गये अंकल को बार बार पाते, वह आज बिलकुल ही अनजाने समीर अंकल को भी स्मृतियों की लहरों में आते जाते देख रही है, और समझ नहीं पा रही है, कि इस तरह अचानक और अकारण ही उनकी याद उसे क्यों आने लगी है, क्योंकि समीर से तो अभी उसका ठीक ठाक परिचय भी नहीं हुआ था। और उस अंकल के साथ इनके कद काठी चेहरे मोहरे की भी कहीं कोई समानता नहीं। दुहरे कदकाठी के ऊँचे पूरे, पैंतालीस की उम्र में भी जवान लगते, अमन अंकल की आँखे भूरी थीं। कन्धों तक आते उनके बाल और उनकी दाढ़ी के बीच उनका चेहरा किसी मासूम बच्चे का-सा लगता था। और उनकी खासियत थी, उनकी बेहद मीठी और आत्मीय आवाज़। वे अपनी साधारण बात भी, जैसे संगीत के सधे सुर में कहते थे, और अगर कोई गीत गा रहे हों, तो इतने मुक्त होकर

भीतर से झूमते गाते थे, कि उन्हें सुध बुध तक नहीं रहती थी। इस तरह एक साथ एक आत्मीय और दूसरे अजनबी अंकल की बात सोचती हुई तान्या को थोड़ा खराब भी लग रहा था, कि कल शाम समीर को देखने के बाद, पता नहीं किस वजह से, उसने, उन्हें नहीं पहचानने की नौटंकी शुरू कर दी थी, जबकि वे बेचैन उत्सुकता के साथ बार बार उसकी तरफ देख रहे थे। सचमुच यह हद दरजे की अशिष्टता है, तान्या बुदबुदायी। फिर दायें मुड़कर जानने की कोशिश करने लगी, कि सूरज के डूबने में अभी कितनी देर थी, हालाँकि इतनी बार यहाँ आकर सूरज को उगते और डूबते देखने के बाद भी, तान्या को ठीक से पता नहीं था, कि वही सूर्यास्त की दिशा है, जिधर वह देख रही थी। वही दिशा थी। सूरज के डूबने में अभी बीस पचीस मिनट या आधे घण्टे की देर थी। उस तरफ से अपनी निगाह लौटाती हुई, जब वह दायें तरफ के तट में खेलते बच्चों की ओर देखने लगी, तो अचानक उसे लगा, कि एक छतरी के नीचे, कोई बिलकुल ही सफेद सिर दिखायी पड़ रहा था। उतनी दूर से पता नहीं चल रहा था, कि मर्द है या औरत, पर है वह सफ़ेदी, इंसानी जात के सर की ही, जो ढलती धूप में इतनी दूर से भी उसे चमकती-सी दिख रही थी।

थोड़ी देर ग़ौर से उसी दिशा में देखती रहने के बाद, अचानक वह उठ गयी। उसी तरफ बढ़ने लगी। होटल शुभम के पिछले दरवाजे से जुड़े तट के पास पहुँचने में उसे पाँच सात मिनट लगे। क़रीब आते ही उसे लगा, कि सिर को छोड़कर पूरे शरीर और चेहरे से, वह गाढ़े काले रंग की एक बुढ़िया थी। उत्सुकतावश तान्या छतरी के ऐन नीचे तक चली आयी। बुढ़िया प्लास्टिक की एक हत्थेवाली कुर्सी पर, चुपचाप बैठी सामने की ओर देख रही थी। उसके पास पहुँच कर तान्या ने देखा, कि उसके चेहरे पर झुर्रियाँ ही झुर्रियाँ थी, पर इतने पास से भी ऐसी लगती थी, जैसे किसी जीवित व्यक्ति की नहीं, बल्कि काली पेंसिल से किसी बुढ़िया के चित्र में गाढ़े उकेरी गयी झुर्रियाँ हों। चेहरे का शायद ही कोई हिस्सा ऐसा होगा, जहाँ गहरी कटानों जैसी झुर्रियों का कब्ज़ा न हो। उसका निचला ओठ थोड़ा बंकिम-सा था। पर उसे देखते हुए लगता था, जैसे वह मुस्करा रही है। उसने तान्या के आने और अपने सामने खड़ी हो जाने का नोटिस तक नहीं लिया। तान्या ने उससे पूछा भी। तिस पर भी वह अपनी सदाबहार मुस्कान और अपने झुर्राए चेहरे के साथ, सीधे समुद्र की ओर देखती रही। उसे उस तरह निर्विकार असीम नीले की ओर ताकती देख कर, तान्या के मन तरह तरह के खयाल मचलने लगे थे। लेकिन उसे न तो तान्या के खयाल से मतलब था, न उसके सवाल से। तब तान्या ने मोबाइल से धड़ाधड़ तस्वीरें लेनी शुरू कर दीं। तभी शुभम के पिछले दरवाज़े से एक सुदर्शना तन्वंगी बाहर आयी और उसने थोड़े आदेश के स्वर में कहा, 'दादी, अब चलो' फिर वह उसे सहारा देकर हॉटल के पिछले गेट की ओर बढ़ने लगी। उसे जाते देखकर तान्या फिर उसी दिशा की ओर मुड़ी, जिधर से आयी थी। उसी जगह पर पहुँचकर बैठ गयी, जहाँ बैठी थी। कल वाली लड़की की चाय दुकान खुल गयी थी। उसने चाय के लिए कहा। लड़की चाय लेकर आयी। उसने प्याला मुँह से लगाया ही था, कि पीछे की ओर से आकर उसके बाजू में बैठते हुए समीर ने कहा, 'मैं भी चाय पियूँगा।'

वह चौंक गयी। उसने अपनी बड़ी बड़ी आँखों को और बड़ी करके दो पल उसकी ओर देखा। फिर सिहरा देने वाली पलकों की झपकन के साथ थोड़ी लहर भरे स्वर में बोली, 'मैं आप ही के बारे में सोच रही थी।'

शायद यह अपने आप ही औपचारिकतावश मुँह से निकल गया एक झूठ था। शायद नहीं था। शायद आधा झूठ था। शायद उसी पल, जब उसके मुँह से निकला, वह सचमुच उसके बारे में सोच रही थी। यहाँ आते ही अपने समुद्र स्नान की स्मृति में भीगते हुए, जब उसने अपने कब के जा चुके अंकल को, लहरों के बीच अपने सीने से चिपटे हुए देखा था, तभी एक तेज़ लहर की तरह से बीते कल की याद आयी थी, और उसने समीर के बारे में सोचा था।

'और मैं चाय के बारे में', समीर ने कहा। पीछे से उसके छितरे केशों को देखते ही वह उसे पहचान गया था। पहले उसके मन में उसी तरह का नाटक करने का खयाल आया था, जैसे तान्या कल कर रही थी, लेकिन आज वह अकेली थी और रेत पर पैर फैलाये बैठी थी। जैसे कल। और चाय पी रही थी। उसे देखने के पहले, भुवनेश्वर से पुरी तक की यात्रा उसने एक खटारा बस में की थी और यहाँ ऑटो में सीटी रोड पहुँचने के बाद, उसे थकान-सी महसूस हो रही थी और चुपचाप समुद्र को ताकते चाय पीने का खयाल उसके मन मे मँडराया था। अपने कमरे में जान की बजाय, वह एक लम्बी गली के रस्ते तट की रेत पर उतरकर थोड़ा सपाटे से बढ़ने लगा था। दूर से ही उसने चायवाली उस लड़की की दुकान देख ली थी, जो उसकी परिचिता थी। पर पास आते हुए उसे तान्या नज़र आयी थी और वह थोड़े चुपके से उसके बाजू में आकर बैठ गया था।

'चाय के बारे में ?' तान्या ने अपनी चाय की आखिरी घूँट लेते हुए सहज भाव से पूछा। वह समझ गयी थी, कि समीर चाय के बारे में सोच नहीं रहा था, जबकि समीर की बात में सचाई थी।

इसलिए तान्या ने जब दुबारा सवाल करने-सा पूछा, तो उसने स्पष्टीकरण देने-सा कहा, 'ठीक चाय के बारे में नहीं, बल्कि उस दुकान के सामने रखी खाली कुर्सियों के बारे में, और अगर वहाँ बैठना हो तो थोड़ी बहुत चाय पीनी ही पड़ेगी।'

'ओह, तो चलिए वहीं चलते हैं,' तान्या ने उसकी असुविधा समझते हुए कहा। उसके अब्बू को भी यहाँ आने पर, समुद्र की रेत पर बैठने में तकलीफ होती है। देर तक पीछे हाथ टिकाये बैठना सम्भव नहीं होता और बिना हाथ टेके बैठना भी कुछ ही देर में कष्टकारी लगता है। अभी अठाइस की उम्र में खुद उसे इस तरह देर तक बैठने में उसे परेशानी होने लगी है। सोचती हुई वह उठ गयी और उसने समीर को उठाने के लिए अपनी हथेली बढ़ा दी। उसकी हथेली को छूते ही उसे लगा, जैसे यह किसी लड़की की नर्म नाजुक हथेली है। आकार में भी वह काफ़ी छोटी थी। उसे सहारा देकर उठने में मदद करते हुए उसने कहा भी, 'आप थोड़े नाजुक किस्म के मर्द लगते हैं।'

समीर तत्काल समझ गया कि जीवन भर शारीरिक श्रम से कोसों दूर बने रहने के कारण

उसकी हथेलियों में किसी तरह का रूखड़पन नहीं है, और तान्या का संकेत उसी तरफ है। उसने कुछ कहा नहीं। पर उसे इतने क़रीब से देखते हुए तान्या को अब वह नाज़ुक लग नहीं रहा था। था तो वह इकहरे बदन का, लेकिन अभी साठ की उम्र में भी पूरी कद काठी से और ईशत् गौरववर्णी मुख से, तरोताजा ही लग रहा था। शायद सिर्फ़ हथेलियाँ ही थोड़ा कोमल हों, उसने सोचा और कहा, 'वैसे दिखते तो आप काफ़ी स्मार्ट हैं, पर लगता है कि बुढ़ापा का स्पर्श होने लगा है। उठने की तकलीफ़, शायद उसी की शुरुआत है।'

'शुरुआत से ज़्यादा एहतियात,' समीर मुस्करा कर बोला, 'अभी साल भर पहले स्लिप डिस्क के चलते मुझे दो महीने तक खाट पर पड़े रहना पड़ा था।'

दुकान पर पहुँचने के बाद चाय पीते हुए दोनों देर तक खामोश हो कर, समुद्र की लहरों के उभरने और बिखरने को इस तरह देखते रहे, जैसे अलग अलग उसी से बातें करने में लगे हों। यों भी समुद्र के ऐन सामने, खासकर पुरी के इस गरजते समुद्र के सामने, दो व्यक्तियों के बीच देर तक बातचीत में रमे रहने की गुंजाइश नहीं बनती। फिर भी लगता रहता है, कि बिना कुछ बोले भी अपने आप से या अपने साथी से कितनी सारी बातें होती ही रहती हैं। समीर को ऐसा ही लग रहा था, और तभी तान्या ने मुखर होकर सवाल किया था, 'किस सोच में गुम हो गये आप ?'

सवाल सुनकर समीर थोड़ी देर के लिए एकदम भौचक्का-सा हो गया। सवाल के ऐन पहले, वह समुद्र की उठती गिरती लहरों के बीच, दूर तक चले जाने और अचानक ही कहीं अपने अन्त में विलीन हो जाने की जिस विचित्र कल्पना में वह खो गया था, वह कभी कभार आने वाली कोई अचानक कल्पना नहीं थी। पिछले दो तीन वर्षों से अन्त की कल्पना के तरह तरह के चित्र देखने की उसे आदत-सी हो गयी है। वह आसन्न मृत्यु की कल्पना से आबसेस्ड-सा हो गया है। लगभग उतनी ही तीव्रता के साथ वह मृत्यु के बारे में सोचता रहता है, जितनी शिद्दत के साथ वह स्त्री के सान्निध्य की कल्पना में खोया रहता है। स्त्री और मृत्यु को लेकर निरन्तर जारी अपनी इस तरह की सोच के बावजूद, कैसे अपने सामाजिक, व्यावहारिक जीवन में वह सामान्य आदमी की तरह सब कुछ करता रहता है, इस बात पर उसे खुद पर हैरत होती है। लेकिन उसकी सोच का सच यही है। और फिर यह किसी खास सन्दर्भ से जुड़ी, महज कुछ देर के लिए ही उसे परेशान या बेचैन करने वाली सोच नहीं है। अचानक कहीं भी, कभी भी, कितने सारे विचित्र रूपों में देखने लगता है, वह अपने अन्त से गले मिलते अपने आपको। लेकिन बाहर की दुनिया में रहने, जीने की अपनी विवशता भी है, एक तरह से देहधरे की दण्ड की तरह। पर अभी बाजू में बैठकर, अपने अदृश्य खयालों में खोयी तान्या का अचानक सवाल सुनकर, अनसोचे ही उसके मुँह से निकला, 'अच्छा, उस दिन अगर तुम्हारी गोद पर सिर रखे रखे ही मैं मर गया होता, तो तुम क्या करतीं ?'

तान्या ने थोड़े गुस्से में उसकी ओर देखा। फिर समुद्र की आती लहर की ओर और फिर बहुत दूर पानी को चीरती लहर की उजली रेखा को। अपलक।

'कुछ कहा नहीं तुमने ?' समीर ने फिर उसकी तरफ चेहरा घुमा कर पूछा। यह याद करते हुए कि शायद अनजाने या शायद कहीं गहरे में जानबूझकर, वह तुम के सम्बोधन की अन्तरंगता की शुरुआत कर चुका है। इस पर तान्या ने जो कहा, वह भले उसके सवाल का जवाब नहीं था, पर जिस खुनक भरी आवाज़ में उसे खारिज करते हुए उसने दो टूक शब्दों में कहा था, उसमें भी शायद प्राथमिक परिचय की औपचारिकता को तोड़ने की कोशिश थी, जैसे खुद समीर की फिजूल और निरर्थक जिज्ञासा में थी।

'तुम्हारा सवाल ही बेतुका है।' तान्या ने कहा था।

'क्यों ? आदमी कभी भी, कहीं भी मर सकता है, क्या तुम इस सच से इन्कार कर सकती हो ?' समीर ने उसे छेड़ते हुए कहा और अपनी बात कहते हुए समुद्र को अपनी आँखों में उतारती, उसके कमनीय मुख की ओर ऐसे देखता रहा, जैसे अपने भीतर उमगती चाहत का बिम्ब देख रहा हो।

तान्या ने बगैर उसकी तरफ देखे, फिर कहा, 'अगर ऐसा हुआ होता, तो क्या हुआ होता, जैसे सवाल मुझे बेतुके लगते हैं, अगर ऐसा हो जाएगा, तो हम क्या करेंगे, जैसे सवाल से भी ज़्यादा बेतुका।'

'फिर भी, तुम कल्पना तो कर ही सकती हो।'

'क्यों करूँ कल्पना,' तान्या ने सपाटे से कहा।

फिर उसकी तरफ थोड़ी नर्म नज़र से देखती हुई बोली, 'तुम्हारी कल्पना तुम्हीं को मुबारक।'

समीर को उसकी आवाज़ में रची बसी, सहज अनौपचारिकता के बावजूद लगा, कि शायद वह आम लोगों की तरह मृत्यु की चर्चा मात्र को अपशकुन की तरह सोचती है, पर जिस सपाटे की तार्किकता से उसने उसकी उसकी वाकई बेतुकी जिज्ञासा पर पलटवार किया था, उससे तो यही लगता था, कि ना, यह खाओ पियो और मौज करो वाले औसत मध्यवर्गीय दिमाग की लड़की नहीं है। तभी फिर उसकी सोच को तोड़ती हुई तान्या ने उससे पूछा, 'कल के मेरे व्यवहार पर तुम्हें गुस्सा तो नहीं आया था न, दरअसल कल तुम्हें उस तरह अकेले गुम्म बैठे देखकर, मुझे अचानक ही नौटंकी का मूड आ गया था, जबकि दीपा बार बार कह रही थी, कि मैं तुम्हें भी वहीं बुला लूँ।'

'बुरा तो लग रहा था मुझे, कि मैं इतना अपरिचित तो नहीं था, कि नज़र मिलते ही तुम नज़र फेर लो', समीर ने कहा, कल की बात याद करते हुए कहा। अभी उसे कल की यह बात किसी घटना की तरह याद नहीं थी। चाय पीते पीते, उसके पास बैठे बैठे, वह उसके अजीबोगरीब विदेशी से लगते नाम के बारे में सोच रहा था और उस रस्ते उनके घर के लोगों के बारे में भी। पर अभी उसकी बात सुनती तान्या बड़े गौर से उसके चेहरे की ओर देख रही थी, पर सोच कुछ और रही थी। उसने सहज-सा एक अचानक सवाल किया, 'अच्छा। इंसान के मन में कभी कभी ऐसी बात क्यों आ जाती

है, जो उसने कभी सोचा भी नहीं होता है?'

उसके सवाल में ही नहीं, उसके आँखों से और उसके स्वर से भी उसकी मासूमियत झाँक रही थी। सुनकर उसे याद आया, कि कल मछुआरों की बस्ती में, अपनी सोच में डूबा, वह भी इसी तरह मन में अनायास आ जाने वाले ऊटपटाँग खयालों के बारे में सोच रहा था। वह एक सहज प्रश्न था, लेकिन समीर के दिमाग में, दिमाग की कारस्तानी और उसकी हरकतों से जुड़े ऐसे कई सवाल, एक अजीब-सी बेचैनी की शक्ल में घुमड़ते रहते थे, कुछ इस तरह, कि उसका दिमाग तनाव में आ जाता था। और उसे लगता था, कि सारा जीवन ही जैसे एक बेचैन सोच का लम्बा सिलसिला है। अभी जब तान्या ने उसे इस तरह गौर से देखते हुए पूछा, तो उसे पल भर को लगा, जैसे यह लड़की, या कि यह स्त्री, उसे पढ़ने की कोशिश में ही यह सवाल पूछ रही थी। उसे अच्छा लगा। लड़की की निकटता की अपनी स्वाभाविक चाहत की तरह नहीं, एक बिलकुल दूसरी तरह का अच्छा लगना था यह, जैसे बातचीत के रस्ते वह कहीं किसी मंजिल की ओर नहीं जाना चाहती, बल्कि उसे जानना चाहती है। पर थोड़ी शरारत के भाव से और शायद फिजूल की गम्भीरता को टालने के इरादे से समीर ने कहा, 'अब तुम बेतुका सवाल पूछ रही हो।'

'हाँ, है तो बेतुका सवाल ही, पर अचानक मुझे लगा, कि कल आखिर मैंने वैसा क्यों किया?' उसने थोड़े अपराधबोध, थोड़ी जिज्ञासा के स्वर में कहा, तो समीर ने बड़े हल्के अन्दाज में कहा, 'छोड़ो कल की बातें, कल की बात पुरानी।'

'अरे तुम्हें तो पुराने फिल्मी गाने भी याद हैं,' उसने उसकी तरफ मुस्कराहट भरी आँखों से ताकते हुए कहा, 'तुम गाते भी हो।'

'ना, भयानक बेसुरा हूँ,' समीर ने सपाटे से कहा। उसे अपना बेसुरापन अच्छा नहीं लगता था, क्योंकि अधिकांशतः उसने देखा था, कि लोग चाहे सुरीले नहीं हों, पर उसकी तरह भयानक बेसुरे नहीं होते। और यह बात उसे अपनी बड़ी कमी की तरह खलती थी।

'अब्बू तो बहुत अच्छा गाते हैं, और बचपन में तो बाँसुरी भी बजाते थे, और अंकल तो.. ..' उसका गला रुँध-सा गया, जैसे स्मृति ने उसे रुला दिया हो,' वह उसी तरह के रुँआसे स्वर में बोली, 'अंकल तो इतना अच्छा और इतना खुल कर गाते थे, कि ...' वह एकदम ही सपाटे से चुप हो गयी। गर्दन मोड़कर उसकी तरफ अपलक निहारते समीर ने देखा सिर्फ़ गला ही नहीं, आँखें भी भर आयी हैं उसकी। समीर के लिए उसकी डबडबाती आँखों को देखना अजीब-सा अनुभव था। वह इस तरह की आँख भर लाने वाली भावुकता से एकदम ही विचलित हो जाता था। वह बिलकुल अजीब आँखों से समुद्र में उठती गिरती लहरों की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर की खामोशी के बाद उसे लगा, कि बात करने से शायद वह इस भावुक प्रसंग से थोड़ा अलग हो सकती है।

'शाम घिरने लगी है, देखो, पानी अब काले रंग का हो गया है। अगर लहरें न होतीं, तो यह

पानी का नहीं, अँधेरे का समुद्र लगता।'

'लेकिन रात तो चाँदनी की है, देखो,' कहते हुए, उसने चाँद की ओर इशारा किया, जो अभी ठीक से आकार भी नहीं ले पाया था। अबकी बार तान्या का स्वाभाविक स्वर सुनते हुए संवाद के क्षण को पकड़ने के लिए ही उसने पूछा, 'तुम, अपने पिताजी को अब्बू कहकर बुलाती हो ?'

'हाँ,' उसने कहा, 'और माँ को अम्मी कह कर।'

'क्यों ? आम तौर पर तो लोग मम्मी पापा, या मम्मी डैडी ही कहते हैं।'

'अब हमें क्या पता, बचपन से ही अम्मी अब्बू कहते आ रहे हैं, तो वही चल रहा है,' तान्या ने सहज होकर कहा, 'तुम्हारी माँ तो है न अभी भी ?'

'हाँ, हम उन्हें माँ ही कहते हैं।' समीर ने कहा। उसकी सनातन समस्या उसे सताने लगी थी। वह समझ नहीं पा रहा था, कि अब इसके साथ यहाँ बैठे बैठे वह कौन सी बातें करें। उसने घड़ी देखी। आठ बजने को थे। याने उसे यहाँ तान्या के साथ बैठे एक घण्टे से भी ज़्यादा हो चुका था। कुछ ही देर में यह जगह एकदम निर्जन हो जाएगी और समुद्र का शोर उसका अपना अंधेरा और उसे चीरती लहरों के सामने की यह निर्जनता कहीं से भी अच्छी नहीं लगेगी। सोचते सोचते वह ताकने लगा समुद्र तट की भीड़ को। इस छोर से उस छोर तक। यहाँ से स्वर्गद्वार याने पुरी के श्मशान तक, आज कल की अपेक्षा बहुत कम भीड़ दिख रही थी। शायद शाम के अधिक घिर जाने की वजह से सैलानी अपने अपने ठिकानों पर लौट चुके थे। और अखीर में, रात के वक़्त ऐसी निर्जनता में, वहाँ उन दोनों के बैठे रहने के जोखिम का खयाल भी उसे आया। यही सोचकर उसने तान्या की ओर देखा। और तब उसके नाम के अजीब से होने का खयाल अचानक फिर आया और उसने पूछ लिया, 'तुम्हारा नाम भी विदेशी लगता है ?'

'भी का मतलब ? क्या और कुछ भी विदेशी लगता है ? रंग तो मेरा काला है ही, आफकोर्स दीपा जितना नहीं है, पर वही गाढ़ा काला रंग ज़्यादा अच्छा लगता है मुझे। खासकर मर्दों का वह रंग तो मुझे बहोत अच्छा लगता है।'

समीर का रंग गोरा था। तान्या की बात सुनकर उसे महसूस हुआ, जैसे उसे चिढ़ाने के लिए ही उसने मर्दों के शरीर के रंग का जिक्र छेड़ा हो। यह एक नर्म छेड़ थी। एक अमूर्त्त अनुभव की तरह उसके भीतर अँग्रेजी का एक जुमला लहराया। जैसे अब आत्मस्थ हो चुकी तान्या उसे एक नखरीले संकेत में कुछ कहना चाह रही थी। उसे यह भी लग रहा था, कि यह नखरा, काफ़ी निरामिष किस्म का है।

'ना, तान्या मुझे रशियन नाम की याद दिलाता है, और मैं सोच रहा था, कि तुम्हें यह नाम किस कारण से दिया गया था।'

'कारण है।' तान्या ने गम्भीर पण्डिताऊ स्वर से अभिनय करते हुए कहा, तो अनायास ही उसे तान्या के लम्बे चौड़े प्लाट के बीचोंबीच बने पुराने किस्म के चौकोर मकान की पार्टी की याद आ गयी, जहाँ उस राउरकेला की हिन्दी रंग मण्डली के कई नौटंकीबाज एक साथ मौजूद थे। शायद उस घर के सभी लोग हर पल कोई न कोई नाटक ही कर रहे होते हैं। पर अभी तान्या की एकान्त की निकटता की सुगबुगी महसूस करते समीर को यह नौटंकी अच्छी ही लग रही थी। अपनी तरफ से भी स्वर को लहराते हुए समीर बोला, 'बताइये हुजूर।'

'जब अब्बू और अम्मी की शादी नहीं हुई थी, और अब्बू भुवनेश्वर में काम कर रहे थे, तो वहाँ अब्बू की एक बऊदी थी। बऊदी समझते हैं न ?' तान्या ने बीच में पॉज लेते हुए पूछा।

'बांग्ला में भाभी को कहते हैं,' वह एक बिलकुल सामान्य श्रोता की तरह, उसकी उसकी ओर गर्दन मोड़कर ताकते हुए उसकी बात सुन रहा था। उसे चिढ़ और शारीरिक तकलीफ दोनों हो रही थी, क्योंकि तान्या एक एक शब्द पर थोड़ा पॉज लेते हुए, कुछ इस तरह बोल रही थी, जैसे किसी अभूतपूर्व रहस्य के बारे में बता रही हो।

'उस बऊदी के साथ, अब्बू की गाढ़ी दोस्ती थी। और गाढ़ी दोस्ती का माध्यम था सिगरेट।'

'मतलब ?' समीर ने थोड़ी अधीरता से पूछा, क्योंकि अब उसे लगभग यह पता चल ही गया था, कि तान्या शायद उसी स्त्री के नाम रहा होगा, इसके अब्बू उन दिनों जिसके चक्कर में थे।

'मतलब यही, कि हर रात दोनों बऊदी के घर में उन्हीं के कमरे में बैठकर सिगरेट फूँकते थे। और उनके पति महोदय उन्हें देखते कुढ़ते रहते थे।'

'क्यों ?'

'इसलिए कि वे औरत की आज़ादी के पक्षधर थे, पर औरतों का सिगरेट पीना उनको अच्छा नहीं लगता था और रात को सिगरेट बिना पिये अब्बू की बऊदी सो नहीं पाती थी।'

'पर इससे तुम्हारे नाम का क्या रिश्ता ?'

'उस बऊदी का नाम तान्या था, और अब्बू ने उसी की याद में मेरा नाम तान्या रख दिया?' तान्या सपाटे से समापन करती हुई बोली, 'चलो अब चलते हैं।'

'कहाँ ?' उसने पूछा।

'तुम्हारे कमरे में। मैं आज वहीं रहूँगी।'

समीर की आँखें फट गयी। उन्हीं विस्मय विस्फारित आँखों से उसने तान्या की ओर देखा।

'क्यों ? क्या तुम्हारे साथ कोई और है ?'

'ना,' समीर ने छोटा-सा जवाब दिया। वे उठकर थोड़ा दायें, पीछे की ओर बने, पिंक हाउस की ओर बढ़ने लगे।

यह होटल समुद्र तट की मुख्य सड़क पर नहीं, बल्कि तट की रेत पर ही बना था। सीटी रोड की एक गली, जो इस रेत तक चली आती थी, उसी गली के आखिरी छोर का यह होटल, थोड़े कम पैसे वाले विदेशी यात्रियों के आकर्षण का केन्द्र था। उन्हीं के चलते कई देसी ग्राहक भी इसके प्रति आकर्शित होते थे। समीर इसके मालिक को इसलिए अच्छे से जानता था, कि यहीं पुरी में रहने वाले उसके भतीजे का वह अन्तरंग मित्र था। यहाँ ठहरने का एक दूसरा कारण यह भी था, कि यहाँ की रसोई में वह अपनी मन मरजी से खाना बनवा लेता था। होटल में पहुँचते ही उसे लगा, कि कमरे में जाने के पहले खाना खा लेना बेहतर होगा। उसे भूख भी लग रही थी। सुबह के नाश्ते के बाद उसने कुछ भी खाने जैसा नहीं खाया था। लौटते हुए एक टपरे हॉटल में दो इडली भर उसने लिये थे, और सीधे समुद्र तट की ओर आ गया था। पर मजेदार संयोग यह भी था, कि कमरे की तरफ जाने के पहले, पेड़ के मोटे तने और फूस की छानी के मुख्य आधार पर टिके, पिंक होटल के छोटे रेस्तराँ में घुसते ही तान्या ने खुद कहा, 'पहले खाना खा लेते हैं।'

सुनकर समीर को राहत सी मिली। पर खुद अपनी राहत के चलते उसने दुहराया, 'मुझे बड़ी जोर की भूख लगी है, और भूख में मैं बिलकुल रोने रोने को जाती हूँ।' तान्या ने जेनुइन क्षुधा की अनुभूति में सामने की टेबल से सटी कुर्सी पर बैठते हुए कहा।

'पराठा और आलू भजा खाओगी ?' समीर ने पूछा, 'आलू भजा समझती हो न ?'

'हाँ, ओड़िया आलू फ्राई, वो तो हमारे घर का हर तीसरे दिन का नाश्ता है, मुझे बहुत अच्छा लगता है।''

'पर उसमें थोड़ी देर लगेगी, कम से कम आधा घण्टा, वो रेगुलर मेनू के बाहर की चीज़ है।'

'ओरे बाबा,' तान्या ने पूरे बंगाली स्वर में कहा, 'मुझे तो बहुत भूख लग रही है। जो जल्दी आ जाए वही बुलवा लो।'

'सबसे जल्दी तो सादा मील ही मिल सकती है, पर उसमें सिर्फ़ भात होता है और वो भी उसना चावल का।'

'मँगवा लो, अभी तो जो भी आएगा, वो अमृत जैसा स्वाद देगा।' तान्या ने मुस्कराते हुए कहा। दरअस्ल इस बीच बाजू की टेबल पर बैठी युवती को देख कर उसकी भूख और बढ़ गयी थी। वह बड़े इत्मीनान से आलू का पराठा खा रही थी। उसके खाने की प्रक्रिया में सक्रिय छुरी काँटे की आवाज़, और उसके चेहरे पर छाये स्वाद के स्वरूप को देखकर तान्या का मुँह पनियाने लगा था। और भूख के विकल अनुभव और भोजन के सुस्वादु दृश्य ने, उसे अंकल की याद दिला दी। उसने उसी स्मृति

को शेयर करने के इरादे से सामने बैठे समीर की ओर देखा।

समीर भी ध्यान से उसी लड़की की ओर देख रहा था। वो पिंक होटल की इनमेट नहीं लग रही थी। गोरी थी। सुतवाँ नाक, थोड़े मोटे ओठ, लम्बोतरे चेहरे पर शार्प ठुड्डी में वह सहज भाव से कमनीय और दर्शनीय लग रही थी। उसकी ओर देखते हुए समीर थोड़ी देर के लिए भूख को भूलकर सोचने लगा था, कि अगर तान्या साथ नहीं होती, तो वह ज़रूर उसके साथ ठँसने की कोशिश करता, क्योंकि सिर्फ़ नाकनक्श से नहीं, बल्कि अपने इत्मीनान से भी वह यही जता रही थी, कि वह मुक्तमना आधुनिका है। यों यह समीर की हाल में ही विकसित आदत थी, कि ऐसे अवसर पर अपनी बुजुर्गियत का फ़ायदा उठाते हुए, वह अपने स्वभाव के विपरीत, थोड़ी अतिवाचालता के साथ, ऐसे लोगों के निकट आसानी से चला जाता है। बेशक इस तरह का साथ क्षणभंगुर ही होता है, पर कौन-सा साथ नहीं है, सोचते हुए उसने तान्या की ओर देखा, 'सुन्दर लड़की है।'

'हाँ, पर उसे खाते देखकर मेरी भूख और बढ़ गयी है और मुझे अंकल की याद आ रही है।'

सुनते ही समीर को झटका-सा लगा। उसे अच्छे से याद था, कि आज की इस मुलाकात के शुरुआती पलों में भी, उसे अंकल की याद आयी थी और वह रुआँसी हो गयी थी। उसने उसे थाहने के लिए गौर से देखा। इस बार तान्या के मुख पर छायी स्मृति में कहीं कोई दुख नहीं था, बल्कि एक रोचक संस्मरण की सी खुशी थी और उसी में डूबी वह बोल रही थी, 'एक बार, जब मैं चौदह पन्द्रह की थी, तो अंकल के साथ पुरी आ रही थी। शायद पहली बार। थ्री टायर वाले स्लीपर में हम, अगले बड़े स्टेशन जमशेदपुर का इन्तज़ार कर रहे थे, कि वहाँ प्लेटफार्म पर जो मिलेगा खा लेंगे। तभी राजस्थान के किसी नवविवाहित जोड़े ने अपनी टिफिन खोली। और प्लास्टिक के प्लेट में वे अपना नैश भोजन, शाम सात बजे से ही सजाने लगे। भिंडी की सूखी सब्जी। भरवाँ बैगन और खट्टे मीठे अचार। और स्वीट डिश के लिए राजस्थानी घेवर। अंकल के मुँह में पानी आ रहा था। उनका चेहरा देखकर ऐसा लग रहा था, जैसे वे उस सुस्वादु भोजन को, अपने लपलपाते लोभ के साथ देख रहे थे। हम साइड वाली सीट पर थे। वे दोनों सामने की लोअर और मिडिल बर्थ पर। युवती ने शायद अंकल की नज़रों से ज़ाहिर होती, भूख और लालच की भाषा को पढ़ लिया, हालाँकि स्थिति यह थी, कि अगर वह नहीं भी पढ़ पाती, तो अंकल अपनी दयनीयता के मुकम्मिल अभिनय के साथ, उससे सीधे सीधे माँग ही लेते खाना। दूसरी रात पुरी से भुवनेश्वर आने के बाद उन्होंने यह किया भी था। खैर लड़की ने बड़ी शालीनता से कहा, 'आइये आप भी जीम लीजिए।' एक पल की देरी किए बगैर अंकल सपाटे से उठे और जाकर सामने की खाली बर्थ पर बैठ गये। और फिर हम लोगों ने उस रात छक कर सुस्वादु राजस्थानी भोजन किया, और घी में डूबे घेवर खाये। अभी मुझे उन्हीं की याद आ रही है।' कहते हुए तान्या ने फिर एक काँटे से पराठे का टुकड़ा मुँह में डालती सुदर्शना की ओर देखा।

'आखिर ये तुम्हारे कौन से अंकल हैं, जिनकी याद तुम आज शाम से ही कर रही हो ?' समीर

ने थोड़ी अधीर, थोड़ी अशिष्ट उत्सुकता के साथ पूछा, लेकिन तभी होटल के बेयरे ने टेबल पर थालियाँ रख दी और दोनों के दोनों एकदम से ही खाने पर टूट पड़ने जैसा खाने लगे।

खाने के बाद कमरे में पहुँचते ही, तान्या ने सामने की टेबल पर अपना पिट्ठू रखा और उसी हाफपैंट और टी शर्ट में, कम ऊँचाई और कम चौड़ाई वाले उस डबल बेड पर पसरती हुई बोली, 'मुझे तो बड़ी ज़ोर की नींद आ रही है।'

समीर अकबकाया-सा उसे देखता रहा और सचमुच कुछ ही मिनटों में वह गहरी नींद में सो गयी थी। अब समीर के सामने समस्या थी, कि इस पूरी खाली सुनसान रात को, बाजू में ही नींद में ही गाफ़िल एक सुन्दर स्त्री के साथ वह किस तरह गुज़ारे।

समीर अविवाहित था। जीवन की अधिकांश रातें उसने अकेले बिस्तर पर ही गुज़ारी थीं। यों उसे एकाधिक स्त्रियों के साथ भी रात गुज़ारने का अनुभव था। पर ये ऐसी रातें होती थीं, जिन्हें सोकर नहीं, बल्कि जागकर गुज़ारते थे दोनों, और अगर सोते भी थे, तो तब, जब नींद पलकों पर बोझ की तरह लगने लगती थी। तान्या अव्वल तो उस तरह की स्त्री नहीं थी, बल्कि उसकी बात से तो कई बार यह शुबहा भी होता था, कि मनसा वह अपनी किशोर उम्र को छोड़ नहीं पायी है। या क्या पता यह भी उसकी नौटंकी का ही हिस्सा हो, समीर को अचानक लगा। वह खाट के सिरहाने टिककर पाँव फैलाये बैठा था और उससे हाथ भर की दूरी पर, उसी की ओर करवट किये तान्या लगभग बेहोश सी सोयी थी। हाफ़ पैंट में उसकी जाँघों के निचले हिस्से से लेकर, उसके पाँव तक बाहर से आती रौशनी पड़ रही थी, हालाँकि कमरे की बत्ती समीर ने बुझा दी थी। बेड लाइट की धीमा लाल उजाला और खिड़की से आती बाहर की रौशनी के कारण, कमरा अँधेरा नहीं लग रहा था। समीर ने सोचा कि खिड़की बन्द कर देने से कम से कम बाहर का यह उजाला कम हो जाएगा। उसने खिड़की बन्द कर दी। तान्या के समानान्तर लेट गया। उसकी ओर पीठ करके। कुछ ही पलों के बाद उसे लगा, कि नींद का कहीं अता पता तक नहीं है। उसने करवट बदली। बाजू में सोयी तान्या भी इस बीच करवट ले चुकी थी, पर ऐसा करती हुई वह लगभग तिरछी हो गयी थी। समीर उसकी पीठ को निहारता, बीच बीच में उसके पाँवों की आकस्मिक छुअन से सिहरता, बहुत अजीब सी परेशानी के साथ, कितना कुछ सोच रहा था। इसी बीच लगभग दसेक मिनट तक आँखें मूँदे रहने के बाद भी, जब उसे लगा कि उसे नींद नहीं आने वाली, तो कमरे का दरवाजा खोलकर, वह बाहर बनी छोटी-सी बालकनी में आ गया। फिर कुर्सी पर बैठकर झाऊ के पेड़ों के फेंस के उस पार, रात के समुद्र की ओर ताकने लगा। एक बार तो मन हुआ कि पिछवाड़े वाला गेट खोलकर सीधे समुद्र की लहरों तक चला जाए, लेकिन तुरन्त ही उसने खुद के खयाल को काट दिया। समुद्र को देखते देखते, तान्या को सोचते हुए उसे फिर लगा, कि आखिर उस कमरे में उसके साथ वह आयी ही क्यों थी ? अगर खाट पर पहुँचते ही नींद में धुत्त हो जाने जैसी स्थिति थी, तो उसके कमरे तक आने का, या उसके साथ एक ही बिस्तर पर सोने का आखिर मकसद या मतलब क्या था ? समीर जानता था, कि बिस्तर पर साथ-साथ सोने

का हमेशा वही मतलब नहीं होता, कि दो जने एक दूसरे से गुत्थमगुत्था होते रहें और अपना अपना सुख खोजते रहें, लेकिन इसका यह मतलब तो नहीं, कि किसी बिलकुल अजनबी के कमरे में आप सिर्फ़ नींद में बेहोश होने के लिए जाएँ। समीर के अन्दर कहीं कामना भी सुगबुगा रही थी, और उसे यह भी लग रहा था, कि सम्भ्व है, कि उसके पहल नहीं करने की वजह से ही, सारा मामला नींद की बेहोशी के बिस्तर तक आ पहुँचा हो। पर तब उसे यह भी लगता था, कि अभी तक जिस लड़की से ठीकठाक परिचय भी नहीं हुआ है, उससे इस तरह के किसी व्यवहार की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी उधेड़बुन में घुलते और घुटते उसने घड़ी देखी। रात के दो बज रहे थे। पूरी रात आँखों में गुज़ार देने की कल्पना से ही आतंकित, वह फिर कमरे में वापस आ गया। धीमी रौशनी में उसने देखा, कि इस बार तान्या पलंग के एकदम किनारे दीवार की तरफ करवट किये सोयी है। वह आराम से उसकी तरफ पीठ करके लेट गया। पर नींद आने के बाद भी उसे चैन नहीं आ रहा था। वह सपना देख रहा था। एक बहुमंजिली इमारत की छत पर, वह एक सुदर्शना युवती के साथ खड़ा है। दोनो तारों की तरफ एकटक ताक रहे हैं। अचानक छत के सामने का हिस्सा समुद्र बन जाता है। वह तट पर अकेला खड़ा है। तान्या पीछे से आकर उसकी आँखें अपनी हथेलियों से ढाँप देती है। वह छत की मुंडेर के सहारे टिक कर खड़ा है। नीचे से कोई उसे पुकार रहा है। अचानक पीछे से कोई उसे धक्का दे देता है। समुद्र की लहरें फिर एकदम से उस इमारत की ओर बढ़ने लगती है। वह रात की सुनसान सड़क पर लहुलूहान पड़ा है। वह अपनी माँ को आवाज़ देना चाहता है। उसके गले से कोई आवाज़ नहीं निकलती। वह हाथों पैरों के सहारे घिसटना चाहता है। कोई एक आता है, उस पर एक बड़ा-सा पत्थर पटक देता है। वह ज़ोर से चीखता है और उसकी आँख खुल जाती है।

जागते ही उसने देखा, कि वह अपने बिस्तर पर अकेला पड़ा है। दरवाजा खुला है। वह सपाटे से बाहर निकला। रिसेप्शन में वह कुछ पूछे, उसके पहले ही क्लर्क ने उसे एक कागज का टुकड़ा थमा दिया। मैं अपने ब्वाय फ्रेंड को रिसीव करने भुवनेश्वर जा रही हूँ। वह साढ़े नौ की फ्लाइट से आ रहा है। वहीं से मैं राउरकेला चली जाऊँगी। बाय। सी यू। तान्या। फिर नीचे हिन्दी में लिखा था, रात के साथ के लिए शुक्रिया।

समीर मुस्कुराता हुआ अपने कमरे में लौट आया।

थाना

मूल उपन्यास 'खिलेगा तो देखेंगे' का अंश

विनोद कुमार शुक्ल

छत्तीसगढ़ी में अनुवाद- सौरभ शर्मा

थाना! बर पेड़ अतेक बड़ रहिस हे
कि भूइयां भीतरी
ओखर जरी मन हा दूरिया तक फैले जरी सेती अउ
थाना के भी सेती गुप्त लगय।

गाँव म दू पक्का मकान रहिस, एक ठक ग्राम सेवक के क्वार्टर अउ दूसर पुलिस थाना। बल्ली-खपरा कुरिया मन ल देखतेस अउ एमन ला देखतेस तव गजब अन्तर लागतिस।

थाना हा डेढ़ दू साल ले खाली परे रहिस अउ सून्ना रहिस। तिर-तखार के गाँव मन ला घलो सुरता म राखके अऊ इही जगह ला बीचोंबीच मानके इहें थाना ला बनाये रहिन हे। फेर अब ये थाना हा थोड़ किन दूरिया बड़गांव चल दे हवे।

बड़गाँव के आबादी ठीकठाक रहिस। एक राइस मिल रहिस, बड़े लकड़ी टाल रहिस, आरा मशीन रहिस और आटा चक्की घलो रहिस। एक ठन माध्यमिक इस्कूल रहिस, एखर सेती थाना के बड़ जरूरत रहिस हे। ये छोट किन गांव म थाना बड़े-बड़े मेंछा वाला चौकीदार लगथे, अऊ जउन हा गरीब मनखे बीच रक्षा बर खड़े हे।

थाना अब्बड़ दिन से खाली रहिसे तभो ले गांव के मनके ओती बर जाय के हिम्मत नइ होत रहिस। छेरी मन हा तको भूले भटके घलो ओती नइ जातरहिन हे। जबकि गुरुजी मन हा पाठशाला म पढ़ात रहांय अउ छेरी मन हा कूद के बरांडा म चघ जाए। कभू गरूवा मन हा गरूवा होय के सामाजिक फायदा ला उठाके बिन डेर्राए थाना कोती चल देंय। पहाटिया गरुवा मन ला रोकय तभो ले ओमन ला कुछु नइ होवय। गऊ हा तव गऊ हे बपरी ह, तभो ले गऊ होय के सेती ओला जोखिम

नइ रहिस हे। पाठशाला म गुरुजी हांका पारे असन चिल्लावय तब सब लइका मन हा ओला वइसने दोहरावय। एखर ले अतेक हल्ला होवय कि ओतके हल्ला के जंगल में हांका से बघवा हा निकलतिसअऊ शिकार हो जातिस। हल्ला होय तभ्भो छेरी मन हा कूदा-फांदी करत दिखजातिन।

थाना के अहाता म मीठ-पानी के कुँआ रहिस हे, केवल इही कुँआ होतिस अउ थाना नइ रहितिस तव कुँआ के चारो कोती गांव बस गे होतिस। कुँआ के तीर-तखार में बस्ती बसे के कोनों तुक नइ रहिसे। गांव सदा ले थाना के पीछू डहार रहे आये। अउ अतेक दिन ले सुन्ना रहे, ओती बर एको झोपड़ी नइ बाढ़िस।

गांव के सियान कोटवार हा थाना के खाली होय के दिन ले नियम ले थाना ल रोजे बहारय अउ कुँआ ले पानी डोहार के मरकी म भर के रखय। मरकी फूट जतिस तव कुम्हार ला थाना के नाम फोकट म नवा मरकी मांग के ले आनय। ओला आस रहाय कि सरकारी आदमी दौरा म आहि तव थाना जैसन ठीकठाक जगा म रुकही। गांव वाला मन के बइठक लिहीं। बहारे बर ओला कोनो नइ तियारे रहिस हे, ओला खुदे लगय कि ये ह ओखरेच काम हे। जिवराखन के दुकान के आगू गांव के बइठक होवय। साहब मन हा परछी म देहाती टेबल कुर्सी म कागजपतरी लेके बैठंय। गांव वाले मन ला ओखर मन के सामने खाली जगा म ऊखरू बैठें ताकि साहब मन ये झन सोचंय कि एकदम पसर के बैठ गें हें। सावन के बेरा में जब कभू पानी बरसय तव बइठे-बइठे जम्मो झन भींग जावंत रहिन। दू मिनट रदरद रदरद बरसात होगे अउ जम्मो झन चूरचूर ले भीग जाए। ऐसन में साहब मन हा कहांय 'बइठक बाद म होही', ओखर मन के कागज-पतरी ला सकेलत दू मिनट तोहो जाथे। कभू-कभू तो पांच मिनट घलो लग जाय। टिपिर-टिपिर पानी गिरत रहाय तभो ले बइठक चलत रहाय।

दुकान के आगे बड़े जान के पीपल रूख रहिसे। सावन के बेरा म पानी झन गिर जाए, बइठक म अवइया मनखे मन हा रूख के छइय्या म बइठे बर सुरू कर दंय। गांव के आबादी ह बहुते कमती रहिस हे। साहेब के कुर्सी टेबल म बइठतेच जम्मो झन देखय कि दुकान अउ ओखर बीच बहुत जगा छुटे हे, सब झन खुदे आगू आ जतिन, तफेर पीपल रुख के छैय्या हा आखिर के मनखे ले घलो छूट जावय। गरमी म तको एसने होतिस, सबो घाम में रहितिन अउ रुख के छांव रुख के तिर-तखार रहेआतिस। जैसे पत्ती मन हा झड़-झड़ के नीचे इकट्ठा होथे, वैसने छांव घलो झरके रूख के नीचे इकट्ठा होतिस तव पेड़ हा अतेक बड़ रहिस कि सबे मनखे थोड़ थोड़ छांव ला सकेल के अपन मुड़ी में रख लेतिन। भलूक सौ बरछ ऐसने जिवराखन के दुकान म अइसने बइठक होत रहे तव हो सकत हे रूख अतेक बड़ हो जातिस कि जिवराखन के दुकान तक पहुंच जाए। रुख अपन अक्ल ले नइ बढ़य, सुविधा ले बाढ़थे, अपन सुभाव ले बढ़थे।अगर अपन अकल ले बाढ़तिस तव ओला दुकान तिर आ जाना रहिस हे। जिवराखन के दुकान ल खुले सात आठ बछर होय रहिस हे। वो ह चाहतिस तव पीपल तिर घलो सुघ्घर दुकान खोल सकत रहिस हे। जिवराखन के तिर तखार के गांव मन मे घलो अब्बड़ भुइयां रहिस हे। वो गौटिया रहिस हे। पीपल रुख के नीचे चार- पांच सियान मन ह सब्बो बेरा ठल्हा बइठय

दिखय। सियान मन के सेती अउ बड़े जान होय के सेती पीपल के रुख ह जुन्ना लगय। उजाड़ धुर्रा भरे भाठा म निचट अकेल्ला सियान। हवा चलतिस तव ओखर पान मन बाजय। गांव के इलाका जमाना ले चलत दयनीय कार्यक्रम रहिस हे। पीरा अउ सनसों के कार्यक्रम सुघ्घर तरीका ले होतिस तव तड़ तड़ ताली बजतिस।

कोटवार के पहिली नाती मर गे रहिस, तेखरे सेती ओला दूसर नाती के घलो मर जाय के डर के सनसों ले सोस करत अउ मया करय। जभू भी कोटवार बहारे बर थाना जावय तव इहु नाती ह संग चले बर जोजियावय। थाना के चिक्कन फररस म खेलई ओला बढ़िया लागय। गांव के जम्मो लइका मन नंगरा रहाय। उहू नंगरा थाना के परछी म दउड़त रहाय। ओखर कनिहा म करिया धागा बंधाय रहाय ओमा मुरचा खाये एक ठक कूची लगे रहाय। ये कूची ह कोटवार ल थाना के अहाता म मिले रहिस हे। मने गांव के जम्मो लइका मन नंगरा नई रहितिन तव ये लइका ह उजाड़ थाना के बरांडा म दउड़त जानवर असन लगतिस। लइका के ददा के नाम घासीराम रहिस हे।

पांच छह बछर पहिली के गोठ हवय। सियान कोटवार के लइका घासीराम ह दारू चढ़ाके जिवराखन ल बड़ बखानिस। जिवराखन ह थाना ले सिपाही बला लिस। जौन बेरा घासीराम ल धरत रहिन हे तव कुछु सोच के वो हा अपन लइका ला अपन बाई के कोरा ले छीन लिस, पहिली लइका रहिस हे तीन-चार महीना के। लइका ल धरे-धरे वो ह थाना गिस। घासीराम के बाई ल कोटवार थाना आए बर मना कर दे रहिस हे। नसा करे के सेती घासीराम के दसा खराब रहिस हे, जिवराखन के दुकान ले जतका दूरिया वो रहितिस, उही हिसाब से ओतके गोहार पार के ओला बखानय।

रेंगत रेंगत कभू कभू घासीराम लइका ल मया करे बर रुक जावय तव ओखर संग सिपाही, कोटवार, दूर चार ठक गांव के मनखे, गांव के कुछु लइका मन घलो रुक जाएं। तव कोटवार ओला लइका ला लउटाय बर जोजियावय। घासीदास लइका ल दे बर नट दय। रद्दा म ठाड़े ठाड़े घासीराम के रेंगे के अगोरा करत अब्बड़ बेरा होय लागतिस तव सिपाही ओला ढपेलत रेंगाना सुरू कर देतीस। लड़बड़ात लड़बड़ात घासीराम हा जोर से चिचियावय तव कोरा में लइका खलखला के हांसय।

थानेदार ल लागत रहिस हे कि लाकअप म धांधे के पहिली लइका ल ओखर कोरा ले लेना जरूरी हावय। लइका सहित ओला लाक्अप म धांधना सही नइ आय। थानेदार ह सिपाही ल बोलिस कि वो ह घासीराम ले लइका ल ले लय अउ घासीराम ल लाकअप में धांध दय। घासीराम थानेदार ल बखाने लगिस। लइका ल लागय झन कइ के सिपाही ह घासीराम के मुड़ म हुदरिस। लइका के सेती सिपाही ल मुड़ म हुदरना ठीक लगिस होही। घासीराम गिरगे हे, अइसन बइठगे। लइका चिचिया के रोय लगिस।

घासीराम ला लगत रहिस हे कि लइका के सेती उहू बाच जाहि या कोरा म लइका होय के कारण ओला नई मारय पीटय। इहू हो सकत रहिसे कि अइसने वो ह लइका ल धर ले होवय। सिपाही

मूंठा तानके ओला डेरूआत ओखर कोती जब फेर बढ़े लगिस तव लइला ला ढाल जैसन बनाके बहुते डेर्रा के बांचे के मुदरा म पीछे घुचे लगिस अउ कहिस मारव झन, लइका ल लाग जाहि। सियान कोटवार रोवत बेरा अब्बड़ सोगसोगावन लगत रहिस हे। कोटवार के रोवय ले सिपाही कंझात रहिस हे। सिपाही कोटवार ल अपन आगू ले हटाके पाछू कर दय। कोटवार फरसी म मुड़ी ल टेका के कहात रहिस हे- 'ओला माफी दे दे दरोगा जी, झन मार साहब जी'।

घासीराम लइका ल करेजा म चिपटाये सिपाही कोती पीठ करके खड़े होगे। चोट लागे के कारण नइ ते नसा के कारण वो हा ठाड़ नइ हो पात रहिस हे। सिपाही हा घासीराम के कनिहा म मूंठा मारिस, तड़प के घासीराम घूम गे। जम्मो झन देखिन लइका के नाक ले टप-टप लहू गिरत रहिस हे। सिपाही ल घलो समझ नइ आइस लइका के नाक ले खून काबर बोहाइस। लइका चुप हो गे, टुकुर टुकुर देखे लागिस। अतकाच में घासीराम हा बहुत दुख म रोय लगिस अउ रोवत-रोवत आस ल छोड़ के अपन लइका ल कोटवार के हाथ में धरा दिस।

लइका ल लेके कोटवार ह थाना ले निकलिस। अहाता के बाहिर कोती थोड़ किन सूक्खा गोबर पड़े रहिस हे। गोबर ल उठाके वो हा लइका के नाक मे सूंघा दिस। लहू हा धीरे-धीरे गिरत रहिस हे लेकिन बंद नइ होय रहिस हे। गोबर ल फेंक के वो उत्ता-धुर्रा घर कोती गिस। घर पहुंचे ले पहिलीच ओखर लइका मर गे। घर में घासीराम के बाई नइ रहिस हे। जिवराखन के दुकान म नून ले बर गे रहिस हे फेर घासीराम के कारण जिवराखन ह जिनिस देबर मना करत रहिस हे। तभे ओला कहूं से पता चलिस कि घासीराम के लइका मर गे। वो बेरा भी घासीराम के बाई ह नमक बर जोजियात खड़े रहिस हे। पता चले के बाद जिवराखन ह नून दे दिस पर लइका के मरे के समाचार नइ बताइस। वो ह डेर्रात रहिस हे कि दुकान म नौटंकी हो जहि। दूसर दिन बिहनिया घासीराम ल छोड़ दिन।

थानेदार थाना ले लगे जउन दू ठन खोली मन म रहाय वो हा एकदम टूटफूट गे रहिस हे। ओखरे मलबा थाना ल उजाड़ बनात रहिस। मलबा म भजकटिया घलो जागय अउ धतूरा घलो फूलय। दूनो खोली थाना बने के बहुत बाद बनिस तभो गिर गे रहिन। थाना के चारो मूड़ा दीवार के घेरा घलो जगह-जगह टूट गे रहिस। घेरा के भीतरी अब्बड़ अकन रूख रहिस हे। घेरा के किनारे कोती कोनो कोनो जगह मेहंदी के रूख-राये रहिस हे। एक ठक बर पेड़ घलो रहिस हे। बर के डंगाल मन ले जरी मन हा नीचे तक झूलत रहांय। बरगद अतेक बड़ रहिस कि जमीन के भीतरी ओखर जरी के दुरिहा-दुरिहा फैलाव से थाना सेती गुप्त लगय।

थाना म दू ठक खोली रहिस हे। एक ठक बड़े जान लाकअप, एक ठक छोटकिन लाकअप। मुंशी जी परछी म टेबिल लगाके बैठत रहिस होही। थानेदार ह छोटे लाकअप म बइठत होही। बड़े लाकअप के टट्टी पेशाब निकासी, जउन छोटे लाकअप तरफ ले बाहिर कोती निकलत रहिस होही, तेन ला थानेदार बंद करा दे रहिस हे। निकासी बड़े लाकअप ले बाहर कोती कर दे गे रहिस हे। बड़े

लाकअप में ऊपर म छोट किन रोशनदान रहिस हे, एमा चार ठक लोहा के मोट्ठ-मोट्ठ सलाख रहिस हे। रोशनदान ऐसन रहिस हे कि ओमा बिलई या ओखरे बराबर के हवा या उजेला खुसर सकत हो ही।

दिन म बराबर अइसन संका होवय कि हवा अउ अंजोर एक संग भीतरी जाए में नइ अमात होंही। कोनो पहिली आत होही, कोनो बाद में। मोट्ठ-मोट्ठ सींकचा वाले कपाट ले अब्बड़ हवा अउ अंजोर आवय। तभो ले अइसन लगय कि अंदर अमा गे अंजोर अउ हवा अब लाकअप ले बाहिर नइ जा सकय। अउ नइ तव दिन भर दिन के अंजोर हा लाकअप म बंद रहाय। घुटन होवय।

थाना के रोशनदान ले चिरई हा खुसरत होही तव ओखर पीछू-पीछू एक ठन बिलई ह घलो खुसरत होही। चिरई ह सींकचा के पोंडा ले बाहिर चल दय तव बिलई घलो ओखर पीछू पीछू निकल जात होही। चिरइ जतेक खुलके रहे ओतके बिलई घलो रहे। बिलई ह हमेशा चिरई ला दबोचे वाले ताकत होवय।

छोटे वाले लाकअप के रोशनदान ल थानेदार ह बड़े करा दे रहिस हे। ये लाकअप ल वो ह अपन दफ्तर बना ले रहिस हे। हवा अउ अंजोर ला उही बौर सकत रहिस हे जेखर खिरकी रहिस हे। खुला मैदान म घलो हवा अउ अंजोर ला बौर नइ सकत रहिन हे काबर कि मैदान म खिरकी अउ रोशनदान नइ रहाय। अंधियार के आए बर कपाट अउ खिड़की के जरूरत नइ रहाय नइ तव रात में आत अंधियार ल खिड़की दरवाजा बंद कर रोक देतेन। खोली म इकट्ठा होगे अंधियार ल बहार देतेन।

रात म गांव के बाहिर खुल्ला मैदान के स्वतंत्रता म जतका अंधेरा होवय ओतके अंधेरा लाकअप म घलो हो जावय, ये ह अचरज के बात लागय। ऐसन लगय कि न्याय बर लाकअप के अंदर के अंधियार अउ बाहिर मैदान के अंधियार में थोड़किन फरक होना चाहिए रहिस।

गांव में रात अउ दिन के सुन्ना में उन्नीस-बीस के बस फरक रहाय। रात म जिवराखन के दुकान के पेट्रोमेक्स ह शहर जइसन अंजोर देवय। गांव के जम्मो अंधेरा ले गैसबत्ती के अंजोर ल घटा दन तभो ले ओखर नीचे अंधियार के बड़े जान संसार बाचे रहितिस। अइसे लगय कि दुनिया ह प्राण ल बचाये बांचे हे। कभू लागय कि एक मनखे असन डेराये बचे जीव हे।

रात के सुन्ना म घलो जिवराखन के दुकान म रेडियो के आवाज ओतके दूरिया जावय जतका दिन के बेरा म जावय। फरक होतिस तभो बीस पचीस फीट ले जादा नइ होवय। पाठशाला के बेरा जब ट्रांजिस्टर थोड़किन जोर ले बाजय लगय तब गुरुजी कोनो टूरा के पट्टी ला ले, ओमा लिखय, 'कृपाकर रेडियो ल धीरे बजाहु। द. गुरूजी।' फेर पट्टी वाला टूरा ले कहितिस 'जा एला जिवराखन दुकानदार ल देखा के ले आन'।

रेडियो की आवाज धीरे हो जतिस तो वो ह समझ जाए कि ओखर बात ह जिवराखन तक

पहुंच गे अउ वो हा खुश हो जाए। टूरा ह लहुट के पट्टी गुरुजी ल देखातिस, ओमा लिखे रहितिस, 'गलती होगे गुरुजी, आपके आग्या ले आवाज कम कर दे हन। द. जिवराखन दाऊ।' दुकानदार के आखर सुडौल रहिस पर आखर लिखे के तरीका म दुकानदारी अंदाज रहिस हे, गुरुजी के आखर सुघ्घर सुडौल रहिस फेर ओखर आखर लिखे के तरीका म मास्टरी अंदाज रहिस हे।

पाठशाला ले कोनो टूरा पट्टी ले ले गांव कोती जावय तो गांव वाले मन समझ जाएं कि गुरुजी ह संदेसा भेजे हे। जिवराखन एला गुरुजी के टेलीफोन कहाय। जिवराखन संदेश ले के जात टूरा ल देखय तो हांका पारय, 'गुरु जी के टेलीफोन आ गे।' टूरा ल जिवराखन अपन तिर बलातीस। टूरा घबड़ाये जिवराखन तिर पहुंचय। जिवराखन ओखर ले पट्टी ले लेवय। फेर पट्टी में लिखे गोहार पार के पढ़य 'आज संझा के मोर चड्डी ल सिलके दे देबे। द.गुरु जी।' दीना दर्जी के टेलीफोन हे? जिवराखन गोहार लगा के पूछतिस। 'हौ', टूरा जवाब देतीस। जा बता देबे। जब टूरा वापिस आवय तव जिवराखन फेर हांका पार के ओला अपन तिर बलावय अउ ओखर पट्टी लेके दीना दर्जी के जवाब पढ़तिस। 'हौ गुरुजी। द.दीना दर्जी।' दीना दर्जी दसवीं पास रहिस हे। वो चाहतिस तव अंग्रेजी म घलो दस्कत कर सकत रहिस हे। पट्टी म गुरुजी के दस्कत ल देखके जवाब म जम्मो झन दस्कत करना जरूरी समझय। जिवराखन के दुकान म दू तीन झन सबो बेरा दिख जावय।

पाठशाला के परछी म रांधत बेरा गुरुजी के घरवाली बोलतिस 'नून सिरा गे।' अतका सुनतेच जम्मो टूरा पढ़े बर बंद कर दंय। 'मे लानत हंव गुरु जी', चार-पांच झन टूरा मन बोलतिन। कई झन तुरंत टूटहा पट्टी गुरुजी कोती उठा देतीन। गुरु जी एक झन के पट्टी म लिखतिस। 'एक किलो नून चाही। द. गुरु जी' गुरु जी के संदेसा पा के जिवराखन जवाब देतीस। 'अब दू रुपया चार आना उधारी हो गे हे गुरु जी। द.जिवराखन।'

सृष्टि

अमृता भारती

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्।।

ऋग्वेद

वह कौन-सा वन था, वह कौन-सा वृक्ष, जिससे ये द्यावा-पृथिवी निर्मित हुए? हे ऋषियों, अपने मन में विचार करो, इन भुवनों को धारण करते हुए वह कौन-से स्थान पर अवस्थित था?

सृष्टि

यह जगत् उसकी शक्ति का आविर्भाव है।[1]
उसकी शक्तियों से ही यह जगत् निर्मित है।[2]

वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थों में सृष्टि एवं सृष्टिक्रम का तात्विक एवं दार्शनिक विवेचन तथा उसके प्रथम एवं उत्तरोत्तर प्रादुर्भावों पर विशद विवरण प्राप्त होता है। कथन-उपकथन, वार्ता, संवाद, जिज्ञासा एवं प्रत्युत्तर के रूप में इस पर विस्तार से विचार हुआ है।

सृष्टि के विषय में अध्यात्म-ग्रन्थों से लेकर भौतिक विज्ञान तक शाश्वत जिज्ञासा विद्यमान रही है। ऋषियों ने इस रहस्य का उद्घाटन किया है, पर यह उद्घाटन भी रहस्यमय और गुह्य है और विश्लेषण के लिए समान स्तरीय मनीषा की माँग करता है। पर अब मनुष्य की अन्तश्चेतना में इस जिज्ञासा ने इतना ठोस और वास्तविक रूप ले लिया है कि यह उत्तर के लिए किसी भी जोखिम और कितने ही संकटपूर्ण पराक्रम के लिए उद्यत है। वैज्ञानिकों की प्रयोगशालाएँ हों या दूसरे ग्रहों की ओर उड़ते, ध्वंस होते अन्तरिक्षयान अथवा मनुष्य के अन्दर दहकता अग्निगृह, अनुसन्धान जारी है। ऐसा पहली बार हुआ है कि मनुष्य हर चीज़ का कोई एक उत्तर पाना चाहता है- और उत्तर वस्तुतः 'एक' में ही है, जो अनेक हो सकता है, बहुविध हो सकता है- **एकं रूपं बहुधा यः करोति**[3] और जो अपनी सर्वगत शक्तिमत्ता से एक ही काल में सर्वत्र हो सकता है :

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पवत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः।।[4]

वैदिक ऋषियों ने उस विश्वचक्षु, विश्वमुख, विश्वबाहु, विश्वपाद 'एक देव' का साक्षात्कार किया था जो बाहुओं से (द्यौ में) धमन करता हुआ और तीव्र गतियुक्त पैरों से (पृथ्वी पर) संचरण करता हुआ द्यावा-पृथ्वी को उत्पन्न करता है।

उस एक देव का धन और संचरण उसकी उस गति को प्रकट करता है जो सृष्टि-कर्म की अभिव्यंजक है।

दृश्य-जगत् के आविर्भाव के पूर्व जल था- 'आप', इसे 'श्रुति' और 'स्मृति' दोनों ने स्वीकार किया है- आपो वा इदमग्रे, आपो वा इदं सर्वम्[५], आप एवेदमग्र आसुः[६] तथा अप एव ससर्जादौ।[७] पर यह 'आप' प्रभेद और पहचानरहित जल था- अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।[८] अप्रकेत शब्द जल की अभिज्ञानरहित स्थिति को प्रकट करता है।

'आप' या 'जल' की अग्रता के विषय में उपनिषद् का यह कथन महत्वपूर्ण है कि उस आत्मा ने, सृजन की इच्छा से, जलों से पुरुष को निकाला- सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धत्य...।[९]

सृष्टि के सन्दर्भ में 'काम' और 'तप' ये दो शब्द सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में पुनरावृत्ति के साथ उपलब्ध हैं। प्रथम हम 'काम' शब्द और इसके अर्थ को हृदयंगम करने का प्रयत्न करेंगे। यह शब्द आत्मा और प्रजापति के साथ प्रयुक्त हुआ है- आत्मा अर्थात् 'सः' (वह) परमात्म पुरुषः

कामस्तदग्रे समवर्तत ....।[१०]
सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेय ...।[११]
प्रजापतिरकामयत प्रजायेय ...।[१२]
प्रजाकामो वै प्रजापतिः।[१३] आदि

'काम' परमात्मा सत्ता की इच्छा शक्ति है और यह इच्छा अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य से विश्व के प्रकाशन का कारण है। तन्त्रागम में यह परम चैतन्य है, चिति, जो स्वेच्छा से अपने ही पृष्ठ या पट पर विश्व का उन्मीलन करती हैः

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।[१४]

सृजन में उपादान कारण का अभाव सर्वत्र मान्य है।

यह इच्छा ही है जिसके द्वारा चिदात्मा देव अन्तःस्थित इस विश्व को बाहर प्रकाशित कर देता है :

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः। ...
प्रकाशयेत्।।[१५]

श्री अरविन्द ने इस इच्छाशक्ति को 'सर्वशक्तिमान, सर्वप्रभुत्वमय और सर्वआनन्दमय'[१६] कहा है।

ब्राह्मण में इस 'काम' के विषय में यह उद्घोषणा है :

कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति।[१७]

इस कथन की व्याख्या भट्टभास्कर इस प्रकार करते हैं :

स एव वशी स्वतन्त्रः कामः
ईश्वरस्य इच्छाशक्तिः कामः
कारणात्मना एकमेव वस्तु दीप्यते
उत्पत्ति हेतुः एको विराजति।[१८] आदि

स ईक्षत[१६]- उसने सोचा या विचार किया, इस 'ईक्षा' शब्द में भी इच्छा अन्तःगर्भित है।

दूसरा शब्द 'तप' है जो सृजन में 'काम' के उपरान्त आता है :

तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।[२०]
स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।[२१]
तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य।[२२]
सो ...ऽभ्यतपत्; ... अभितप्त ...।[२३] आदि

तप शब्द विचार या भाव-संक्रेन्द्रण का सूचक है, एकाग्रता का। 'इस तप की महिमा से विश्व की सृष्टि हुई।'[२४]

उसने तप किया और तप की शक्ति से सर्व का सृजन किया, जो कुछ भी है, सर्व का...

स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच।[२५]

'तप' के साथ ब्राह्मण में एक शब्द और है- 'अन्तर्वान्' :

स तपोऽतप्यत।

सोऽन्तर्वानभवत्।[२६]

भट्ट भास्कर इस 'अन्तर्वान्' शब्द की व्याख्या' 'गर्भवान्' कहकर करते हैं- गर्भवानभूत्।

काम प्रथम बीज था- रेतः प्रथमं[२७] जो तप की महिमा से गर्भवान् होकर विश्व की सृष्टि करता है। यह 'रेतः' वह सारभूत तेज है जो उत्पत्ति के लिए स्वयं में स्वयं को धारण करता है।[२८]

'काम' और 'तप' 'स' से, 'आत्मा' से 'ब्रह्मा' या 'प्रजापति' से जुड़े हुए हैं। इन्हें ही 'अक्षर पुरुष' कहा गया है, जिससे विश्व उत्पन्न होता है या इस सृष्टि में सब कुछ उत्पन्न होता है- अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।[२९]

वह ही इस सम्पूर्ण विश्व का जनक है- त्वं विश्वेषां जनिता यथासः।[३०] वह ही यह जगत् है- पुरुष एवेदं विश्वम्।[३१] और वह ही विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता[३२] है।

उस 'परम ईश' का स्पष्ट कथन है- 'मैं ही सबका उद्गम हूँ, मुझसे ही सब प्रवर्तित होता है':

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व प्रवर्तते।[३३]

'सर्व सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ' :

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहम् ...।[३४]

अज और अनादि मैं ही लोकों का ईश्वर हूँ :

लोकमहेश्वरम्।[३५]

सृष्टि या विश्व के विषय में यह शाश्वत जिज्ञासा प्रश्न के रूप में आश्चर्य को अन्तर्सात् किये है, एक ऐसे रहस्य को, जो प्रकाशमय होकर भी 'परोक्षप्रिय' है और जो प्रश्न में ही उत्तर को अन्तर्लुप्त कर देता है। यह जिज्ञासा स्वयं उत्तर का अन्तर्भाव है।

सृष्टि विषयक प्रश्न को श्रुति में विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है। 'क्या इसका अधिष्ठान था, क्या उपादान कारण था और कैसे इसे (सृष्टि-कार्य) किया गया?'[३६]

कौन इसे जानता है? कौन इसके विषय में कथन कर सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आयी है, कैसे उत्पन्न हुई है? इससे पहले देव भी नहीं थे। अतः कौन जानता है, यह कहाँ से आविर्भूत हुईः

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।।[३७]

जिससे यह उद्भूत हुई है, वही इसे धारण कर सकता है, या नहीं कर सकता; जो उस परम व्योम में इसका अध्यक्ष है, वह अवश्य जानता होगा या न जानता होगाः

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।।[३८]

जानने, न जानने का यह बोध अनिवर्चनीयता प्रकट करता है। और यह भी कि पूर्णतया कौन जान सकता है?

पुनः उपादान कारण के विषय में प्रश्न है :

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्।।[३९]

वह कौन-सा वन था, वह कौन-सा वृक्ष, जिससे ये द्यावा-पृथिवी निर्मित हुए? हे ऋषियों, अपने मन में विचार करो, इन भुवनों को धारण करते हुए वह कौन-से स्थान पर अवस्थित था?

तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसी 'एक की ओर संकेत है, जो 'स' है, 'आत्मा' है, 'ब्रह्म' है :

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्।[४०]

यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।[४१]
ब्रह्माध्यतिष्ठभ्दुवनानि धारयन्।[४२]

सृष्टि में अन्य किसी उपादान कारण या उपकरण सामग्री की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह सर्वशक्तिशाली है- तस्य सर्वशक्तित्वात्।[४३]

यह रोहित है, प्रजापति, जो अपने बल से द्यावा-पृथिवी को दृढ़ करता है- अदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन।[४४] यही द्यावा-पृथिवी की रचना भी करता है- रोहितो द्यावापृथिवी जजान।[४५]

वस्तुतः यह जगत् अविद्यमान नहीं, अव्यक्त था, तब उस अव्यक्तता से ही व्यक्त जगत् का आविर्भाव हुआ। उसने स्वयं ही स्वयं को रचा- तदात्मानं स्वयमकुरुत।[४६] इसीलिए इसे 'सुकृत' अथवा 'स्वयंकृत' कहा जाता है।

तान्त्रिक वाङ्मय में भी जगत् व्यक्त और अव्यक्त है। वह 'उन्मीलन' और 'निमीलन' है- उस परम ईश का उन्मेष और निमेष। बाह्य-प्रसरण के रूप में 'उन्मेष' जगत् का प्राकट्य है और अन्तर-प्रत्याहार के रूप में 'निमेष' जगत् का विलुप्तीकरण है।

वह परम सत्ता अन्तर्वस्तुरहित नहीं है। उसमें सम्पूर्ण चराचर विश्व उसी प्रकार विद्यमान है जैसे बट-वृक्ष के बीज में महावृक्ष विद्यमान होता हैः

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्।।[४७]

तन्त्रागम में रचनात्मक सौन्दर्य के साथ इस विश्व का चित्र प्रस्तुत किया गया हैः

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद् विचित्ररचना मकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या
विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथाऽयम्।।[४८]

जिस प्रकार दर्पण में अनेक वस्तुएँ यद्वत् प्रकट होती हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् चैतन्य में प्रकाशित होता है। पर इस चैतन्य में विमर्श की शक्ति है और यह जगत् को जानता है, पर दर्पण इस वस्तु-वैचित्र्य को नहीं जानता।

यह चैतन्य ही है जो इस सम्पूर्ण चराचर विश्व को उत्पन्न करता है-

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्।[४९]

आगमिक दृष्टिकोण की प्रस्तुति करते हुए इस जगत् के विषय में जयरथ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। जगत् एक प्रत्यक्षता है- रूप अथवा देश का सघन संहत रूप। वह चैतन्य शक्ति यह ठोस आकार किस प्रकार ग्रहण करती है, उसी का भावात्मक चित्रण है- 'चिति शक्ति का अमृत, आनन्द के उल्लास

से विस्तार प्राप्त करता है। उसी समय यह पीयूष राशि घन होकर आकार ग्रहण कर लेती है। यही जगत् है और यही परम शिव का प्रत्यक्ष शरीर है' :

आश्यानं चिद्रसस्यौघं साकारत्वमुपागतम्।
जगद्रूपतया वन्दे प्रत्यक्षं भैरवं वपुः।।[५०]

तन्त्रागम में काल-दृष्टि से जगत् की सृष्टि (उन्मीलन, उन्मेष) और संहार (निमीलन, निमेष) को एक नित्य क्रम कहा गया है जो निरन्तर चल रहा है:

दिने दिने सृजत्येवं संहरेच्च दिनक्षये।[५१]

दिन इसे प्रकट कर देता हे, रात्रि इसे समेट लेती है।

भगवान् कहते हैं- दिन के आगमन पर सब उस अव्यक्त से व्यक्त होते हैं और रात्रि के आगमन पर सब उस अव्यक्त में प्रलीन हो जाते हैं :

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।[५२]

उस अक्षर पुरुष से इस विश्व की उत्पत्ति का चित्रण उपनिषदों ने अनेक उपमानों और सृदश विम्बरूपों से किया है।

इनमें विश्व-सृष्टि के रहस्य एवं प्रकार को दृष्टान्तों से प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है। पहला दृष्टान्त है :

जिस प्रकार मकड़ी जाले को रचती एवं ग्रसती है, अर्थात् अपने ही शरीर के तन्तुओं को बाहर फैलाती और उन्हें अपने में समेट लेती है। जैसे पृथिवी से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे पुरुष के शरीर से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस 'अक्षर' पुरुष से यह विश्व उत्पन्न होता है :

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।।[५३]

दूसरा दृष्टान्त है, जैसे मकड़ी तन्तुओं पर ऊपर संचरण करती है तथा जैसे अग्नि से अनेक क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्त प्राणी विविध रूप से उत्पन्न होते हैं :

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा
व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।[५४]

'ऊर्णनाभि' का दृष्टान्त अन्य उपनिषदों में भी उपलब्ध है।[५५]

'वह' ही विश्व का रचयिता है, स्रष्टा है- स विश्वकृत्।[५६]

वह ही जगत्रूप ज्योतिर्मय है। सर्वगत और इस पूरे भुवन का रक्षक है। वह ही इस विश्व का नित्य नियम से शासन करता है। सृष्टि, पालन और नियमन- किसी भी रूप में कोई अन्य हेतु विद्यमान नहीं है- नान्यो हेतुर्विद्यते।[५७]

वस्तुतः जगत् जीवन की अभिव्यक्ति है। उस परम चैतन्य की प्राणशक्ति का आविर्भाव। चराचर सृष्टि चैतन्य की ही प्राणमयता है।

---

(१) स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्। शि.सू., ३.३० (२) शक्त्योऽस्य जगत्कृत्स्नम्। उद्धृत, आगम (३) कठ उप., २.२.१२ (४) ऋक्:, १०.८१.३ (५) महानारा. उप., १४.१ (६) बृहद्. उप., ५.५.१ (७) मनु., १.८; तैत्ति. सं, ७.१.५.१ (८) ऋक्., १०.१२६.३ (९) ऐत. उप., १.१.३ (१०) ऋक्, १०.१२६.४; तैत्ति. ब्रा., २.४.१.१० (११) तैत्ति. उप., ब्रह्मा.६ (१२) तैत्ति. ब्रा. २.२.३.१४ (१३) प्रश्न उप., १.४ (१४) प्रत्यभिज्ञा., २ (१५) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, १.५.७ (१६) श्री अरविन्द, एस्सेज ऑन दि गीता, वाल्यू. १३, पृ. ५६७ (१७) तैत्ति. ब्रा., २.४.१.६ (१८) वही, भट्टभास्करमिश्र भाष्य (१९) ऐत. उप., १.१.१ (२०) ऋक्, १०.१२६.३ (२१) तैत्ति. उप., ब्रह्मा., ६ (२२) ऐत. उप., १.१.४ (२३) वही, १.३.२ (२४) ऋक्, १०.१२६.३ (२५) तैत्ति. उप., ब्रह्मा., ६ (२६) तैत्ति. ब्रा., २.२.६.५४ (२७) वही, २.८.६.७५; ऋक्, १०.१२६.४ (२८) ऐत. उप., २.२.१ (२९) मुण्डक उप., १.१.७ (३०) अथर्व., ४.१.७ (३१) मुण्डक उप., २.१.१० (३२) वही १.१.१ (३३) गीता, १०.८ (३४) वही, १०.३२ (३५) वही, १०.३ (३६) ऋक्., १०.८१.२ (३७) वही, १०.१२६.६; तैत्ति. ब्रा., २.८.६.७५ (३८) ऋक्., १०.१२६.७ (३९) ऋक्., १०.८१.४; तैत्ति. ब्रा., २.८.६.७६ (४०) तैत्ति. ब्रा., वही। (४१) वही, २.८.६.७७ (४२) वही। (४३) तैत्ति. ब्रा., २.८.६.७७, भट्टभास्करभाष्य (४४) वही, २.५.२.६ (४५) वही। (४६) तैत्ति. उप., ब्रह्मा. ७ (४७) परात्रिंशिका, २४ (४८) परमार्थ सार, पृ. ३६, योगराज द्वारा उद्धृत (४९) शिव सं., १.४६ (५०) जयरथ द्वारा उद्धृत, तन्त्रा., ८.२-३ (५१) स्वच्छन्द, ११.२५१ (५२) गीता, ८.१८ (५३) मुण्डक उप., १.१.७ (५४) बृहद. उप., २.१.२० (५५) मैत्री उप., ६.२२; ब्रह्म उप., ३ (५६) श्वेता. उप, ६.१६ (५७) श्वेता. उप. ६.१७

सृष्टि- एक का अनेकत्व

उसने (एक ने) चाहा, मैं बहुत हो जाऊँ।[१]

सृष्टि के आरम्भ में जो एक और अवर्ण (अरूप) था, वह अपनी शक्ति के योग से अनेक प्रकारों और अनेक रूपों को धारण करता है।[२]

वह विश्व-स्रष्टा अनेक रूप है।[३]

जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि से सहस्रों चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार उस 'अक्षर' से अनेक प्रकार के नाम-रूपादि (भावाः) उत्पन्न होते हैं।[४]

उस अनन्त ईश्वर का यह रूप भिन्न-सदृश होकर स्थित है।[५]

'आत्मा' ही कृमि, कीट, पशु-पक्षी, मानव हो जाता है। यह 'एक' है जो अन्तहीन नानाविधता में स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा है।[६]

यह तो स्पष्ट ही है कि इस सम्पूर्ण दृश्य जगत् के परोक्ष में कोई एक सत्ता है, एक पुरुष, एक आत्मा, एक चेतना, कोई एक देव जिसने अनेक रूपता में इस विश्व की सृष्टि की और जो अकेला ही इस विश्व को परिवेष्टित किये हुए हे- विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्।[७]

यह सम्पूर्ण जगत् उसी में आता और जाता है- यस्मिनिनदं सं च वि चैति सर्वम्।[८] वह ही विश्व का अधिपति है विश्वाधिपः[९] और यह सम्पूर्ण जगत् उसी के अवयवों से व्याप्त है- तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।[१०]

वह अग्नि है, आदित्य है, वायु और चन्द्रमा है। वह बीज है, ब्रह्म है, जल है और सब प्राणियों का पिता प्रजापति है।[११] वह एक बीज को बहुविध किस्मों में विकसित करता है- एकं बीजं बहुधा यः करोति।[१२] वह एक रूप को अनेक प्रकार कर देता है- एकं रूपं बहुधा यः करोति।[१३]

यह महात्मा देव विश्वकर्ता है- एष देवो विश्वकर्त्ता महात्मा।[१४]

उसी की महिमा से इस लोक में यह शाश्वत चक्र घूम रहा है- देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्।[१५]

यह प्रकृति और उसके ये अनन्त रूप उसी एक से निःसृत हैं। उसी से ये समुद्र, ये पर्वत हें। ये सर्वरूपा नदियाँ उसी से प्रवाहित होती हैं। उसी से यह समस्त वनस्पति जगत् है। वही वह रस है जिसके कारण यह अन्तरात्मा भौतिक तत्वों के साथ स्थित रहती है :

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठन्ते ह्यन्तरात्मा।।[१६]

उपनिषदों में इस एक की अनेकता का बहु प्रकार से कथन किया गया है। एक ओर यह अग्नि है, आदित्य है, वायु और चन्द्रमा है, शुक्र, ब्रह्म, जल और प्रजापति है[१७]- तद् अग्नि, तद् आदित्य अर्थात् 'तदेव' 'वह ही' यह सब है- इस प्रकार इन विशिष्ट रूपों में उस एक की सर्वरूपता को प्रकट किया गया है, तो साथ ही जीवन की अत्यन्त सामान्य अवस्थाओं को यह तू ही है- त्वम् असि इन वचनों से रेखांकित किया गया है :

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।।[१८]

लिंग और वय के भेद में वह है- अभेद रूप से। 'तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, कुमार और कुमारी भी तुम ही हो। तुम ही वह वृद्ध हो, जो लाठी की टेक से चलता है।' इन आत्मीय वचनों के उपरान्त उपनिषद् में पुनः वही एक निष्कर्ष है या सर्वोच्च सत्य का स्वीकार कि तुम ही उत्पन्न होने पर अनेक रूप 'विश्वतोमुख' हो जाते हो या जब तुम उत्पन्न होते हो तो यह विश्व तुम्हारी अनेकरूपता से भर जाता है।

क्योंकि अनादि यह एक ही सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है- अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे।[१९]

फिर भी इसकी कोई प्रतिमा नहीं है, न तो कोई प्रतिमान ही है- न तस्य प्रतिमा अस्ति।[२०]

अनन्त रूपों में अभिव्यक्त यह एक और अव्यक्त है- यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्[२१]

यदि हम तृण का, पर्ण का सूक्ष्मता से निरीक्षण करें और तब नक्षत्रों से व्याप्त आकाश का गहनता से अवलोकन करें तो उस एक उपस्थित के बोध को प्रत्यक्ष कर सकते हैं, क्योंकि वह 'एक' ही वस्तुओं का सत्य है और उसकी सर्वव्यापकता को विभाजित नहीं किया जा सकता। यह सर्वव्यापकता प्रतिरूपता में बहुधा होकर, विविध होकर प्रकट होती है, पर इसे खण्डित नहीं किया जा सकता।

उस एक से आकाश, द्यावा-पृथिवी आवृत हैं, येनावृतं खं च दिवं मही च।[२२]

इसी से यह जगत्, ये प्राणी उत्पन्न होते हैं और यह ही है जो वनस्पति, मनुष्य और पशुओं में तथा चराचर विश्व में प्रविष्ट होकर रहता है :

यतः प्रसूता जगतः प्रसूती ...।
यत औषधीभिः पुरुषान्पशूंश्च विवेश भूतानि चराचराणि।।[२३]

यह जगत् की नाभि के रूप में सर्व को धारण करता है- विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः।[२४]

उस एक दिव्य सत्ता ने अपनी शक्ति से इस नानात्मक जगत् की सृष्टि की है या कहना चाहिए कि अपनी ही अनन्त सत्ता में इसका प्रकाशन किया है।

श्री अरविन्द ने इस एक सत्ता और उसकी बहुविधता का व्यापक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वस्तुतः यह परात्पर सत्ता जिस प्रकार व्यक्ति में, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में स्वयं को अनेक विधता में अभिव्यक्त करती है। उनके शब्द हैं, ''सत्ता' एक है, पर यह अ-द्वितीयता अनन्त है और स्वयं में स्वयं की अनन्त बहुलता और विविधता है। 'एक' ही 'सर्व' है। यह केवल मुख्य या मूलभूत एक 'सत्ता' नहीं है बल्कि एक 'सर्व-सत्ता' है। 'एक' की अनन्त विविधता और 'अनेक' की शाश्वत एकता एक ही सत्य के दो रूप या दो यथार्थ हैं जो विश्व-सृष्टि का आधार हैं।'[२५]

श्री अरविन्द का कथन है, 'सृष्टि कुछ नहीं में से कुछ की निर्मिति नहीं है या एक में से दूसरी चीज़ का निकल आना, बल्कि यह ब्रह्मन् का आत्म-प्रक्षेपण है। यह सचेतन सत्ता का नाम और रूपों में आविर्भाव है।'[२६]

''उस 'एक' की अद्वितीयता 'विविधता' का गुह्य आधार है। यह 'एकत्व' है, जो विविधता को रचता और कायम रखता है।'[२७]

यह एक ही चिदात्मा है जो अनेक आभास रूपों में और भेदों में प्रकट होने में सक्षम है:

आभासभेदादेकत्र चिदात्मनि तु युज्यते।[२८]

यह एक ही सत्ता है जो स्वयं बिना किसी भेद या परिवर्तन के कालक्रम के अनेक क्रिया-रूपों में अभिव्यक्त होती है।[२९]

गीता में भगवान का विश्वरूप दर्शन उस परम एक की विश्वरूपता का सांगोपांग दर्शन है। अर्जुन उस अव्यय आत्म-रूप के दर्शन का आकांक्षी है, दर्शयात्मानमव्ययम्।[३०] भगवान एक स्थान पर, एक देह में इस सम्पूर्ण जगत्, चराचर विश्व को अर्जुन के लिए प्रकट करते हैं, इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे...।[३१] ये भगवान के ही रूप हैं, सैकड़ों, हज़ारों, नानाविध, दिव्य, नाना वर्ण और आकृतियों में, मे ...रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। नाना विधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।[३२] भगवान की एक सत्ता में अर्जनु अदृष्टपूर्व आश्चर्यों का दर्शन करता है। वह सर्वाश्चर्ययुक्त, अनन्त और विश्वतोमुखदेव की एकमेव विराट्ता में समस्त लोकों, देवों, तत्वों, जीवों, प्राणियों का साक्षात्कार करता है।

अर्जुन इस देवाधिदेव के शरीर में अनन्त रूपों में विद्यमान इस सम्पूर्ण विश्व का एक स्थल पर दर्शन करता है :

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।[३३]

अर्जुन के प्रति भगवान् के स्पष्ट वचन हैं कि मेरे विस्तार का कोई अन्त नहीं है, नास्ति अन्तो विस्तरस्य मे।[३४]

यह 'बहुधा', 'विविधा', अनन्तरूप विश्व, इसका सम्पूर्ण अनेकत्व और विस्तार उस एकमेवाद्वितीयम्[३५] में सन्निहित है। वह ही वस्तुओं का, लोकों का, प्राणियों का सत्य है, सारभूत सत्य और सबमें, सर्वत्र विद्यमान है। इस विश्व की प्रतीयमान अनेकरूपता में वह एक ही सद् है, जिसका विद्वान् अनेक रूपों में कथन करते हैं, एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।[३६]

उस पूर्ण ईश्वर से ही यह पूर्ण जगत् निःसृत होता है। वह पूर्ण ही इस पूर्ण जगत् का सृजन करता है :

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णः पूर्णेन सिच्यते।[३७]

वह 'एक' अपनी अद्वितीयता में पूर्ण है, यह जगत् अपनी विविध 'अनेकता' में पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण का आविर्भाव हुआ और तब भी जो शेष रहा, वह पूर्ण है :

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।[३८]

यह पूर्णत्व ही उस 'एक' और इस 'अनेक' का अन्तरतम सत्य है।

(१) सोऽकामयत। बहु स्याम्...। तैत्ति. उप., २.६ (२) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति। -श्वेता. उप., ४.१ (३) विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्। वही, ५.१३ (४) ...यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते ...। तथाक्षराद्विविधाः ...भावाः प्रजायन्ते ...।। -मुण्डक उप., २.१.१ (५) देवा मनुष्याः पशवः पक्षिवृक्षसरीसृपाः रूपमेतदनन्तस्य विष्णोर्भिन्नमिव स्थितम्।। -वि.पु., १.१६.४७ (६) श्री अरविन्द, दि लाइफ डिवाइन, वाल्यू. १८, पृ. ३४० (७) श्वेता. उप., ५.१३ (८) वही, ४.११ (९) वही, ४.१२, १५ (१०) वही, ४.१० (११) वही, ४.२ (१२) वही, ६.१२ (१३) कठ उप., ५.१२ (१४) श्वेता. उप., ४.१७ (१५) वही, उप., ६.१ (१६) मुण्डक उप., २.१.६ (१७) श्वेता. उप., ४.२ (१८) वही, ४.३ (१९) वही, ४.४ (२०) वही, ४.१६ (२१) महानारा. उप., १.५ (२२) वही, १.३ (२३) महानारा. उप. १.४ (२४) वही, १.६ (२५) श्री अरविन्द, दि लाइफ डिवाइन, वाल्यू. १६, पृ. ६६० (२६) वही, दि उपनिषद्स, वाल्यू. १२, पृ. ८० (२७) वही, पृ. ८१ (२८) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा. का., २.१६ (२९) वही, २.१८ (३०) गीता, ११.४ (३१) वही, ११.७ (३२) वही, ११.५ (३३) वही, ११.१३ (३४) वही, १०.१६ (३५) छान्दो, ६.२.१ (३६) ऋक्, १.१६४.४६; अथर्व., ९.१०.२८ (३७) अथर्व., १०.८.२६ (३८) ईशा. उप., आरम्भ।

भुवनानि विश्वा-लोकाः

आत्मा में ही सारे लोक हैं।[१]

ये लोक... यह सब यह आत्मा ही है।[२]

ये सारे भुवन उसी से उत्पन्न हुए हैं।[३]

वह ही लोक है।[४]

उसी में ये लोक और लोकवासी स्थित हैं।[५]

इस संसाररूपी अश्वत्थ-वृक्ष का मूल ऊपर की ओर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं। यह सनातन है।[६]

ब्रह्मा आदि पक्षियों ने इस वृक्ष पर सत्य आदि सात लोकों के घोंसले बना रखे हैं।[७]

भुवन, लोक, धाम आदि शब्दों की बहुवचनात्मकता से यह प्रकट होता है कि ये अनेक हैं और इनकी समष्टि ही यह विश्व या जगत् है। उपनिषदों में इन लोकों को विशेषार्थ रूप से तीन एवं सात की संख्या में स्वीकार किया गया है- जैसे 'त्रिदिवे'[८] त्रय इमे लोकाः[९], त्रींल्लोकान्[१०], त्रिभिर्लोकैः[११], इम

एव त्रयो लोकाः[१२], त्रिषु लोकेषु[१३] तथा सप्त इमेलोकाः[१४] आदि। आठ लोकों- अष्टौ लोकाः[१५] का उल्लेख भी है। अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ संख्या का उल्लेख नहीं है, पर इनकी अनेकता का कथन किया गया है, जैसे इमे लोकाः[१६], सर्वान् लोकान्[१७], इमान् लोकान्[१८], सर्वेषु लोकेषु[१९], ते लोकाः[२०] तथा सर्वेलोकाः[२१] आदि।

पुराणों में चौदह भुवनों का वर्णन भी है और सामान्य रूप से भी इनका कथन किया जाता है। पृथ्वी- 'भूः' के ऊपर छह लोक हैं- भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक- अर्थात् भूसहित सात लोक। पृथ्वी से नीचे सात लोक हैं- पाताल, रसातल, महातल, तलातल, सुतल, वितल और अतल। इस प्रकार सत्यलोक से लेकर अतल तक चौदह भुवनों की गणना पूरी होती है।

अन्यत्र उपनिषद् में 'ब्रह्माण्ड' के रूप में चौदह भुवनों में से ऊपर के सात लोकों का क्रम यथावत् है, पर नीचे के सात लोकों के क्रम में अन्तर है। यथा-

भूर्लोकभुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनलोकतपोलोकसत्यलोकं
चातलपातालवितलसुतलरसातलतलातलमहातलब्रह्माण्डम्।।[२२]

सुबाल उपनिषद् में प्रश्नोत्तर के रूप में इन लोकों का तात्त्विक वर्णन प्राप्त होता है। प्रश्न रैक्व के हैं। उत्तर सम्भवतः घोर अंगिरा के हैं, क्योंकि इसी उपनिषद् में यह कथन उपलब्ध है कि यह 'विद्या' घोर अंगिरा ने रैक्व को प्रदान की थी, एतां विद्यां ...घोराङ्गिरा रैक्वाय ददौ।[२३]

प्रश्नोत्तरों के रूप में इन लोकों का क्रमिक वर्णन इस प्रकार है-

तब रैक्व ने प्रश्न किया, 'भगवन्, ये सब (लोक) किसमें प्रतिष्ठित हैं',

कस्मिन् सर्वे प्रतिष्ठिता भवन्तीति?

उन्होंने उत्तर दिया, रसातल लोकों में- रसातल-लोकेषु।

पुनः प्रश्न था, 'रसातल लोक किसमें ओत-प्रोत हैं- कस्मिन् रसातल लोका ओताश्च प्रोताश्च?

उत्तर था- भूः लोकेषु।

भूलोक किसमें ओतप्रोत हैं- कस्मिन् भूः लोका ओताश्च प्रोताश्च?

भुवर्लोकेषु।

भुवः लोक किसमें ओत-प्रोत हैं- कस्मिन् भुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्च?

सुवर्लोकेषु।

कस्मिन् सुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्च?

महर्लोकेषु।

कस्मिन् महर्लोका ओताश्च प्रोताश्च?

जनोलोकेषु।

कस्मिन् जनोलोका ...?

तपोलोकेषु।

कस्मिन् तपोलोका ...?

सत्यलोकेषु।

कस्मिन् सत्यलोका ...?

प्रजापतिलोकेषु ...?

कस्मिन् प्रजापतिलोका ...?

ब्रह्मलोकेषु।

कस्मिन् ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च?

तब आधारभूत उत्तर है कि सब लोक आत्मा में, ब्रह्म में मणियों के समान गुँथे हुए हैं- सर्वलोका आत्मनि ब्रह्मणि मणय इवौताश्च प्रोताश्चेति।[२४]

गीता में भी मणिः सूत्रं इवात्मनि[२५] तथा अन्यत्र भी मणौ सूत्रमिवात्मनि[२६] उल्लेख प्राप्त होता है।

हर लोक की बहुवचनात्मकता इस तथ्य की परिचायक है कि हर लोक-सृष्टि अनेक अथवा असंख्य होकर विद्यमान है। ये सभी लोक परस्पर संयुक्त हैं और आत्मा अथवा ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, सप्तर्षि तथा शुक्र, बुध, अंगारक, बृहस्पति, शनि आदि 'ज्योतिश्चक्र' कहलाते हैं।[२७] इनके साथ अट्ठाईस नरक लोकों का कथन भी है।[२८]

उपनिषद् में भूः, भुवः, स्वः, महः आदि लोकों का वर्णन इस रूप में किया गया है-

'भूः' यह लोक है- भूरिति वा अयं लोकः।
'भुवः' अन्तरिक्ष है- भुव इत्यन्तरिक्षम्।
'सुवः' दूसरा लोक है- सुवरित्यसौ लोकः।
'महः' सूर्य लोक है- मह इत्यादित्यः।

और तब यह निष्कर्ष है कि आदित्य से ही सारे लोक वृद्धि को प्राप्त होते हैं- आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते।[२९]

वैदिक ऋचाओं की व्याख्या में श्री अरविन्द अग्नि के लिए प्रयुक्त विशेषण 'जातवेदाः' शब्द का अर्थ 'जन्मों और लोकों का ज्ञाता' रूप में करते हैं। उनका कथन है कि जहाँ अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द शक्तियाँ संचरण करती हैं- वे पाँच लोक- भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः हैं।[३०]

वैदिक अवधारणा में यह जगत् सात वर्गों में विभाजित है। यह एक ऐसा चक्रीय रथ है जो सात

घटकों से युक्त है- सप्त युंजन्ति रथमेकचक्रम्।[३१] साथ ही यह कथन भी है कि रथ में सात चक्र हैं, जिसे सात अश्व वहन करते हैं- सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।[३२]

परमेश्वर ने पृथ्वी से लेकर सप्तधाम पर्यन्त इस जगत् को रचा- अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्याः सप्त धामभिः।[३३]

महर्षि दयानन्द ने सप्त धामभिः की व्याख्या पृथिवी जलाग्निवायुविराट्परमाणु प्रकृति आदि सप्तभिः पदार्थैः के रूप में की है।

वह एक ईश सातों लोकों को व्याप्त करता है- सप्त धामानि परियत्।[३४]

ये सातों लोक परस्पर संवाद और सामंजस्यपूर्ण हैं- सात बहनों की तरह परस्पर मैत्रीपूर्ण- सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त।[३५]

'वैदिक सृष्टि विज्ञान' ग्रन्थ में सात लोक या धामों में विभाजित इस विश्व का इस प्रकार कथन किया गया है- 'जगत् सात वर्गों में विभाजित है- पंच महाभूत- पृथ्वी (ठोस अवस्था), जल (द्रव अवस्था), वायु (गैसीय अवस्था), अग्नि (ऊर्जा, प्रकाश, ताप, विद्युत्), आकाश (सर्वव्यापक माध्यम, सर्वव्यापी कॉस्मिक विकिरण), दिक् (अन्तरिक्ष लोकों के बीच का स्थान), काल (समय-सृष्टिकाल)। . ..मूल भौतिक सत्ता अविनाशी एवं नित्य है तथा ईश्वर ने इसी मूल शक्ति को जगत् रूप में व्यवस्थित किया है।'[३६]

वस्तुतः ये लोक चेतना के ही विभिन्न स्तर हैं जो एक ही आत्मा या एक ही देव में अधिष्ठित हैं- यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः।[३७] तथा उसी से उत्पन्न भी होते हैं- एतस्मादात्मनः सर्वे लोकाः ... व्युच्चरन्ति।[३८] यह आत्मा ही समस्त प्राणियों का लोक है- अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः[३९] या इस आत्मलोक की ही उपासना करनी चाहिए- आत्मानमेव लोकमुपासीत[४०]।

चेतना-स्तर की विभिन्नता के कारण ही इन लोकों को ऊर्ध्व और अधोमुख कहा गया है- लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च।[४१] इसी अर्थ में इस विश्व-वृक्ष की शाखाओं को ऊपर और नीचे फैला हुआ कहा गया है- अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा।[४२]

इस विराट पुरुष की देह के विभिन्न अंगों के रूप में इन लोकों की परिकल्पना की गयी है:

भूर्लोकः पदयो तस्य
भुवर्लोकस्तु जानुनि
सुवर्लोकः कटिदेशे
नाभिदेशे महर्जगत्
जनोलोकस्तु हृद्देशे
कण्ठे लोकस्तपस्ततः
भुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थिताः।।[४३]

आत्मा ही 'परम लोक' है। यह ही मनुष्य की परम गति, परम सम्पदा, परम आनन्द है- एषोऽस्य परमो लोक ...।[४४] यह मन है- उसकी संकल्प-विकल्पात्मक गति जो चेतना की परम स्थिति को अनेक लोक-स्तरों में विभक्त कर देती है। इसलिए एक विशेष चेतना-स्तर के रूप में मनोलोक का कथन है- मनो हि लोकः[४५] तथा चित्त से उपचित हुए लोकों का कथन है- चित्तान् वै स लोकान्।[४६]

उपनिषदों में इस प्रकार के उल्लेख प्रायः देखे जा सकते हैं कि संकल्प के अनुरूप लोक की प्राप्ति होती है- यथा संकल्पितं लोकं[४७], पुण्य से पुण्यलोक की प्राप्ति होती है- पुण्येन पुण्यं लोकं... [४८] और पाप से पाप लोक की- पापेन पापं।[४९] और सत्त्व गुण के प्रवृद्ध होने पर अमल लोकों की प्राप्ति होती है- लोकानमलान्प्रतिपद्यते।[५०]

शुद्ध सत्त्व मनुष्य जिस लोक को भी अपने मन से उद्भासित करता है, वह उस लोक को जय कर लेता है:

यं यं लोकं मनसा संविभाति ...तं तं लोकं जयते ...।[५१]

ये लोक कर्म से प्राप्त हैं- कर्मों ने इनकी रचना की है- लोकान्तर्मचितान्।[५२]

कर्म के परिणामस्वरूप उपनिषदों में 'अन्धतमिस्र' और 'हीनतर लोकों' का उल्लेख भी है:

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ...।[५३]

तथा

लोकं हीनतरं चाविशन्ति।[५४]

जब मनुष्य की चेतना विकास को प्राप्त होती है, तब वह क्रमशः उत्तरोत्तर गति करता हुआ ऊर्ध्व तथा ऊर्ध्वतर लोकों में संचरण करता है- 'उपरि उपरि लोकेषु चरति।'[५५]

श्रेष्ठ लोकों को अनेक नामों से अभिहित किया गया है। जैसे, स्वर्गलोक[५६], देवलोक[५७], अमृतलोक[५८], सुवर्ग लोक[५९], प्रजापति लोक[६०], अनन्त लोक[६१] आदि।

आनन्दमीमांसा में आनन्द के क्रमशः ऊर्ध्वतर, प्रवृद्ध, पवित्र-प्रगाढ़तर और विकसित स्तरों के उल्लेख से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विभिन्न लोक चेतना के ही विभिन्न स्तर हैं। श्रेष्ठ श्रोत्रिय मनुष्य से लेकर ब्रह्मपर्यन्त आनन्द के स्तरों को हम मनुष्य, गन्धर्व, देवगन्धर्व, पितृ, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, ब्रह्मस्तरों से अभिहित कर सकते हैं।[६२]

वस्तुतः चेतना जब तक आत्मा या ब्रह्मलोक तक नहीं पहुँचती, तब तक उसके अन्दर संसार-वृक्ष जीवित रहता है- जन्म-मृत्यु का क्रम, आवागमन, पुनरावर्तन बना रहता है:

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः।[६३]

आब्रह्मभुवनपर्यन्त सभी लोक पुनरावर्ती हैं। ...

वास्तव में यह ब्रह्म ही है जो अमृत है, दीप्ति है। वह ही पथ और वह ही लक्ष्यरूप लोक है-

सा गतिः लोक एव सः।[६४]

यह ब्रह्मलोक है जिसे वे प्राप्त करते हैं, जिनमें तप, ब्रह्मचर्य और सत्य प्रतिष्ठित हैं- तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।[६५]

अब एक अन्य दृष्टि से चेतना के भूः, भुवः आदि सात स्तरों का उल्लेख और संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। ये सप्त लोक- सप्त इमे लोका[६६] परा एवं अपरा सृष्टि के सात स्तर हैं।

आत्मा, चैतन्य या परम सत्ता एक एवं अविभक्त है, किन्तु अपनी अवरोहणशील एवं आरोहणशील गति में इन सात सोपानों अथवा सात अनुक्रम-श्रेणियों का निर्माण करती है। इनमें सत्, चित्, आनन्द- 'ये पहले तीन सोपान मौलिक एवं आधारभूत हैं। ये आत्मिक सत्य के प्रकट परम स्तर हैं, जहाँ सत्, चित्, आनन्द का एकत्व, शक्ति एवं आनन्द है।'[६७]

ये तीनों तत्त्व 'ऊर्ध्व गोलार्ध' का निर्माण करते हैं। श्री अरविन्द ने औपनिषदीय प्रज्ञान के अनुरूप इसे 'परार्ध' सृष्टि की संज्ञा दी है। शंकराचार्य उपनिषद् में उल्लिखित परमे परार्धे[६८] शब्द की व्याख्या हृदय-आकाश - परमे परार्धे हार्दाकाशे[६९] के रूप में करते हैं। अन्यत्र भी इस परार्ध को द्युलोक के परार्ध में- दिव परे अर्धे[७०] निरूपित किया गया है। शंकराचार्य की व्याख्या है कि द्युलोक अर्थात् अन्तरिक्ष से परे ऊपर के तीसरे स्वर्ग लोक में द्युलोकात्पर ऊर्ध्वेऽर्धे स्थाने तृतीयस्यां दिवीत्यर्थः ...।[७१]

अपने निरूपण में श्री अरविन्द के शब्द हैं- 'सत्य' चेतना का चौथा स्तर विज्ञान है जो इन तीन के साथ संयुक्त है। यह अनन्त विविधता में एकत्व को प्रकट करता है। सत्-चित्-आनन्द एवं विज्ञान की चतुष्क शक्ति ही आत्मा के शाश्वत ज्ञान पर स्थित सृष्टि के परार्ध का निर्माण करती है।'[७२]

ये ही चार- सत्यः, तपः, जनः, महः - लोक हैं।

सृष्टि के तीन अन्य स्तर या लोक निम्न गोलार्ध की रचना करते हैं। यह 'अपरार्ध' सृष्टि है।

ये मन, प्राण, शरीर के लोक हैं- स्वः, भुवः, भूः।

विज्ञानमय लोक 'परार्ध' के वैशिष्ट्य से युक्त होने पर भी परार्ध एवं अपरार्ध इन दो सृष्टियों के बीच का संयोजक जोड़ है। विज्ञानमय लोक की चेतना सत्-चित्-आनन्द एवं शरीर, प्राण, मन के बीच कड़ी का कार्य करती है।

परार्ध लोकों की चेतना अपरार्ध लोकों की धूमावृत चेतना पर नित्य एक प्रकाशमय दबाव की तरह बनी रहती है कि वह अपने शुद्धतम रूप में अवस्थित उद्गम-स्थल की ओर लौट सके। यही दबाव चेतना के हर स्तर पर विद्यमान है, जो विकास को गति प्रदान करता है। 'परार्ध' सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय सृष्टि का, समस्त भुवनों और लोकों का आधार है।

तन्त्रागम में परार्ध और अपरार्ध लोक-सृष्टियों का शुद्ध अध्वा, अशुद्ध अध्वा के रूप में उल्लेख है। परम चेतना (चितिः) अपने अवरोहण-क्रम मे इन लोकों का निर्माण करती है और आरोहण-क्रम

में इनका विलय करती हुई परम शुद्ध चेतना-स्तर तक पहुँचती है। सदाशिव से भूमि-पर्यन्त ये समस्त तत्त्व एक ही चेतना के विभिन्न लोक-स्तर हैं।

(१) आत्मनि सर्वे लोकाः। बृहद. उप., २.५.१५ (२) इमे लोकाः ...इदं सर्वं यदयमात्मा। वही, ४.५.७ (३) यतो जातानि भुवनानि विश्वा। श्वेतारु उप., ४.४ (४) लोक एव सः। मैत्री उप., ६.२४ (५) यस्मिंल्लोका निहिता लोकिनश्च। मुण्डक उप., २.२.२/तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे ...। कठ उप., २.३१ (६) ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। वही (७) सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादि भूतपक्षिकृतनीडः। वही, शंकरभाष्य (८) प्रश्न उप, २.१३ (९) छान्दो., उप., २.१२.१ (१०) वही। (११) बृहद. उप., १.३.२२ (१२) वही, ३.९.८ (१३) वही, ५.१४.१ (१४) मुण्डक उप., २.१.८ (१५) बृहद. उप., ३.९.२६ (१६) वही, २.४.६ (१७) श्वेता. उप., ३.१; छान्दो. उप., ८.७.१ (१८) बृहद. उप., ५.४.१ (१९) छान्दो. उप., ५.३.७; ५.१८.१ (२०) बृहद. उप., ४.४.११ (२१) वही, २.१५.१ (२२) आरुणिक उप., ७ (२३) सुबाल उप., ७.१ (२४) सुबाल उप., १०.१ (२५) गीता, ७.७ (२६) ध्यानबिन्दु उप., ६ (२७) वेत्तम मणि, पुराणिक एन्साइक्लोपीडिया, पृ. ४५६ (२८) वि.पु, अं., १ (२९) तैत्ति. उप., शिक्षा., ५ (३०) श्री अरविन्द, दि सीक्रेट ऑफ दि वेद, वाल्यू. १०, पृ. २७१, पादटिप्पणी (३१) ऋक्., १.१६४.२; अथर्व., ९.९.२ (३२) वही, १.१६४.३; अथर्व., ९.९.३ (३३) ऋक्., १.२२.१६ (३४) वही, १०.१२२.३ (३५) ऋक्., १.१६४.३; अथर्व., ९.९.२ (३६) भावना शर्मा, वैदिक सृष्टि विज्ञान, पृ. १७९ (३७) श्वेता. उप., ४.१३ (३८) बृहद. उप., २.१.२० (३९) वही, १.४.१६ (४०) वही, १.४.१५ (४१) छान्दो. उप., २.२.३ (४२) गीता, १५.२ (४३) नादबिन्दु उप., ३.४ (४४) बृहद. उप., ४.३.३२; ४.३.२० (४५) छान्दो. उप., ७.३.१ (४६) वही, ७.५.३ (४७) प्रश्न उप., ३.१० (४८) वही, ३.७; महानारा. उप., ५.९; छान्दो. उप, ५.१०.१० (४९) प्रश्न उप., ३.७ (५०) गीता, १४.१४ (५१) मुण्डक उप., ३.१.१० (५२) वही, १.२.१२ (५३) ईश उप., ३ (५४) मुण्डक उप., १.२.१० (५५) मैत्री उप., ४.६ (५६) छान्दो. उप., ३.१३.१६; कठ उप., १.१.१२ (५७) बृहद. उप., १.५.१६ (५८) आत्मप्रबोध उप., १ (५९) महानारा. उप., २२.१ (६०) आरुणेय उप., १ (६१) कठ उप., १.१.१४ (६२) तैत्ति. उप., ब्रह्मा. ८ (६३) गीता, ८.१६ (६४) मैत्री उप., ६.२४ (६५) प्रश्न उप., १.१५ (६६) मुण्डक उप., २.१.८ (६७) श्री अरविन्द, दि लाइफ डिवाइन, वाल्यू. १९, पृ. ६६२-६६३ (६८) कठ उप., १.३.१ (६९) वही, शंकरभाष्य (७०) प्रश्न उप., १.११ (७१) वही, शंकरभाष्य (७२) श्री अरविन्द, दि लाइफ डिवाइन, वाल्यू. १९, पृ. ६६२.६६३

मनुष्य लोक- पृथिवी

यह पृथ्वी धात्री, विधात्री और सबकी आधारभूता है।[१]

यह पृथ्वी पूषा है, क्योंकि सबका पोषण करती है।[२]

यह पृथ्वी रस और गन्ध से पूर्ण है।[३]

पृथ्वी समस्त रत्नों से पूर्ण है।[४]

पृथ्वी विस्तारयुक्त है, माता है। यह विश्व को धारण करती है।[५]

पृथ्वी इन चराचर प्राणियों का रस है।[६]

पृथ्वी विकास की भूमि है, जहाँ समस्त शक्तियाँ मिलती हैं और प्रकट होना चाहती हैं।[७]

मनुष्य-लोक यह पृथिवी है- भूलोक, जिसे मर्त्यलोक, जीवलोक आदि संज्ञाओं से भी अभिहित किया जाता है। उपनिषद् में इसे देवलोक, पितृलोक आदि की तुलना में अधोवर्ती-सा स्वीकार किया गया है- अध इव हि मनुष्यलोकः।[८] गीता में इसके लिए नर लोक 'नृलोक'[९] संज्ञा भी है।

यह संसार है, जो निरन्तर संसरणशील है। यहाँ जन्म है, जीवन है, मृत्यु है। आवागमन और परिवर्तन है। इस लोक को कर्मप्रधान- अयं हि लोकः कर्मप्रधानः[१०] माना गया है क्योंकि उस लोक से मनुष्य इस लोक में कर्म के लिए लौटता है- तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण इति।[११]

यह लोक कर्मबन्धनमय है- लोकोऽयं कर्मबन्धनः।[१२]

यह वह लोक है, जहाँ कर्म-बन्ध उत्पन्न करने वाली जड़ें फैली हुई हैं:

अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोकेः।[१३]

पर यह कर्मभूमि-कर्महीन्[१४] यज्ञरूप ही है, अर्थात् उत्तम कर्म की परिचायक। ईश्वर ने इसी यज्ञरूप कर्म के लिए इस विशाल लोक का निर्माण किया था:

उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं ...।[१५]

यह मनुष्य-लोक है जहाँ मनुष्य कर्म के द्वारा शीघ्र ही सिद्धि अर्थात् उत्कर्ष प्राप्त करता है:

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।[१६]

यही वह लोक है जहाँ मनुष्य की श्रेष्ठ सन्तानें ज्ञान को प्राप्त कर शुभ कर्मों के फलरूप पुण्य-लोक में गमन करती हैं:

इयं मही प्रति गृह्णतु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना।

अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्।।[१७]

यह भूलोक, यह धरा असंख्य ग्रहों के मध्य एक ऐसी प्रयोगशाला है, जहाँ मनुष्य अपने कर्म और चिन्तन के द्वारा अपने शरीर और दैनिक जीवन में रूपान्तरण को क्रियान्वित करता है। जहाँ ईश्वर अनेक विरोधों, द्वन्द्वों और विसंगतियों के बीच मनुष्य के प्रतिमान के रूप में मूर्तित और अवतरित होता है- सोऽवतीर्णो महीतले।[१८]

यह वह धरा है जहाँ मनुष्य अन्धकार में प्रकाश, क्षुद्रत्व में बृहत्, मृत्यु में अमरत्व और हर अल्पता में पूर्णता को प्राप्त करना चाहता है। जहाँ वह असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर जाने की अभ्यर्थना करता है:

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय।[१९]

'ऋग्वेद की ऋचाएँ विद्वान् के लिए 'मनुष्य-लोक' का पथ प्रशस्त करती हैं। वहाँ वह तप से, ब्रह्मचर्य से, श्रद्धा से सम्पन्न होकर महिमा का अनुभव करता है':

तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते, स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।[२०]

असंख्य एवं असंख्यविध क्षुद्र एवं विशाल प्राणियों का आवास है यह भूमण्डल- जलचर, भूचर, नभचर- कोटि-कोटि प्राणियों से भरा हुआ। पर प्राचीन वाङ्मय में यह स्पष्ट उल्लेख हे कि ईश्वर (विष्णु) ने मनुष्य को आवास-स्थान प्रदान करने की इच्छा से इस भू को विस्तीर्ण कियाः

विचक्रमे पृथिवीमेष एताम्। श्रेयाय विष्णु मनुषे दशस्यन्।[२१]

मनुषे दशस्या।[२२]

ईश्वर ने धर्मयुक्त कर्म, गुण और स्वभाववाले मनुष्यों के लिए यह भूमि दी थीः

अहं भूमिमददामार्य्याय।[२३]

'पृथिवी' शब्द विस्तारसूचक भी है।

'भूमि' और 'पृथिवी' शब्द का अर्थ करते हुए ब्राह्मण में कथन है कि यह धरा प्रतिष्ठित हो गयी- 'अभूद्' इसलिए इसका नाम 'भूमि' हुआ। यह फैल गयी- 'अप्रथयत्' अतः इसका नाम 'पृथिवी' हुआ।

अभूद्वाऽइयं प्रतिष्ठेति। तत् भूमिरभवत्तामप्रथयत्सा पृथिव्यभवत् ...।[२४]

भूमि की विस्तीर्णता पृथिवी है- तत्पृथिवीमप्रथयः[२५]

भूमि के विस्तारसूचक विशेषण के रूप में भी पृथिवी शब्द का प्रयोग किया गया है- जैसे मेघ से विस्तीर्ण भूमि- अभ्रेण पृथिवीं भूमिं ...।[२६]

विस्तार के अर्थ में यह पृथिवी है और माता है- मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम्।[२७]

इस रूप में यह 'महाभूमि'[२८] तथा महद् आयतन है- भूमेर्महदायतनम्।[२९]

पृथिवी की 'स्थिति' के विषय में यह उल्लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है- 'ब्रह्माण्ड सात कोशों से निर्मित है और हर कोश पहले कोश से निःसृत है। सातवाँ कोश जो इस क्रम से प्रथम कोश से निःसृत हुआ है, अन्य छहों कोशों से विस्फोटित होकर चारों ओर अनेक दूरियों में विस्तृत है। यदि ब्रह्माण्ड को अनुलम्ब काट दें तो अत्यन्त अभ्यन्तर में पृथिवी है।'[३०]

तन्त्रागम में पृथिवी को परम चेतना का संहत रूप तथा अवरोहण-क्रम का अन्तिम और ठोस छत्तीसवाँ तत्व स्वीकार किया गया है। यही पृथिवी मनुष्य के प्राणशरीर में मूलाधार है, ऊर्ध्वतर लोकों की पीठिका।

धरातत्व की व्याख्या करते हुए तन्त्रागम के विद्वान् परमहंस का कथन है- 'धरा सृष्टि का अन्तिम तत्व है। शिवरूप 'तत्' का भाव ही तत्व कहलाता है। जब हम किसी को 'तत्व' की संज्ञा प्रदान

करते हैं तो उससे यह आगमिक अर्थ भी निकलता है कि वह शिव का ही प्रकाश है, जो इस रूप में प्रकाशित है। धरा को जब हम 'तत्व' कहते हैं तो यह मानकर कहते हैं कि यह उसी परम शिव का अविभाग प्रकाश धरा के रूप में प्रकाशमान हो रहा है। यह भी ब्रह्म है। निखिल तत्वों को बृंहित करने वाला धरातत्व ब्रह्म है'[३१] :

धरातत्त्वाविभेदेन यः प्रकाशः प्रकाशते।

स एव शिवनाथोऽत्र पृथिवी ब्रह्म तन्मतम्।।[३२]

वेदों में तीन पृथिवी या तीन प्रकार की पृथिवी का उल्लेख है- तिस्त्रः पृथिवीः।[३३]

इन तीनों पृथिवियों में जो श्रेष्ठतम है, वह हमारा भूलोक है :

इमा यास्तिस्त्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।[३४]

वेदों में अनेक स्थलों पर 'द्यावापृथिवी' का संयुक्त रूप से उल्लेख हुआ है :

मही द्यावापृथिवी[३५]

प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी[३६]

यह सूर्य है, जो उषा-काल में द्यावापृथिवी को अपने प्रकाश से भर देता है :

यथेमे द्यावापृथिवी सद्य पर्येति सूर्यः।[३७]

सूर्य के प्रकाश का उल्लेख पृथिवी एवं भूमितल के संयुक्तीकरण के साथ भी हुआ है :

मित्रः संसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह।[३८]

कुछ टीकाकार यहाँ 'पृथिवी' को 'द्यौ' रूप में स्वीकार करते हैं। तदनुसार अर्थ हुआ कि सूर्य ने अपनी ज्योति से द्यावा-पृथिवी को एक कर दिया या जोड़ दिया।

यह वाक्य कि प्रजापति ने प्रजाओं को रचकर उन्हें द्यावा पृथिवी के बीच भर दिया- प्रजापतिर्वै प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णात्[३९] द्यावापृथिवी के नित्य संयोग और सह-अस्तित्व का सूचक है।

सभी शास्त्र-ग्रन्थों में इस भूलोक के सुन्दर रूपात्मक चित्र प्राप्त होते हैं। यह ससागरा धरा 'सप्तद्वीपवती'[४०] है। इसे धेनु, धरित्री, लोकधारिणी कहा गया है:

भूमिर्धेनुर्धरित्री च धरणी लोकधारिणी।[४१]

यह पृथिवी धन-धान्य से पूर्ण है- इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां।[४२] यह बलवती, प्रसिद्ध और धनानां नेत्री है- सेना ह नाम पृथिवी धनंजया ...।[४३]

यहाँ अन्न की बहुलता है। यहाँ अनेक मनुष्य हैं और अनेक अन्यजीव भी :

अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम्।[४४]

पृथिवी नित्य, स्थिर और दृढ़ है- ध्रुवा पृथिवी।[४५]

इसे शतर्चसं महित्वा भी कहा गया है। इसकी व्याख्या करते हुए भट्ट भास्कर का कथन है- शतविधगतियुक्तामेतां पृथिवीम्।[४६]

इस प्रकार स्थिति और गति दोनों रूपों में पृथिवी का उल्लेख है।

वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध पृथिवी के साथ संयुक्त, पृथिवी के स्तोत्रों से पूर्ण ऋचाएँ यह उद्घोष करती हैं कि यह भूमि हमारी माता है और इसका पार्थिव-सा प्रतीत होनेवाला यह रूप अपनी दिव्यता से, अपनी सम्पदाओं की बहुलता से और जीवनी-शक्ति से परिपूर्ण अपने धनधान्य एवं रस से हमें भरण-पोषण और रक्षण प्रदान करता है।

अथर्ववेद के 'पृथिवी सूक्त' (१२.१) के तिरेसठ मन्त्रों में पृथिवी के बाह्य और आन्तरिक अनेक रूपों की उदात्त, सौन्दर्यबोधक एवं काव्यात्मक परिकल्पनाएँ हैं, जो मनुष्य के दैनिक जीवन के यथार्थ और आन्तरिक जीवन के उत्थान से जुड़ी हुई हैं। इस सूक्त का संक्षिप्त अध्ययन हमें इस सम्बन्ध के प्रति प्रबुद्ध कर सकेगा, जो मनुष्य मात्र का इस धरा से है। प्रायः उद्धृत ऋषि की यह वाणी- माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः[४७] हमारे जीवन का, उसकी चरितार्थता का सत्य है।

अब हम इस सूक्त के संक्षिप्त परिशीलन से अपनी इस धरा के रूप एवं स्वरूपगत सौन्दर्य और वैशिष्ट्य को जानने का प्रयत्न करेंगे।

यह पृथिवी विश्वम्भरा है, धन-धान्य का आगार वसुधानी[४८], सुनहरे वक्षवाली- हिरण्यवक्षा।[४९] यहाँ समुद्र, नदी-निर्झरों के रूप में जल की धाराएँ हैं,[५०] अरण्य और हिमाच्छादित पर्वत हैं।[५१] यह धरा औषधियों की माता है, दृढ़ और विस्तृत है। और तब एक लाक्षणिक कथन है कि यह धर्म से धारण की गयी है :

मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।[५२]

इस पृथिवी पर दूध की बहुल धाराएँ हैं- सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहाम्।[५३] यह हमारी भूमि मुझे माता के समान दुग्धपान कराए- सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।[५४]

पृथिवी के साथ अपने चिरन्तन सम्बन्ध को मनुष्य अनेक रूपों में अनुभव करता है। पृथिवी गन्धमयी है। मनुष्य का आग्रह है- हे पृथिवी, तुझसे जो सुगन्ध उठती है, तेरी वनस्पतियों से, तेरे जलों से, उससे तू मुझे सुगन्धित कर :

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।

...तेन मा सुरभिं कृणु ...।।[५५]

इस पृथिवी पर अन्न की शक्ति से मर्त्य मनुष्य जीवित रहते हैं- भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।[५६]

यह पृथिवी नाना वीर्यपूर्ण औषधियों को धारण करती है- नानावीर्या औषधीर्या बिभर्ति पृथिवी. ..।[५७]

इस पृथिवी की सुगन्ध कमल पुष्पों में प्रविष्ट होकर भर गयी है, उसे उषा-काल में वायु आदि अमर्त्य देव धारण करते हैं।[५८] यह पृथिवी चट्टानों, पाषाणों और धूलि से निर्मित है।[५९] इसके तल पर वृक्ष, वनस्पतियाँ दृढ़ होकर खड़े रहते हैं, यह पृथिवी सबका आधार है- पृथिवीं विश्वधायसं[६०] उससे प्रार्थना है कि हमसे कोई द्वेष न करे- मा नो द्विक्षत कश्चन।[६१]

इस पृथिवी पर अनेक ऋतुएँ हैं, दिन और रात हैं।[६२]

यह पृथिवी परिक्रमणशील है और सूर्य के साथ सामंजस्यपूर्ण है- संविदाना दिवा।[६३]

मनुष्य की प्रार्थना है, हे माता, तुम मुझे कल्याण रूप से सुप्रतिष्ठित करो- भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।[६४]

'हमारी सन्तानें तुम्हारी गोद में रोगरहित रहकर वृद्धि को प्राप्त हों' और हम जागृत प्रबुद्ध रहकर तुम्हारे लिए अपना सब कुछ अर्पित कर दें:

प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।[६५]

एक ओर यह समर्पण है, दूसरी ओर मनुष्य अपनी इस ऐश्वर्यमयी माता से धन-धान्य, अन्न-जल, दुग्ध, मणि-रत्न, स्वर्ण विपुलता में चाहता है :

भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह।[६६]

मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।[६७]

पृथिवी पर अनेक पथ हैं, उन पर सज्जन और दुर्जन सभी तरह के लोग रथ आदि से यात्रा करते हैं। मनुष्य की प्रार्थना है कि इन रास्तों पर हमें कोई शत्रु या तस्कर न मिले। जो कुछ मंगलकारी है, वह हमें प्रदान कर- यच्छिवं तेन नो मृड।[६८]

एक मन्त्र में इस पृथिवी के विश्वमाता रूप की अभिव्यंजना है कि कैसे यह पृथिवी अनेक भाषा बोलनेवाले और अनेक धर्मों के लोगों को समान गृह में वास कर रहे प्राणियों की तरह धारण करती है :

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।[६९]

अग्नि इस पृथिवी का अधिपति देता है, मनुष्य उसके लिए हवि अर्पण करता है- पृथिव्यै .. .अग्नयेऽधिपतये स्वाहा।[७०]

अग्नि अन्तःगर्भा रूप से इस पृथिवी में, वनस्पतियों, जलों और पाषाणों में, मनुष्यों और पशुओं में विद्यमान है। मनुष्य अग्नि प्रज्वलित करते हैं। वे घृतप्रिय हैं और हवि के धारक हैं :

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मिसु।

अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः।।[७१]

अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम्।[७२]

यह पृथिवी हमारा विशाल निवास स्थान है और महान् ईश्वर प्रमादरहित होकर इसकी रक्षा करता है :

महत् सधस्थं महती बभूव ...महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।[७३]

'पृथिवी-सूक्त' में ऋषि-वाणी की अभिव्यंजना से यह साक्षात् प्रतीति मिलती है कि यह धरा भौतिक तत्त्व का प्रतीक होने पर भी एक ऐसी दिव्यता को अन्तर्सात किये है जो जीवन-तत्व के रूप में देश-काल के अन्दर स्पन्दित-प्रतिस्पन्दित है। इसकी एक अन्य उदीयमान अवस्था भी है जो विकृति से रहित है।

ऋषि की यह उद्घोषणा है- 'हे पृथिवी, मैं भौतिक तत्व से तेरा निर्माण करता हूँ। तेरा यह प्रत्यक्ष शरीर विरूपता को प्राप्त हो गया है। तेरे स्थिरीकरण में जो कुछ कट-फट गया या क्षतयुक्त हुआ, मैं ज्ञान की शक्ति से उसका अपहार करता हूँ। तू अपनी वास्तविक प्रकृति को नष्ट मत होने दे' :

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा।

यद्यद् द्युतं लिखितमर्पणेन तेन मा सुम्नोर्ब्रह्मणापि तद् वपामि।।[७४]

वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र प्राप्त पृथिवी की ऋचाओं से उसके हिरण्यमय, ज्योतिर्मय ऐसे स्वरूप का साक्षात्कार होता है, जो सर्वप्रद, सर्वशक्तिमय, अविकृत और नित्य है।

श्री अरविन्द के शब्दों में, 'पृथिवी में समस्त अन्तःशक्तियाँ, प्रभविष्णुताएँ और समस्त सम्भावनाएँ हैं। ...पृथिवी में एक पृथक् भूमण्डलीय चेतना है जो इस ग्रह पर विद्यमान जीवन के विकास के साथ विकसित होती है।'[७५]

उनके शब्द हैं- 'यह पृथिवी है, जिसमें स्वर्ग की अपेक्षा गहन गम्भीरतर शक्ति है।'[७६]

पृथिवी पर 'दिव्य साम्राज्य' का कथन प्रायः अवतार पुरुषों ने किया है। समस्त सौर-जगत् में यही एक ग्रह है, जो इस महान् स्वप्न या सत्य को चरितार्थ करने में सक्षम है।

यह हमारी धरा ही है, जहाँ प्रेम, भक्ति, सौन्दर्य और आनन्द का कम्पन है और जहाँ दिव्य सम्पदा रूप गुणों को प्राप्त और अभिव्यक्त किया जा सकता है और जहाँ अपनी दिव्यता को मानव रूप में प्रकाशित करने के लिए भगवान् देवों के सम्पूर्ण वैकुण्ठ को इस पृथ्वी पर उतार लाते हैं-

भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम्।[७७]

श्री अरविन्द का कथन है- 'यह लोक, जिसमें हम रहते हैं, यह कोई प्रयोजन शून्य संयोग नहीं है, जो अकस्मात् ही बिना किसी अर्थ के 'देश' की शून्यता में घटित हो गया है। यह स्थान एक विकास का परिदृश्य है, मंच और घटना-स्थल, जिसमें शाश्वत 'सत्य' ने, वस्तुओं के रूप में प्रच्छन्न रहकर, आकार ग्रहण किया है और जो युग-युगान्तरों से, गुप्त रूप में, प्राकट्य की प्रक्रिया में विद्यमान है।'

यह पृथिवी, यह मनुष्य लोक- यहाँ द्वैत है, द्वन्द्व है। यहाँ केवल प्रकाश या केवल अन्धकार नहीं है। यहाँ केवल पुण्य या केवल पाप नहीं है- इसमें दोनों सन्निहित हैं- उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्[७८]

इसीलिए यहाँ सम्भावनाएँ हैं। यहाँ परिवर्तन की किसी भी ऊर्ध्वता को अधिगत किया जा सकता है। रूपान्तर के किसी भी आयाम पर सक्रिय अन्वेषण और लक्ष्य को सिद्ध किया जा सकता है।

'यह पृथिवी, यह मनुष्य-लोक अत्यन्त विशिष्ट है। यही वह लोक है, जहाँ चैत्य तत्व, अन्तरात्म तत्व और विकास का नियम विद्यमान है। विकास का यह नियम सत्ता के दूसरे स्तरों पर विद्यमान नहीं है। दूसरे लोकों में चीज़ें एक खास ढाँचे में पूरी तरह जड़ी हुई हैं और वहाँ प्रगति की कोई क्रिया नहीं है।'[७६]

मनुष्य की भाँति ही पृथिवी भी संक्रमणशील है। निरन्तर परिवर्तन के अन्दर गतिशील। पर मनुष्य इस पार्थिव धरा पर अमरत्व का आकांक्षी है और वह इसे चरितार्थ भी करता है। यही वह स्थल है, जहाँ दिव्यता को प्रतिष्ठित होना है। मनुष्य अपने रूपान्तर द्वारा इस पृथिवी पर रूपान्तर घटित कर सकता है।

अन्य लोकों में विकास नहीं है। वहाँ सब उस लोक-स्तर की अनुरूपता में व्यवहार करते हैं। 'पृथिवी विकास का पार्थिव क्षेत्र है।'[८०]

'दूसरे लोक प्ररूपता के लोक हैं- अपने प्रकार, प्ररूप और नियम में निर्धारित और आबद्ध। विकास पृथिवी पर घटित होता है, अतः प्रगति के लिए पृथिवी ही उपयुक्त स्थान है। दूसरे लोकों की सत्ताएँ एक लोक से दूसरे लोक में अग्रगति नहीं करतीं। वे अपने ही प्ररूप में स्थिर रहती हैं।'[८१]

'भारतीय विचारणा में विकास पृथिवी पर है और यदि देवता भी अपने देवत्व से परे जाना चाहते हैं और मोक्ष के आकांक्षी हैं तो इस प्रयोजन के लिए उन्हें पृथिवी पर उतरना होगा।'[८२]

वस्तुतः 'समस्त अ-विकासशील लोक अपनी स्वयं की समस्वरता में सीमित हैं और पृथिवी पार्थिव लोक होने पर भी, दुःख, असामंजस्य, विसंगति और अपूर्णता से युक्त होने पर भी एक विकासशील लोक है। किन्तु इस अपूर्णता में उच्चतर तथा बहुमुखी पूर्णता की लालसा है। इसमें अन्तिम ससीमता है, फिर भी यह परम असीम के लिए उत्कण्ठित है।'[८३]

पुराण में कथन है कि मनुष्य देवताओं की अपेक्षा अधिक भाग्यशाली हैं, जो स्वर्ग-अपवर्ग (मोक्ष) के मार्गभूत इस लोक में जन्म लेते हैं- स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।[८४] क्योंकि इस अनन्त 'कर्मभूमि' में जन्म लेकर मनुष्य समस्त कर्मों को भगवद्-अर्पण करके, पवित्र होकर परमात्म तत्त्व में लय प्राप्त करते हैं-

अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तस्मिल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति।[८५]

इस पार्थिव भूलोक से मनुष्य के अस्तित्व और प्रयोजन को संयुक्त करते हुए श्री अरविन्द के शब्द हैं- 'मनुष्य केवल शरीर, प्राण और मन नहीं है, वह एक आत्मा है, जो स्वर्ग में नहीं, अपितु इस भूलोक में दिव्य सिद्धि (चरितार्थता) के लिए अवतरित हुई है।-[८६] मनुष्य रूप में 'यह आत्मा इसलिए इस पार्थिव भूमण्डल में अवतरित हुई है कि निम्न प्रकृति स्वयं को रूपान्तरित कर उच्च प्रकृति

का रूप ले सके।'[८७]

मनुष्य में और मनुष्यलोक में दिव्य साम्राज्य की स्थापना वह लक्ष्य है, जिसकी पूर्णता के लिए 'प्रकृति' निरन्तर श्रमशील है।

---

(१) सेयं धात्री विधात्री च सर्वभूतगुणाधिका। आधारभूतां सर्वेषां मैत्रेय! जगतामिति!! वि.पु., २.४.६८ (२) इयं वै पूषेयँ ही द ँ सर्वं पुष्यति यदिदं किंच। बृहद. उप., १.४.१३ (शंकरभाष्य- इयं पृथिवी पूषा। इयं हीदं सर्वं पुष्यति ...।) (३) अभ्द्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः। मनु., १.७८ (४) सर्वरत्नमयी भूमिः। स्व. तन्त्र, १०.२२५ (५) पृथिवीं मातरं महीम्। विश्वं बिभर्ति पृथिवी। तैत्ति. ब्रा., २.४.६.५८ (६) एषां वै भूतानां पृथिवी रसः। बृहद. उप., ६.४.१ (७) श्री अरविन्द, लैटर्स ऑन योग, वाल्यू. २३, पृ. १०८६ (८) बृहद. उप., ३.१.८ (९) गीता, ११.४८ (१०) शंकरभाष्य, बृहद. उप., ४.४.६ (११) बृहद. उप., वही। (१२) गीता, ३.६ (१३) वही, १५.२ (१४) वि.पु., २.३.२५ (१५) ऋक्., ७.६६.४ (१६) गीता, ४.१२ (१७) अथर्व., ११.१.८ (१८) कृष्ण उप., ३ (१९) बृहद. उप., १.३.२८ (२०) प्रश्न उप., ५.३ (२१) तैत्ति. ब्रा. २.४.३.१२ (२२) ऋक्., ७.६६.३ (२३) ऋक्., ४.२६.२ (२४) शत. ब्रा., ६.१.१.१५ (२५) ऋक्., ८.८६.५ (२६) वही, ५.८५.४ (२७) अथर्व., १. २.१ (२८) कठ उप., १.१.२४ (२९) वही, १.१.२३ (३०) वेत्तम मणि, पुराणिक एन्साइक्लोपीडिया, पृ. ४५६ (३१) परमहंस मिश्र व्याख्या, तन्त्रा. १०.१६८ (३२) परमहंस मिश्र व्याख्या, तन्त्र. १०.१६८ (३३) ऋक्., १. ३४.८; ७.१०४.११ (३४) अथर्व., ६.२१.१ (३५) ऋक्., ४.५६.१ (३६) वही, ७.५३.१; अथर्व., ८.६.१६ (३७) अथर्व., ६.८.३ (३८) यजु. (वाजस.), ११.५३ (३९) शत. ब्रा., ३.८.४.१७ (४०) नृसिंहपूर्वतापनीय उप., ५. २ (४१) महानारा. उप., ४.५ (४२) शत. ब्रा., ११.५६.३ (४३) तैत्ति. ब्रा., २.४.२.१६ (४४) अथर्व., ५.२८. ३ (४५) तैत्ति. ब्रा., २.४.२.१६ (४६) भट्टभास्कर मिश्र भाष्य, तैत्ति. ब्रा., २.४.३.१२ (४७) अथर्व., १२. १.१२ (४८) वही, १२.१.६ (४९) वही। (५०) वही, १२.१.३ (५१) अथर्व., १२.१.११ (५२) वही, १२.१.१६ (५३) वही, १२.१.६ (५४) वही, १२.१.१० (५५) वही, १२.१.२३ (५६) वही, १२.१.२२ (५७) वही, १२.१. २ (५८) वही, १२.१.२४ (५९) वही, १२.१.२६ (६०) वही, १२.१.२७ (६१) वही, १२.१.२३-२५ (६२) अथर्व, १२.१.३६ (६३) वही, १२.१.६३ (६४) वही। (६५) वही, १२.१.६२ (६६) वही, १२.१.५६ (६७) वही, १२. १.४४ (६८) वही, १२.१.४७ (६९) वही, १२.१.४५ (७०) वही, ६.१०.१ (७१) अथर्व., १२.१.१६ (७२) वही, १२.१.२० (७३) वही, १२.१.१८ (७४) वही, १२.३.२२ (७५) श्री अरविन्द, दि लेटर्स ऑन योग, वाल्यू. २२, पृ. १७ (७६) वही, कलेक्टेड पोयम्स, वाल्यू. ५, पृ. ५७५ (७७) कृष्ण उप., २५ (७८) प्रश्न उप., ३.७ (७९) एम.पी. पण्डित, दि कन्सेप्ट ऑफ मैन इन श्री अरविन्द, पृ. २४ (८०) श्री अरविन्द, लेटर्स ऑन योग, वाल्यू. २३, पृ. १०८६ (८१) वही, वाल्यूरु २२, पृ. ११ (८२) वही, पृ. ६७ (८३) वही, पृ. ३८८ (८४) वि. पु., २. ३.२४ (८५) वही, २.३.२५ (८६) श्री अरविन्द, सोशल एण्ड पोलिटिकल थॉट, वाल्यू. १५, पृ. २१३ (८७) वही, दि सिन्थेसिस ऑफ योग, वाल्यू. २०, पृ. ४.

कला और कबीर

अवनीन्द्र नाथ टैगोर

बांग्ला से अनुवाद : महेन्द्र प्रसाद कुशवाहा, शान्तनु बनर्जी

कबीर हिन्दी के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। कबीर को साहित्य की मुख्यधारा से जोड़ने में रवीन्द्रनाथ टैगोर और विश्वभारती का अविस्मरणीय योगदान रहा है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के अलावा विश्वभारती के जिन आचार्यों का कबीर को लेकर महत्त्वपूर्ण काम रहा है उनमें क्षितिमोहन सेन, अवनीन्द्र नाथ टैगोर और हजारी प्रसाद द्विवेदी महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी साहित्य के विद्वान प्रायः सभी रवीन्द्रनाथ टैगोर, आचार्य क्षितिमोहन सेन और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के काम से परिचित हैं, पर अवनीन्द्र नाथ टैगोर के काम से बहुत कम लोग परिचित हैं। अवनीन्द्र नाथ टैगोर आधुनिक भारत के महत्त्वपूर्ण चित्रकारों में से एक हैं। कला को लेकर उन्होंने बहुत कुछ लिखा और बोला है। सर आशुतोष मुखर्जी के बुलावे पर उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के 'वागीश्वरी व्याख्यान माला' के तहत १९२१ ई. से १९२९ ई. के बीच कला से सम्बन्धित २९ व्याख्यान दिये हैं। इन व्याख्यानों में जगह-जगह पर कला को व्याख्यायित करने के लिए कबीर के पदों और विचारों का प्रयोग उन्होंने किया है। इसके अलावा 'शिल्पी गुरु अवनीन्द्र नाथ' और 'भारत शिल्पेर षड़ंग' शीर्षक पुस्तक में भी जगह-जगह कला को समझाने के लिए उन्होंने कबीर को उद्धृत किया है। इस आलेख में अवनीन्द्र नाथ की उल्लिखित पुस्तकों, लेखों, व्याख्यानों को आधार बनाकर, उसे सम्पादित कर 'कबीर और कला' शीर्षक से एक लेख को शक्ल देने का प्रयास किया है। इस आलेख में कबीर के जिन पदों को अवनींद्र नाथ टैगोर ने उद्धृत किया है, उनके अनुवाद करते वक्त हिन्दी में जो पद मिले, उनसे मिलाकर अनुवाद किया गया है और जो पद नहीं मिल पाये, उन्हें मूल बांग्ला के आधार पर हिन्दी में अनूदित किया गया है। अवनीन्द्र नाथ कबीर को सिर्फ़ एक कवि ही नहीं मानते थे, कला का भी मर्मज्ञ मानते थे। इसीलिए कला को समझाने के लिए सबसे ज़्यादा कबीर को उन्होंने उद्धृत किया है। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है? हिन्दी समाज ने कबीर को कवि और समाजसुधारक के रूप में ज़रूर रेखांकित किया है, पर उनकी कविता का एक पहलू कला भी हो सकता है, ऐसा सोचा ही नहीं है। कबीर के कला-चिंतन को अवनीन्द्र नाथ टैगोर ने जिस रूप में देखा और रेखांकित किया है, उसे लोगों के संज्ञान में लाना ही इस लेख का उद्देश्य है।

साँझ पड़े दिन बितरे चकोरी दीन्हा रोए,
चलो चकोरा वह देश को जहाँ रैना न होए।

दोनों तरफ चकोर और चकोरी रो-रोकर व्याकुल हैं। कहते हैं कि एक ऐसे देश में चलो जहाँ रात नहीं होती है।

ये पँक्तियाँ सिर्फ़ चित्र नहीं, कवित्वगुण सम्पन्न है। कबीर की कविता इसीलिए बहुत अच्छी लगती है। इसीलिए मैंने अपने व्याख्यानों में उनकी कविता के सहारे कई बार अपनी बातों की व्याख्या की है। रवि काका कहते थे, 'वह तो हुई हम कवियों की बात। तुम अपनी बात कुछ कहो तो सुनें।'

मैं कहता, 'मेरी बात, चित्रकार की बात सुनकर और क्या होगा?' वह सब 'रूपभेदाः प्रमाणानि' माथे का माप कितना, शरीर का माप कितना, यह सब तो मैं बोलकर छोड़ चुका हूँ। अब और कहने के लिए कुछ नहीं है। आदिम कला की बात कुछ कहना बाकी थी। अध्ययन कर रहा हूँ, कैसे वे कला को देखते थे? किस दृष्टिकोण से देखते थे? तो अब बारी समाप्त हो गयी और कुछ कह नहीं पाया।

देखने का क्या कोई अन्त है? कोई अन्त नहीं।[9]

तुम हम दो तुम्ब बीच सुर बाजै ताजा ताजा।
उजर कबहि काजर कबहि, रंग रंग नित बाजा।

अन्तः और बाह्य, इन दो तुम्बों के बीच असीम विरह, अनन्त मिलन नये-नये छन्दों में बँधकर वर्ण, गन्ध, शब्द, स्पर्श इत्यादि की विविधता से मानो धूप-छाँव का रूप धारण कर झंकृत हो रहा है, तरंगायित हो रहा है। इसी तरंग, इसी झंकार को छन्द कहते हैं। कवि एवं चित्रकार इस तरंगित, झंकृत रेखा और लेखा की वर्णमाला की वरमाला में बाँध-छाँदकर रूप में रस और रस में रूप का सम्प्रदान करते हैं। अन्तः बाह्य की तरफ और बाह्य अन्तः की तरफ हाथ बढ़ाकर दौड़ा चला आ रहा है, ये दोनों हाथ जहाँ आकर एक-दूसरे के साथ बँध रहे हैं, वहीं पर छन्दमाला दोलायमान है। एक सुर प्राण की तरफ से असीम की तरफ दौड़ा चला जा रहा है, और एक सुर किसी असीम से प्राण की तरफ आना चाह रहा है; इसी दो कूल के, दो सुर के आकुल-व्याकुल जहाँ आकर मिल रहे हैं, वहीं छन्द का शुभ्र तरंग माला का रूप धारण कर ऊपर उठता है और फिर चारों तरफ फ़ैल जाता है। अन्तः की पिचकारी बाहर को रंगती है, बाहर की पिचकारी आकर अन्तः को रंगती है; ये दौड़कर बाहर जाने और भीतर आने के बीच में जो 'दोल' और 'दोललीला' है, उसी को छन्द कहते हैं।

हमलोग जिस लोक में रहते हैं, उसे ब्रह्मलोक कहा जाता है। यहाँ सबकुछ धूप-छाँव के माध्यम से दिखाई देता है। छायातपयोरिव ब्रम्हलोके। इसलिए छन्द भी छाँद और बाँध रूपी धूप-छाँव के माध्यम से हमारे सामने प्रकाशित होता है। छन्द की छाँव मानो वधू है, जिसका अधिकांश घूँघट में ढँका रहता है और धूप वर है, जिसमें लेशमात्र भी गोपनीयता नहीं होती है। छन्द के धूप-छाँव का यह युगल मिलन और इसके समस्त रहस्यों को हमलोग अपनी आँखों से घर-घर के 'छान्दनातला' में वर-वधू को एक-दूसरे के साथ बाँधने की पूरी प्रक्रिया में देखते हैं। छान्दनातला, आच्छादनतला अथवा छन्दस्थली

में जो कुछ घटित होता है, उसको छान्दनीनाड़ा कहते हैं। इसका अर्थ है छन्दनी शक्ति को हिलाकर जगाना अथवा छन्द का नाड़ा (मंगलसूत्र) बाँधना।

इस छान्दनातला अथवा छन्दस्थली को घर के आँगन में गृहस्थली के सात महलों को सात छन्दों की दीवारों से घेरकर सजाया जाता है। माथे के ऊपर रहती है खुले आसमान में चाँद की चन्द्रिका, लाखों-करोड़ों ग्रह-उपग्रह के विराट छन्द में दोलायमान; पैर के नीचे पूरे आँगन में फैला रहता है रेखा और वर्ण के छन्द में बँधा कमल और भ्रमर या फिर राजहंस और मृणाल या चकोर-चकोरी के मिलन-विरह की छन्द कल्पना।[२]

कला का एक लक्षण होता है आडम्बरहीनता। अनावश्यक रंग और तूलिका का कल-कारखाना, दवात-क़लम, गाजा-बाजा वह बिलकुल सह नहीं पाता। एक तूलिका, एक कागज़, थोड़ा-सा पानी, एक काजललता- इतने मात्र से ही पूरब के बड़े-बड़े चित्रकार अमर हो गये हैं। कवि का काम तो इससे भी कम में हो जाता है। कागज़ और क़लम, नहीं तो एकतारा या बांसुरी, वह भी नहीं तो सिर्फ़ गले का सुर। सहज को पकड़ने के लिए सहज फंदा, इसी फंदे को लेकर वे सब चले। कोई सोने का हिरन, कोई सोने के कमल की खोज में। जैसे कि रूपकथा में राजपुत्र की यात्रा हो स्वप्नपुरी की राजकुमारी की तरफ़; साज नहीं, उपकरण नहीं, साथी-सहचर कोई नहीं। अपरिमित रससागर के किनारे अकेले जा खड़े हुए, मनरूपी पाल अच्छी हवा से भर उठा तो किनारा मिला! रूपकथा के सभी राजपुत्रों के इतिहास की चर्चा करने पर देखेंगे- कोई भी ताज़ी घोड़े पर सवार होकर तलाश के लिए नहीं निकले, कोई एक घोड़ा होने से ही वे खुश थे। यह भी शिल्पकला के लिए एक आश्चर्य की बात है कि इन्हीं मामूली चीज़ों पर सवार होकर इस जगत् में जैसा नहीं है, उसी का अविष्कार! माटी का ढ़ेला, पत्थर का टुकड़ा, सिन्दूर, काजल यही सब असीम रस और रहस्य का आधार हो जाता है। रस की तृष्णा और शिल्प की इच्छा जिसके भीतर जगेगी, वह तो किसी आयोजन की अपेक्षा करेगा नहीं; जैसे भी हो, अपना उपाय वह स्वयं कर लेगा; इसे छोड़कर और कोई बात नहीं। एक दिन कबीर ने देखा- एक व्यक्ति चमड़े की थैली में भर-भरकर नदी से शहर में पानी ला रहा है! उस व्यक्ति को भय है कि किसी तरह नदी सूख न जाये! यह विशाल पृथ्वी नीरस हो गयी है इसलिए वह रस बाँटना चाह रहा है। कबीर ने उस व्यक्ति को पास बुलाकर उपदेश दिया-

पानी पियावत क्या फिरो, घर-घर सायर-बारी।
तृष्णावन्त जो होएगा, पिवेगा झख मारी।।

यह आयोजन क्यों, जब घर-घर में रस का सागर है? तृष्णा के जगने पर वे स्वयं उत्तरदायी होकर अपनी तृष्णा को मिटाने का उपाय कर लेंगे।

मूल बात है रस की तृष्णा; शिल्प की इच्छा हुई या नहीं, उपयुक्त आयोजन हुआ या नहीं- शिल्प के लिए या रस की तृष्णा को मिटाने के लिए यह बिलकुल सोचने का विषय नहीं है। विश्व भर में इस तृष्णा को मिटाने के लिए शिल्प-कर्म, उसकी प्रयोग विद्या और उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपदेश,

नियम-कानून आदि इतनी अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं कि किसी मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं कि वह उसका आयोजन कर सके। शिल्प को, रस को पाने के लिए आयोजन का थोड़ा-सा भी अभाव है, ऐसा अपनी आदिम अवस्था में, असहाय अवस्था में भी मनुष्य ने नहीं कहा; उल्टा प्रयोजन होने पर आयोजन का कभी अभाव नहीं हुआ- इसी को उन लोगों ने हिरन का सिंह, मछली के कांटे की बटाली, पत्थर की छोटी-सी छूरी, थोड़ा-सी गेरुवा मिट्टी, इन्हीं सबका इस्तेमाल करके, विभिन्न तरह के नक़्शे, विभिन्न शिल्पकला की रचना से प्रमाणित किया है। इसके न होने से नहीं होगा, उसके न होने से नहीं चलेगा, शिल्प की दृष्टि से ऐसा वही कहता है, जिसकी ज़िन्दगी शिल्प के बिना भी किसी तरह से चल जाती है। आदिम शिल्पकार के सामने तो सिर्फ़ विश्व भर का ये रस-भण्डार खुला था, कुर्सी भी नहीं थी, टेबल भी नहीं थी, डिग्री भी नहीं, डिप्लोमा भी नहीं था; यहाँ तक कि राष्ट्रीय शिल्पकला की गैलेरी तक नहीं थी फिर किस तरह उन्होंने उस पर अपना अधिकार स्थापित किया? मैं अंकन कर रहा हूँ, मेरा नाती बगल वाले कमरे में बैठकर अंकगणित हल करने में लगा है, इसी तरह से चल रहा है। अचानक एक दिन नाती आकर बोला, 'दादाजी बिल्ली नहीं होती तो आपको बड़ी दिक्कत होती, यदि बिल्ली के रोवें की तूलिका नहीं होती, आपका चित्र भी नहीं होता।' तर्क शुरू हुआ। 'घोडे की पूँछ काटकर तूलिका बनती।' 'अगर घोड़ा नहीं होता?' 'पक्षी के पंख उखाड़ लेता।' 'पक्षी नहीं मिलता तो ?' 'अपने माथा के बाल को नोच लेता।' 'लेकिन आप तो गंजे हो।' नाती के गाल पर अँगुली से कोंचते हुए मैंने कहा, 'दस अँगुलियों में से किसी एक को लेकर।' नाती के रावण-वध की कोशिश को देखकर मैंने कहा, 'इससे न हुआ, तो ये देख रहे हो भोथरी तूलिका!' कहकर मैंने भी मुक्का उठाया। दादाजी के आयोजन को देखकर नाती हार मानकर चला गया।

काम की घानी में जुटा हूँ, घानी पीस रहा हूँ, लेकिन स्नेह रस जो निकाल रहा हूँ, उसकी एक बूँद भी मेरे पास नहीं आ रही। रसालाप का अवसर भी नहीं है, रस की तृष्णा मिटाना, शिल्प का लाभ ये सब तो बाद की बातें हैं।

कर्म जगत् का मोटे लोहे की राड वाला भयंकर लेकिन सचमुच का यह बेड़जाल सिर्फ़ हमलोगों पर दवाब नहीं डाल रहा, सारे मनुष्य इससे बँधे हुए हैं। ईख को डण्डा समझकर उसे चबाने की ग़लती तो नहीं की जा सकती। कर्म में लीन न होने से संसार नहीं चलता, और कर्म में लीन रहें तो रस दूर रह जाता है। इसका कुछ उपाय है?

रस पाना चाहता हूँ, तब क्या रस में अपने आपको, अपने सारे काम-धाम, इस संसार को बहा दें? फूल की गन्ध से मन मतवाला है, तब क्या फूल के बगीचे में जाकर बस जाएँ? धान का खेत, धन की चिंता सब छोड़कर? कबीर बोले, पागल हो क्या !

बागों में ना जा रे ना जा
तेरी काया में गुलज़ार।

'उस बगीचे में मत जाओ दोस्त, फूलों का वन तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है!' शरीर के अन्दर ही तो प्राण बसता है, बाहर रहे न कर्म का जंजाल। पिंजरे में रहकर क्या पक्षी गाना नहीं गाता? उसको क्या फूलों के वन में गाने के लिए जाना पड़ता है? जो उस्ताद होता है, वह घानी की चाल के ताल के साथ ही गाता रहता है, उसे किसी और संगत-सुयोग की ज़रुरत नहीं होती-

मृगा पास कस्तूरी बास,
आपन खोजै खोजै घास।

लेकिन कस्तूरी का व्यवसाय करने पर, दाना-पानी का उपाय छोड़ देने से जब जीवन सूख जायेगा तब क्या होगा? कहाँ रहेगा तब रस? कहाँ रहेगा तब शिल्प? रस नहीं रहे, जीवन तो है बहुत सारा। पहले जीवन, जो सब रस का मूल है, उसे तो बचाना चाहिए। इसके ऊपर कोई बात नहीं चलती। लेकिन आज के ज़माने में यदि शहर के बीच खड़ा होकर फुटपाथ के पत्थर से दबा शिरीष का पेड़ फूल खिला सकता है, तो मनुष्य उस तरह खिल नहीं सकता, क्या यह भी कभी सम्भव है? चेरी का फूल जब खिलता है, तब जापान के सारे लोगों का मन भी खिल उठता है, छुट्टी लेकर, सारा काम छोड़कर लोग उस तरफ़ दौड़ते हैं। उससे तो कोई उन्हें अकाज़ी कहने की हिम्मत नहीं करता? पेट भी उसका यथेष्ट भर रहा है। पहले हमलोगों के भी बारह महीने में तेरह पर्व होते थे, लेकिन उस ज़माने में काम में भी अनुपस्थिति नहीं होती थी और जीवन में भी कोई कमी नहीं रहती थी, शिल्प भी नहीं, शिल्पकार भी नहीं। रस भी नहीं, रसिक भी नहीं। आलसस्य कुतो शिल्पः? निश्चय ही हम लोगों के अभी के जीवन का कोई एक कलपुर्ज़ा बिगड़ गया है, ज़िन्दगी बुरी तरह से लंगड़ा गयी है, शरीर खट रहा है, लेकिन मन अवश और आलस्य से बैठा हुआ है! मलेरिया के मच्छर के साथ माँ लक्ष्मी के उल्लू का झुण्ड भी यदि हमारे घर आकर बस जाता तो शिल्पकार होना हमारे लिए ज़्यादा आसान होता या नहीं इस प्रश्न पर विचार करना उल्लू के पंखों से बने गद्दे पर बैठकर मेरे लिए शोभा नहीं देता। लेकिन इतिहास का साक्ष्य तो मानना पड़ता है। शिल्पकार 'जिसे छू देता है, वही सोना हो जाता है।' फिर भी बेचारा अपने बच्चों का शरीर सोने से कभी ढँक नहीं पाता ! ताजमहल के पत्थर को जिन्होंने तराशा - शीशे की तरह चमकदार, दूध की तरह सफ़ेद, मोती से भी ज़्यादा लावण्ययुक्त करके उसके गुम्बज को गढ़ा, दीवार के ऊपर अमर देश की पारिजात लता को जिस निपुण माली ने चढ़ाया, उन्हें रोज कितनी मज़दूरी मिली थी? पूरा भोजन न मिलने पर भी उनका शिल्प-कर्म कहाँ म्लान हुआ? दस-ग्यारह वर्ष ताजमहल को पूरा करने में लग गया था; सबसे अधिक तनख़्वाह जिन उस्तादों को दी गयी थी, वह एक हज़ार रुपये प्रति माह से अधिक नहीं थी; इसमें से बादशाही ज़माने के ओहदेदारों का पेट भरने के बाद कारीगरों को रोज़ कितना मिला, इसका हिसाब लगाने से ही पता चल पायेगा कि शिल्पकार और शिल्प के साथ संपत्ति का सम्बन्ध कैसा है। शिल्पकार होने या न होने के साथ मलेरिया होने का ज़्यादा सम्बन्ध है नौकरी होने न होने से, मैं यही देख पा रहा हूँ। जीवन की रक्षा के लिए जिसकी ज़रुरत है, जीवन उसे गर्दन पकड़कर हम लोगों से ज़रूर

करा लेगा, छोड़ेगा नहीं, उसका दबाव और उत्पीडन भयंकर है।... फिर भी लगता है, इस यान्त्रिक जीवन-यात्रा में थोड़ा-सा रस, थोड़ा-सा शिल्प-सौन्दर्य अगर नहीं प्रवेश पा सके तो जीना असम्भव है। सिर्फ़ प्राण जा रहा है यही नहीं, शिल्पकार के रूप में भारतीयों का जो सम्मान था, वह भी चला जा रहा है।...

रस के साथ कार्यबद्ध मनुष्य के परिचय एवं परिणय को स्थापित करने की क्या कोई आशा नहीं है? क्यों नहीं रहेगा? कार्यक्रम हमें ही बाँध कर पीड़ा दे रहा है और कवि, शिल्पकार, रसिक-ये सब इस कर्म जगत् से बाहर किसी और जगत् में विचरण कर रहे हैं, ऐसा तो नहीं है। अथवा जीवन-यात्रा की ईख पेरने वाली मशीन से जल्दी-जल्दी भागने का उत्साह तो कवि, शिल्पकार में ज़्यादा दिख नहीं रहा है! फिर वे लोग कैसे ज़िन्दा हैं? कबीर का काम था, सारा दिन ताँत बुनना, ऑफ़िस में बैठकर क़लम चलाने या पाठशाला में बैठकर पढ़ने-याद करने से इसका बहुत कम ही अन्तर है। ताँत बुनने और माकू ठेलने का काम छोड़कर कबीर को पेट चलाना मुश्किल था। हम लोगों को भी क़लम चलाकर घर-संसार चलाना पड़ता है। रस का सम्बन्ध माकू के ठेलने से जितना है, उतना ही क़लम के चलाने के साथ भी, कबीर सिर्फ़ स्वाधीन जीविका के द्वारा रुपये कमाते, इच्छा के सुख के चलते माकू को ठेलते, आनन्द के साथ काम करते रहते और हम लोग आजकल काम करते-करते झुक गये हैं, फिर भी काज़ी गर्दन पकड़कर कह रहा है- कर, कर तू और काम कर, नहीं तो बर्ख़ास्त कर दिया जायेगा। कबीर की ताँत कबीर को 'बर्खास्त' करने की बात नहीं कह सकी। यही जो कबीर की इच्छा के सुख के लिए ताँत बुनने का रास्ता था, उसी के किनारे उनके कल्पवृक्ष ने फूल खिलाया था। यही इच्छा सुख की मुक्ति कवि, शिल्पकार, गायक गुणी सबको बचाकर रखती है। पैसे का सुख नहीं अथवा काम-धाम छोड़कर भरपूर आराम भी नहीं।[३]....

हम लोगों को लगता है, सृष्टिकर्ता ने किसी मनुष्य को रस का सम्पूर्ण अधिकारी बनाकर भेजा है, किसी को बिलकुल खाली। ये क्या कभी हो सकता है? 'रसो वै सः' बोलकर जिन्हें ऋषियों ने पुकारा, वे क्या प्रवंचक हैं? राजा की तरह किसी को क्षमता दी और किसी को अक्षम बनाकर रखा, जो सारे शिल्पकारों में श्रेष्ठ हैं, उनका क्या ऐसा कारखाना होगा? किसी को सृष्टि का रस मिलेगा, सृष्टि के शिल्प का अधिकार मिलेगा और दूसरे को कुछ नहीं मिलेगा? इतनी बड़ी भूल सिर्फ़ वही मनुष्य कर सकता है, जो अपने दोष से खुद वंचित होकर विधाता को दोषी ठहराता है। इसीलिए जब कबीर के पास जाकर किसी ने बोला, प्राण चला गया, रस मिला नहीं। कहाँ जायें? क्या करें? किस दिशा में आकाश का सूर्य सबसे अधिक रोशनी देता है? किस सागर का पानी सबसे ज़्यादा नीला, साफ़ है, अनिंद्य सुन्दर, उसने किस वन में घोसला बनाया है, रस किस पाताल में छिपा हुआ है? बता दीजिये, क्या उपाय करें?' कबीर अवाक् होकर बोले-

पानी बिच मीन पियासी
मोहिं सुन सुन आवै हांसि।

कभी-कभी घर के अन्दर रहते हुए भी अचानक नींद में लगता है कि दरवाज़ा कहीं खो गया है, उत्तर या दक्षिण किसी भी दिशा में नहीं मिल रहा है। रस में ही डूबा रहता है, हम लोगों के रस का पता, शिल्प के बाज़ार में बसता है शिल्प के लाभ का उपाय, यह भी कुछ उसी तरह का है।

पत्थर की रेखाओं में बँधा हुआ रूप, चित्र के रंगों में बँधी हुई रेखा, छन्द में बँधी वाणी, सुर में बँधी बात, शिल्प, ये सब कुछ उसी की निर्मिती को पकड़कर प्रकाशित हो रहा है, जो रस दिन-रात झर रहा है; अखण्ड रस के ये सब छोटे-छोटे टुकड़े हैं, एक किरण से प्रज्वलित हज़ार दीये, एक शिल्प का विविध प्रकार! इसका अधिकार प्राप्त करने के लिए किसी आयोजन, किसी भी शास्त्र चर्चा की ज़रुरत नहीं पड़ती। कर्म जगत् के बीच में ही रस झर रहा है, आनन्द का झरना, प्रकाश का झर; उसकी गति, छन्द, सुर, रूप, रंग, भाग अनन्त हैं; और कहाँ जाएँ, शिल्प को सीखने के लिए, उसको जानने के लिए?[४]...

कर्म की दृष्टि मनुष्य के स्वार्थ को दृष्टव्य के साथ जोड़कर देखती है और भावुक की दृष्टि बहुत हद तक निःस्वार्थ भाव से सृष्टि की सामग्री को स्पर्श करती है। काम वाला व्यक्ति देखता है कि कैम्बिश या तो पर्दा या बैग अथवा जहाज का पाल प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त है, लेकिन भावुक इस मज़बूत कपड़े को एक चित्र से भर देने के लिए उपयोगी समझता है। सफ़ेद पत्थर, कर्म की दृष्टि कहती है, उसे जलाकर चूना बना डालो, भावुक की दृष्टि कहती है, उसे एक मूर्ति बना लेना सही होगा। निर्मम स्वार्थ दृष्टि, कर्म की आँख से साधारण मनुष्य बलि के बकरे की तरह खिले हुए फूलों की नली अपनी मुट्ठी में पकड़कर, बगीचे से उन्हें उखाड़कर पूजा-घर ले जाता है, और भावुक जिस दृष्टि से फूलों की तरफ़ देखता है, उसमें स्वार्थ का भार इतना कम होता है कि तितली या मधुमक्खी के पतले पंखों का अत्यन्त लघु और अति कोमल स्पर्श भी उसके सामने हार मान जाये। ...भावुक की दृष्टि किसी हद तक निःस्वार्थ, निर्मल होती है, फिर भी कितने आश्चर्यजनक रूप से घनिष्ठता से फूल को उसने देखा, ये भावुक की रचना में ही मिलता है-

चल चल रे भौंरा कँवल पास
तेरा कँवल गावे अति उदास
खोज करत वह बार बार
तन बन फूल्यो भार भार।[५]

रोज़ संध्या बेला की हवा खुले मैदान में सेवन कर और मन्दिर में जाकर शंख-घण्टे की आवाज़ सुनकर हमलोग पोथी में लिखी हुई त्रिसंध्या के मन्त्रों से थोड़ा-सा भी अधिक देख-सुन नहीं पाये। लेकिन कबीर दो पंक्तियों में सारे संध्या के प्राण को एक मुहूर्त में हमलोगों की तरफ खींच लाये-

साँझ पड़े दिन बितरे चकोरी दीन्हा रोए,
चलो चकोरा वह देश को जहाँ रैना न होए।

ये किस अगम्य देश की ख़बर आ पहुँची! रात्रि के उस पार युगल तारा के राज्य में जाने का करुण भाव से आमन्त्रण, भीरु पक्षी के गले का सुर पकड़कर यह कौन चिर-मिलन की वाणी अन्धकार से होकर उनके पास आ पहुँची, जो देखकर भी नहीं देखती, सुनकर भी नहीं सुनती, पकड़कर भी नहीं पकड़ पाती?

जिस दृष्टि से संध्या का अन्धकार, रात्रि की कालिमा हमारे मन में सिर्फ़ शंका और संशय बुद्धि ही जागृत करता है, भावुक की दृष्टि क्या उतनी ही साधारण दृष्टि होती है? या फिर उसको ध्यान से सुनकर, परखकर, चाहकर, छूकर देखना? यह जो भावुक की, कवि की, शिल्पकार की दिव्य दृष्टि है, वह अन्धकार में भी प्रकाश को देखती है, दुःख के स्पर्श में भी आनन्द महसूस करती है, असीम स्तब्धता के भीतर भी सुर खोज लेती है -

तिंविर साँझ का गहिरा आवै, छावै प्रेम मन-तन में।
पच्छिम दिग की खिड़की खोलो, डूबहू प्रेम-गगन में
चेत-कँवल-दल रस पीयो रे, लहर लेहु या तन में।
संख घंट सहनाई बाजै, शोभा-सिन्ध महल में।

साँझ का अँधेरा बढ़ा, अँधेरे के प्रेम में तन-मन को आवृत्त करके प्रकाश जिस दिशा से लुप्त हो रहा है, उस दिशा का दरवाज़ा खोलो, इस संध्या के अन्धकार की तरह विस्तृत प्रेम में निमग्न हो, चित्त-कमल रात्रि के रस का पान करे, अतल अँधेरे की प्रेम लहरी चित्त से जुड़े, चित्त में समाये, सीमाहीन गहराई में आरती का शंख और घण्टा बजता रहे, मिलन की बाँसुरी, अंधेरे-समुद्र में अपरूप रूप प्रकाशित हो।

मानो नये तरीके से देखकर, सुनकर, छूकर विश्व के चर-अचर के साथ हृदय आकर मिलना चाह रहा है। पहले मनुष्य के बाहरी हिस्से को उसकी बुद्धि और इन्द्रियों के माध्यम से यन्त्र के द्वारा पकड़ने की कोशिश की जाती थी, अब मनुष्य का अन्तः भाग बाह्य से मिलने चल पड़ा - हाथ पर हाथ रखकर, आँख से आँख मिलाकर, गले मिलकर बाहर से अन्दर आना और फिर बाहर निकलकर चले जाना। इसी का छन्द भावुक मनुष्य के जीवन में आविष्कृत हुआ।[६]

कला की दृष्टि से सिर्फ़ यौवन ही सुन्दर है, बुढ़ापा नहीं, प्रकाश ही सुन्दर है अन्धकार नहीं, सुख ही सुन्दर है दुःख नहीं, साफ़ दिन ही सुन्दर है बादल से घिरा दिन नहीं, बारिश की नदी ही सुन्दर है, शरत की नहीं, पूर्ण चन्द्र ही सुन्दर है अर्द्ध चन्द्र नहीं - ये बात कोई नहीं कह सकता। जो कलाकार बिलकुल नहीं है, सिर्फ़ वही विच्छिन्न और खण्ड-खण्ड में एक आदर्श सुन्दर की कल्पना कर सकता है। कबीर कलाकार थे, इसीलिए उन्होंने कहा था, 'सबहि मूरत बिच अमूरत, मूरत की बलिहारी।' जो श्रेष्ठ कलाकार है, उसमें ये देख रहा हूँ, अच्छी-बुरी सब मूर्तियों में अमूर्ति ही विद्यमान होता है! 'ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि विधि कथौं गम्भीरा लो।' सुन्दर जो असुन्दर में भी है, यह गम्भीर

बात समझाकर बोलना कठिन काम है, इसीलिए कबीर एक ही बात में सभी तर्कों को समाप्त करते हैं, 'विछुरी नहिं मिलिहो।' अलग होकर उसको खोज पाना सम्भव नहीं। लेकिन ये जो सुन्दर की अखण्ड धारणा कबीर को मिली, उसके मूल में किस भाव की साधना थी, यह जानने के लिए मन सहज ही उत्सुक हो जाता है। इसका उत्तर कबीर ने जो दिया था, उसके साथ सारे कलाकारों का एक को छोड़कर दूसरा कोई मत नहीं है -

'सन्तों, सहज समाध भली।
साईं ते मिलन भयो जा दिन ते सुरत न अन्त चली।
आँख न मूँदूँ, कान न रूँन्धूँ, काया कष्ट न धरूँ।
खुले नैन में हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ।'

सहज समाधी ही अच्छी है। हँसकर देखो, सब सुन्दर है। जिसके मन में हँसी नहीं, उसकी आँखों में भी सुन्दरता नहीं होती। जिसके प्राण में सुर है, विश्व के सारे सुर-बेसुर, विवादी-संवादी, सभी उसके मन में सुन्दर गीत के रूप में एक-दूसरे से मिल जाते हैं।[७]

नियति के नियम के अनुसार जो फूल-पत्ते के वेश में सज-धजकर आये, रंगीन पंखों को फैलाकर नाचते-गाते रहे, कोई भी इस विश्व संसार के रचयिता का दावा नहीं कर पाये, सिर्फ़ कलाकारों को छोड़कर जिन्होंने सपना देखा और उस सपने को साकार किया। पंछी रचयिता होने का दावा नहीं कर पाया, किन्तु धरती पर बैठकर आकाश के पंछी को पकड़ने का फंदा जिस मनुष्य ने रचा उसने ये दावा किया, नियतिकृत नियम से परे जो नियम है, उसे जिन्होंने अपनी सारी रचनाओं में पग-पग पर प्रमाणित किया, वे ही रचयिता होने का दावा कर सके। कबीर ने इसलिए कहा- 'भरम जंजाल दुःख-धंध भारी' भ्रान्ति के जंजाल को दूर करो, उससे दुःख-दीनता और घोर संशय होता है 'सत्य दावी गहो, आप निर्भय रहो' तुम्हारा जो सत्य का दावा है, उसे ही ग्रहण करो, निर्भय रहो।[८]

शिल्प को जानने के लिए जहाँ से केवल मत निकलता है, सिर्फ़ उसी पाठशाला में जाने से हमलोगों का काम नहीं चलेगा। ऋषि और कवि और जो मन्त्रद्रष्टा हैं, उनके पास चित्रविद् को जाना पड़ेगा। इसका उत्तर चमत्कारिक रूप से कबीर ने दिया है-

जिन वह चित्र बनाइयाँ, साँचा सूत्र धारी।
कहहि कबीर ते जन भले, चित्रवंत लेहि विचारी।

जो इस चित्र के रचयिता हैं, वे ही सच्चे सूत्रधार हैं; वही श्रेष्ठ हैं जो चित्र के साथ चित्रकार का भी विचार कर लेते हैं।[९]

आज वही कलाकार है जो नित्य जीवन-यात्रा से स्वतंत्र है, उसके अतिरिक्त जिसके पास कुछ है। पहले लेकिन ये भाव नहीं था। बरसात के समय खेतों की तरफ देखकर किसान गा रहा है-

गगन घटा गहरानी साधो, गगन घटा गहरानी।
पूरब दिस से उठी है बदरिया, रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेंड सम्हारो, बह्यो जात यह पानी
सूरत-निरत का बेल नहायन, करै खेत निर्वानी।

पूरब दिशा में घने बादल छा गये, रिमझिम बारिश होने लगी, खेतों के मेढ़ को सम्भलो भाई, वह देखो पानी बहा जा रहा है। दो लताएँ- अनुराग और विराग, आज उन दोनों लताओं को उस रसधारा में भिगो लो, इस तरह की खेती करो, जिसमें अबाध मुक्ति की फ़सल उगे। इस खेत की फ़सल को काटकर जो अपने घर में रख सकता है, उसे ही तो कुशल किसान कहते हैं।

उस ज़माने में कला किसमें है, किसमें नहीं है, ये सुनिश्चित करने अथवा विविध कला विद्या की संख्या निर्धारित कर चौंसठ की संख्या में ही उसे सीमित रखना, वे नहीं चाहते थे।[१०]

अबिनाशी दूल्हा कब मिलिहौ, आदि अन्त कमाल।
जल उपजी जल ही सौं नेहा, रटत पियास पियास।
सेईं ठाढ़ी बिरहिल मग जोऊं, प्रियतम तुमरी आस।
छोड़े गेह नेह लगि तुमसों, भई चरण लवलीन।
ताला-बेलि घट भीतर, जैसे जल बिन मीन।

जिसका आदि नहीं अन्त नहीं, उसी अपरिसीम परिपूर्ण समुद्र के साथ मिलना चाहता है जीवन। जल के तरंग का प्रेम जल से ही है, जल के लिए न जाने कितनी प्यास उसके भीतर है। सागर विरहिणी नदी हमेशा पथ निहारती रही, अपने प्रियतम की आशा में। सागर के प्रेम में नदी ने अपना घर छोड़ा, सागर के ध्यान में नदी स्वप्न में मग्न रही, पानी-पानी पुकारकर उसकी अन्तरात्मा बिन पानी की मछली की तरह कातर हो गयी।

जिसको कभी नहीं देखे, उसकी कल्पना से मन नये-नये रूप की सृष्टि करता रहता है और जिसको देख लिया मन उसकी स्मृति से नये-नये रस का आनन्द लेते हुए एक ही स्मृति को नाना भाव से विभिन्न रूप में देखता रहता है। कल्पना की क्रिया और स्मृति की गति, दोनों का कार्य एक को ही अनेक रूप में देखना है- कल्पना देखती है रूप की दृष्टि से विभिन्न एवं अनेक और स्मृति देखती है भाव की दृष्टि से विभिन्न एवं अनेक। अज्ञात रूप की कल्पना और ज्ञात रूप की स्मृति, यही दो पथ हैं, रूप जगत् के यात्री शक्तिमान मनुष्य के सामने यही होता है और इन दो पथों की ख़बर इनसे पायी जा सकती है।[११]

सन्दर्भ :

१. रानी चंद, शिल्पी गुरु अवनीन्द्रनाथ, विश्वभारती ग्रंथम विभाग, कोलकाता, अगहन-१४०६ (नवम्बर, १९९९), पृष्ठ सं.-८१

२. शिल्प, विश्वभारती ग्रंथन विभाग, कोलकाता, २०१६, पृष्ठ-१३४ (अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, भारतशिल्पेर षडंग)
३. अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, वागीश्वरी शिल्प प्रबंधावली, रूपा एंड कंपनी, कोलकाता, जनवरी, १९९६, पृष्ठ- (१४-१८)
४. वही, पृष्ठ- (२०-२१)
५. वही, पृष्ठ- (३९-४०)
६. वही, पृष्ठ- (४२-४४)
७. वही, पृष्ठ- (८२-८३)
८. वही, पृष्ठ- ९९
९. वही, पृष्ठ- १२०
१०. वही, पृष्ठ- (१२४-१२५)
११. वही, पृष्ठ- (२७१-२७२)

भक्ति पर भास्कर राय

वागीश शुक्ल

'भक्ति' पर चल रही इस चर्चा के अन्तर्गत प्रथम लेख में भास्कर राय का नाम उनके द्वारा समर्थित 'परिणाम-वाद' के उल्लेख के साथ आ चुका है; उस प्रसंग पर कुछ विस्तार से आगे भी बात करनी पड़ेगी, यहाँ उनके द्वारा 'भक्ति' पर कही गयी दो-एक बातों की ओर ध्यान आकृष्ट करना अभीष्ट है, जो सामान्यतया 'भक्ति' पर किये जाने वाले पुनरीक्षणों में अनुपस्थित रहती हैं।

१ 'भक्ति' = 'लक्षणा'

ललिता-सहस्रनाम पर अपनी व्याख्या में 'भक्ति-गम्या' (= भक्ति से जानी जा सकने वाली) नाम पर चर्चा करते हुए भास्कर राय ने 'भक्ति' का वह अर्थ तो लिया ही है जो प्रचलित है और जिस पर हम बात कर रहे हैं किन्तु उन्होंने 'भक्ति' का एक अर्थ 'लक्षणा' भी लिया है और इस प्रकार भक्ति-विचार की मुख्य धारा से एक सुरंग के रास्ते एक ऐसे प्रवाह में पहुँच गये हैं जो पड़ोस का भले हो, अपनी तरंगायति में अलग है।

'लक्षणा' एक शब्द-शक्ति का नाम है। 'भक्ति-गम्या' नाम पर चर्चा करते हुए भास्कर राय ने जब 'भक्ति' का अर्थ 'लक्षणा' लिया है तब उन्होंने इस अर्थ की वैधता के लिए प्रमाण के रूप में महर्षि जैमिनि के मीमांसा-सूत्र से एक सूत्र उद्धृत किया है जिसमें 'भक्ति' का प्रयोग 'लक्षणा' के लिए किया गया है और एक स्व-रचित स्तोत्र से एक श्लोक भी उद्धृत किया जिसमें यही किया गया है। इन दो प्रमाणों के अतिरिक्त हम एक और प्रमाण की ओर ध्यान दे सकते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में थोड़ी-बहुत रुचि रखने वालों के लिए ध्वन्यालोक और उसके रचयिता आनन्दवर्धन का नाम अपरिचित नहीं है जो काव्य-शास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने भी अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति ... वाले श्लोक में) 'लक्षणा' के लिए 'भक्ति' का ही प्रयोग किया है। कुल मिलाकर यह कि 'भक्ति' का एक अर्थ 'लक्षणा' भी प्राचीन काल से चला आ रहा है और 'भक्ति से जानी जाने वाली परा-देवता' का अर्थ 'लक्षणा' नाम की शब्द-शक्ति के द्वारा जानी जा सकने वाली 'परा-देवता' भी है।

१.१ महावाक्य का अर्थ

'लक्षणा से जानी जाने वाली परा-देवता' कहने का तात्पर्य यह है कि 'तत्वमसि (वह ब्रह्म तुम ही हो)' जैसे महावाक्यों का जो ब्रह्म और जीव की एकता स्थापित करने वाला अर्थ हम समझते हैं,

वह जिस शब्द-शक्ति के द्वारा समझा जाता है, उसका नाम 'लक्षणा' है; यह ज्ञान ही ब्रह्म कहलाता है और इस प्रकार वह परा-देवता ब्रह्म ही है।

यह शांकर अद्वैत का साम्प्रदायिक सिद्धान्त है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार हैः महावाक्य का सीधा-सीधा अर्थ असंगत है क्योंकि 'तत् (= वह)' का अर्थ 'ब्रह्म' है जो नित्य है और 'त्वम् (= तुम)' का अर्थ 'जीव' है जो अ-नित्य है, इन दोनों की एकता हो ही नहीं सकती। तब हम इसका अर्थ कैसे निकालते हैं? वैसे ही जैसे हम जिस सूट पहने हुए देवदत्त से दिन के समय दफ़्तर में मिले थे, उसे कुर्ता-पायजामा पहने हुए शाम के समय बाज़ार में देखकर पहचान लेते हैं कि 'यह वही देवदत्त है', अर्थात् हम 'दफ़्तर में', 'दिन के समय', 'सूट पहने हुए' जैसी विशेषताओं का 'उस देवदत्त' में से परित्याग करते हैं और 'बाज़ार में', 'शाम के समय', 'कुर्ता-पायजामा पहने हुए' जैसी विशेषताओं का 'इस देवदत्त' में से; इसके बाद जो बचता है वह केवल देवदत्त है जिसका ज्ञान हमें पहले हुआ था और अब पुनः हुआ है। इसी प्रकार 'तत् (= वह)' का वाच्य अर्थ 'माया-विशिष्ट ब्रह्म-चैतन्य', अर्थात् 'ईश्वर' है जो संसार का कर्ता आदि है और 'त्वम् (= तुम)' का वाच्य अर्थ 'अन्तःकरण-विशिष्ट ब्रह्म-चैतन्य' अर्थात् 'जीव' है जो संसारी है; इन दोनों में से क्रमशः 'माया-विशिष्ट' और 'अन्तःकरण-विशिष्ट' निकाल देने पर दोनों का लक्ष्यार्थ 'ब्रह्म-चैतन्य'[1] है, उसी के ऐक्य को प्रतिपादित किया गया है। इस 'पहचान' या 'पुनः ज्ञान' को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं (जिस पर काश्मीर शैव दर्शन ने भी शांकर अद्वैत के पड़ोस में अपना सिद्धान्त-सौध खड़ा किया है)।

१.१.१ टिप्पन

पहली नज़र में यह व्याख्या तुरन्त विश्वसनीय लगती है किन्तु इस पर कुछ आपत्तियाँ की गयी हैं और उनके समाधान भी प्रस्तुत किये गये हैं। हम यहाँ उनके विस्तार में नहीं जायेंगे; आपत्तियों में से केवल एक, और उस आपत्ति के अनेक समाधानों में से केवल एक, को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं ताकि उन शास्त्रार्थ-चर्चाओं के स्वरूप की कुछ झलक मिल सके जिनके आधार पर कलह-प्रिय आधुनिक विद्वानों द्वारा यह कहा जाता है कि सनातन हिन्दू विश्वास में अनेक 'विभाजन थे।

आपत्ति यह है कि यदि हम दोनों से लक्ष्यार्थ 'ब्रह्म-चैतन्य' लेते हैं तो जिस वाक्य की प्राप्ति होती है वह है 'ब्रह्म-चैतन्य ब्रह्म-चैतन्य है', जो 'घड़ा घड़ा है' जैसे वाक्य की तरह ही सूचना-हीन है। समाधान यह है कि 'तत् (= वह)' का लक्ष्यार्थ 'मायोपहित ब्रह्म-चैतन्य' है और 'त्वम् (= तुम)' का लक्ष्यार्थ 'अन्तःकरणोपहित ब्रह्म-चैतन्य' है, इन दोनों के परस्पर भिन्न होने के नाते लक्ष्यार्थ 'घड़ा घड़ा है' जैसे वाक्य की तरह सूचना-हीन नहीं रह गया। अब 'मायोपहित ब्रह्म-चैतन्य' और 'अन्तःकरणोपहित ब्रह्म-चैतन्य' परमार्थतः केवल 'ब्रह्म-चैतन्य' को बताते हैं अतः परमार्थ यह निकलता है कि ब्रह्म-चैतन्य एक ही है; यही प्रतिपादित करना था।

---

१. 'ब्रह्म-चैतन्य' से तात्पर्य 'ब्रह्म' का ही है, 'चैतन्य' केवल इसलिए जोड़ते हैं कि यह स्पष्ट रहे कि ब्रह्म चेतन है, जड़ नहीं।

समाधान को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें उन पारिभाषिक शब्दों पर ध्यान देना होगा जो अभी-अभी प्रयोग में आये हैं। 'करण' का अर्थ है 'इन्द्रिय' और इस प्रकार 'अन्तःकरण' का अर्थ है भीतरी इन्द्रियाँ। ये सामान्यतः चार मानी जाती हैं: (१) मन, जो संकल्प-विकल्प करता है, (२) बुद्धि, जो निश्चय करती है, (३) चित्त, जो चिन्तन करता है, और (४) अहंकार, जो 'मैं' का भाव जगाता है। (इनके अतिरिक्त बाहरी इन्द्रियाँ दस है; इनके अन्तर्गत आँख, कान जैसी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और हाथ, पाँव जैसी पाँच कर्मेन्द्रियाँ आती हैं; इस प्रकार कुल मिलाकर चौदह इन्द्रियाँ होती हैं।)

इस चर्चा के भीतर प्रथम लेख में कहा गया था कि 'उपाधि' और 'विशेषण' में अन्तर की आवश्यकता आगे पड़ेगी। वह आवश्यकता अब आ पड़ी है। प्रथम लेख में एक उदाहरण द्वारा इस अन्तर को स्पष्ट किया गया था: जब हम कहते हैं कि 'नीली कमीज़ वाला दिखायी पड़ा' तो 'नीली कमीज़' विशेषण है क्योंकि 'नीली कमीज़' दिखायी पड़ने में शामिल है जबकि 'नीली कमीज़ वाला बोला' में 'नीली कमीज़' उपाधि है क्योंकि 'नीली कमीज़' बोलने में शामिल नहीं है। इस प्रकार जिस समय हम 'माया-विशिष्ट ब्रह्म-चैतन्य' के रूप में ईश्वर को बताते हैं उस समय हमारा तात्पर्य उस ईश्वर से है जो संसार का कर्ता आदि है क्योंकि सृष्टि आदि में शुद्ध, अर्थात् सत्त्व-गुण प्रधान, माया शामिल है जबकि जिस समय हम 'मायोपहित (= माया की उपाधि से युक्त) ब्रह्म-चैतन्य' के रूप में ईश्वर को बताते हैं उस समय हमारा तात्पर्य उस ईश्वर से है जो माया में वैसे ही प्रतिबिम्बित है जैसे सूर्य जल में प्रतिबिम्बित है, अर्थात् जिस प्रकार सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होकर भी उससे असम्पृक्त रहता है और जल सूखने पर प्रतिबिम्ब का विलोपन सूर्य में हो जाता है, उसी प्रकार यह मायोपहित ब्रह्म-चैतन्य माया से असम्पृक्त है और माया की समाप्ति पर उसका विलोपन ब्रह्म-चैतन्य में हो जाता है। ठीक ऐसा ही 'माया' की जगह 'अन्तःकरण' रखने से होता है: जीव जब 'अन्तःकरण-विशिट ब्रह्म-चैतन्य' है तब वह अन्तःकरण की काम-क्रोध आदि वृत्तियों से प्रभावित होने वाला संसारी है और अपने को कर्ता, भोक्ता आदि समझता है, और जब वह 'अन्तःकरणोपहित ब्रह्म-चैतन्य' है तब वह अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित है जो अशुद्ध, अर्थात् रजोगुण तथा तमोगुण प्रधान, माया का परिणाम है; अब यह मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है कि यद्यपि सूर्य का निर्मल जल में प्रतिबिम्ब, और मलिन जल में प्रतिबिम्ब भिन्न हैं क्योंकि उनकी उपाधियाँ (निर्मल जल और मलिन जल) भिन्न हैं, परमार्थतः सूर्य एक ही है। ठीक इसी प्रकार न केवल 'तत् (= वह)' का वाच्यार्थ 'माया-विशिष्ट ब्रह्म-चैतन्य' और 'त्वम् (= तुम)' का वाच्यार्थ 'अन्तःकरण विशिष्ट ब्रह्म-चैतन्य' परस्पर भिन्न हैं, अपितु उनके लक्ष्यार्थ 'मायोपहित ब्रह्म-चैतन्य' तथा 'अन्तःकरणोपहित ब्रह्म-चैतन्य' भी परस्पर भिन्न हैं क्योंकि उनकी उपाधियाँ (माया और अन्तःकरण) भिन्न हैं; परमार्थतः ब्रह्म-चैतन्य एक ही है और यही इस महावाक्य का अर्थ है।

१.२ शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ

आगे बढ़ने के लिए कुछ पारिभाषिक शब्दावली सहायक होगी। यह शब्दावली और आगे आ रहा संक्षिप्त विवेचन अद्वैत-वाद के ग्रन्थों के अनुसार हैं; साहित्य-शास्त्र में उपलब्ध प्रासंगिक चर्चा की

शब्दावली कुछ भिन्न है।

शब्द की जिस शक्ति से अर्थ का बोध होता है (और जिसे हमने ऊपर 'शब्द-शक्ति' कहा है) उसे 'वृत्ति' कहते हैं और जो वृत्ति शब्द का 'सीधा-सादा' प्रथम उपस्थित अर्थ बताती है उसे 'शक्ति' कहते हैं (इसी को 'अभिधा' भी कहते हैं); यह 'सीधा-सादा' अर्थ 'शक्यार्थ' कहलाता है (इसी को 'वाच्यार्थ' भी कहते हैं)।

'लक्ष्यार्थ' वहाँ उपस्थित होता है जहाँ शक्यार्थ में अनुपपत्ति हो; उदाहरण के लिए 'गंगायां घोषः (= गाँव गंगा में है)' में शक्यार्थ अनुपपन्न है क्योंकि गंगा का शक्यार्थ गंगा-प्रवाह है जिसमें गाँव नहीं बस सकता। अतः हमें 'शक्य का सम्बन्धी अर्थ' लेना होगा जो यहाँ उपपन्न हो। यह 'शक्यार्थ का सम्बन्धी अर्थ' वक्ता के तात्पर्य से निर्धारित होता है। गंगा-प्रवाह के सम्बन्धी अर्थ 'मछली' आदि भी हैं जो यहाँ पर उपपन्न नहीं है। यहाँ पर वक्ता का तात्पर्य 'गंगा के किनारे' से है जो उपपन्न है। यह अर्थ 'गंगा' शब्द की (अभिधा) शक्ति से प्राप्त नहीं हुआ और इसलिए 'शक्य' नहीं है किन्तु वह शक्य अर्थ अपने से सम्बन्धित 'गंगा-तीर' को लक्षित करता है अतः यह 'गंगा-तीर' अर्थ 'लक्ष्य' है और शब्द की जिस वृत्ति द्वारा यह प्राप्त हुआ वह 'लक्षणा' कहलायेगी।

यहाँ 'गंगा' का शक्यार्थ 'गंगा-प्रवाह' छोड़ दिया गया है इसलिए यहाँ 'जहत्-लक्षणा' है। जब कहा जाय कि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् (= कौओं से दही को बचाना)' तो 'कौआ' का शक्यार्थ तो केवल 'कौआ' ही है किन्तु लक्ष्यार्थ 'कौआ, बिल्ली आदि' है; इस लक्ष्यार्थ में 'कोआ' का शक्यार्थ छोड़ा नहीं गया अतः यहाँ 'अ-जहत्-लक्षणा' है। जब हम 'तत् त्वम् असि' का अर्थ यह करते हैं कि 'वह तुम ही हो', तब हम 'वह' के शक्यार्थ 'मायोपाधिक माया-विशिष्ट ब्रह्म-चैतन्य' में से 'माया-विशिष्ट' छोड़ रहे हैं और 'मायोपधिक ब्रह्म-चैतन्य' नहीं छोड़ रहे हैं। इसी प्रकार 'तुम' के शक्यार्थ 'अन्तःकरणोपाधिक अन्तःकरण-विशिष्ट ब्रह्म-चैतन्य' में से हम 'अन्तःकरण-विशिष्ट' छोड़ रहे हैं किन्तु 'अन्तःकरणोपाधिक ब्रह्म-चैतन्य' नहीं छोड़ रहे हैं। इस प्रकार शक्यार्थों में से कुछ छोड़ते और कुछ न छोड़ते हुए इस महावाक्य का लक्ष्यार्थ 'मायोपाधिक ब्रह्म-चैतन्य और अन्तःकरणोपाधिक ब्रह्म-चैतन्य परमार्थतः एक ही हैं' प्राप्त होता है, अतः महावाक्य का लक्ष्यार्थ 'जहत्-अजहत्-लक्षणा' द्वारा प्राप्त होता है।

१.२.१ टिप्पन

शब्द की वह कौन सी ताकत है जो हमें अर्थ का बोध कराती है, इसका बहुत विस्तृत विचार हमारे आचार्यों ने किया है और उसके विस्तार में जाने के लिए एक बृहदाकार ग्रन्थ की ही आवश्यकता पड़ेगी। हिन्दीभाषी जिज्ञासुओं को कुछ सन्तोष आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी की पुस्तक लक्षणा और उसका हिन्दी साहित्य में प्रसार से हो सकता है जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा से छपी थी। दुर्भाग्यवश इस पुस्तक को छपे हुए पचास वर्ष से ऊपर हो गये हैं और समुचित प्रसार के अभाव के नाते यह अब दुर्लभ हो चली है। नमूने के तौर पर एकाध ऊहापोह नीचे दिये जा रहे हैं।

'गंगा में गाँव है' कहने का क्या अर्थ है! वक्ता का तात्पर्य इतना ही तो नहीं है कि 'गाँव गंगा

के किनारे बसा हुआ है', वह वस्तुतः यह बताना चाहता है कि 'यह गाँव रहने के लिए एक पवित्र स्थान है'; यह तात्पर्य कैसे निकलेगा? साहित्य-शास्त्री यह कहते हैं कि एक वृत्ति से अनेक अर्थ नहीं निकलते- शक्यार्थ इतना ही है कि 'गंगा में गाँव है', इसके आगे 'गाँव गंगा के किनारे है' का अर्थ लक्षणा-वृत्ति से निकलता है जो इतना बताकर विरत हो जाती है, और इसके आगे 'यह गाँव एक पवित्र स्थान है' का अर्थ 'व्यंग्य अर्थ' है जो एक तीसरी ही वृत्ति से निकलेगा जिसे 'व्यंजना' कहते हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र' में ध्वनि-सिद्धान्त ने कुछ आचार्यों की असहमति के बावजूद अपना वर्चस्व बनाये रखा है और फलतः यह मान्यता लगभग सर्वस्वीकृत-सी है कि काव्यार्थ के लिए व्यंजना अनिवार्य है। नैयायिक इस वृत्ति को नहीं स्वीकार करते और वैयाकरणों में नागेश भट्ट को छोड़कर प्रायः सबने इस वृत्ति का अस्वीकार ही किया है। अद्वैत-सिद्धान्त में इसके स्वीकार या अस्वीकार का आग्रह नहीं है।

यहाँ शक्यार्थ की 'अनुपपत्ति' पर भी विचार करना चाहिए। मान लीजिए कोई नौजवान किसी ऐसे व्यक्ति के यहाँ भोजन करने जा रहा है जो उसके पिता का शत्रु है और पिता रुष्ट होकर अपने उस नौजवान बेटे से कहता है, 'ठीक है, ज़हर खा ले' तो यहाँ पर शक्यार्थ में वैसी अनुपपत्ति नहीं है जैसी 'गंगा में गाँव है' में थी क्योंकि गंगा में गाँव होना असम्भव है जबकि विष का खाना असम्भव नहीं है; दूसरे शब्दों में, 'गंगा में गाँव है' में 'अन्वयानुपपत्ति' थी जो 'ज़हर खा ले' में नहीं है; यहाँ पिता का तात्पर्य है, 'उसके यहाँ भोजन मत कर'। इस प्रकार शक्यार्थ की अनुपपत्ति वक्त के तात्पर्य से निर्धारित होती है, और हमें 'तात्पर्यानुपपत्ति' के आधार पर ही लक्ष्यार्थ की ओर बढ़ना चाहिए। यह 'तात्पर्यानुपपत्ति' 'गंगा में गाँव है' वाले वाक्य में भी है ही। कई आचार्य तात्पर्यानुपपत्ति को आवश्यक मानते हैं, कुछ अन्य आचार्य यह कहते हैं कि अन्वयानुपपत्ति पर्याप्त है।

'द्वि-रेफ' शब्द पर बहुत विचार हुआ है। इसका शक्यार्थ है 'वह शब्द जिसमें दो र-कार हों' किन्तु यद्यपि 'शर्करा' में भी दो र-कार हैं, 'द्वि-रेफ' कहने से 'भ्रमर' ही समझा जाता है। कुछ लोग यहाँ 'रूढ़-लक्षणा' मानते हैं, कुछ अन्य यह कहते हैं कि इसे ही शक्यार्थ मान लेना चाहिए, कुछ अन्य का कहना है कि समास होने पर भी एक नवीन अर्थ निकल आता है। जैसा पहले ही कहा गया है, सभी तर्कों को समेटने के लिए एक पूरा ग्रन्थ ही चाहिए।

१.३ 'लक्ष्यार्था, लक्षणागम्या'

इस प्रकार भास्कर राय के अनुसार 'भक्ति-गम्या' का अर्थ हुआ 'लक्षणा-गम्या', वह परा देवता जो भक्ति से अर्थात् लक्षणा से जानी जाती है। इसके समर्थन में उन्होंने ललिताम्बात्रिशती से 'लक्ष्यार्था, लक्षणागम्या' उद्धृत किया है, अर्थात् उनका यह कहना है कि इस ग्रन्थ में दिये गये देवी के तीन सौ नामों में से दो नाम 'लक्ष्यार्था' तथा 'लक्षणागम्या' हैं जो उनके कथन के प्रमाण के रूप में माने जा सकते है।

'भक्ति = लक्षणा' के समीकरण को 'भक्ति-सिद्धान्त = अद्वैत-सिद्धान्त' के समीकरण में

बदलने का यह प्रयास चमत्कारी है और इसकी तार्किकता सुसंगत है किन्तु जिज्ञासु एक बात से चौंक सकता है- ललिताम्बात्रिशती पर भगवत्पाद का एक भाष्य उपलब्ध है और उसमें 'लक्षणागम्या' को 'लक्षणा-गम्या = लक्षणा से जानी जाने वाली' नहीं, अपितु 'लक्षणा-अगम्या = लक्षणा से न जानी जा सकने वाली' के रूप में समझा गया है। यह तत्काल बताना आवश्यक है कि इससे यह न समझना चाहिए कि भगवत्पाद को यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं था कि महावाक्य का अर्थ जहत्-अजहत्-लक्षणा से प्राप्त होता है क्योंकि यहीं पर उन्होंने यह भी कहा है कि वेदान्त-मत में इसे स्वीकार करना अनिवार्य है। इसके ठीक पहले के नाम 'लक्ष्यार्था' का अर्थ भगवत्पाद ने अपने भाष्य में यही किया है कि देवी महावाक्य का अर्थ है जो जहत्-अजहत्-लक्षणा से प्राप्त होता है। इस प्रकार भगवत्पाद ब्रह्म-चैतन्य को 'लक्षणा से गम्य' और 'लक्षणा से अ-गम्य' दोनों ही कह रहे हैं और यह एक अ-समंजस की स्थिति है जिससे उबरना 'भक्ति' को समझने में भी सहायक होगा।

ब्रह्म को लक्षणा से कैसे जाना जा सकता है इसे अभी तक की चर्चा में स्पष्ट किया जा चुका है, अब यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि यह क्यों कहा जाता है कि ब्रह्म को लक्षणा से नहीं समझा जा सकता। भगवत्पाद ने इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि ब्रह्मज्ञान नित्य है और इसलिए लक्षणा (या अन्य किसी भी शब्द-वृत्ति) से जन्य नहीं है। इसी बात को दूसरी तरह से समझाते हुए उन्होंने कहा है कि ब्रह्म स्वयम्प्रकाश है और किसी से प्रकाश्य नहीं है इसलिए उसे लक्षणा से गो-चर (= नज़र में आया हुआ) नहीं कह सकते। यह तर्क तो मन में बैठता है किन्तु फिर 'लक्ष्यार्था' का स्वीकार कैसे संगत होगा?

इसको समझने की कोशिश में हम आश्चर्यवत् ... (भगवद्गीता २-२९) पर मधुसूदन सरस्वती जी की टीका के महामहोपाध्याय हरिहरकृपालु द्विवेदी द्वारा किये गये हिन्दी अनुवाद (जो स्वयम् एक विस्तृत व्याख्या के रूप में है) का सहारा ले सकते हैं।[२] प्रासंगिक चर्चा यह है : ब्रह्म को 'असंग' कहा गया है अतः उसमें कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और इसलिए वह किसी शब्द का वाच्य (= शक्य) नहीं है क्योंकि किसी भी शब्द के वाच्य में कोई न कोई धर्म (जाति, गुण आदि) अवश्य रहता है और ब्रह्म सभी धर्मों से रहित है। जब शक्यार्थ ही नहीं है तो लक्ष्यार्थ कैसे होगा जो शक्यार्थ का सम्बन्धी है? फिर भी (सर्वज्ञत्वादि विशेषताओं से) विशिष्ट 'तत्' और (अल्पज्ञत्वादि विशेषताओं से) विशिष्ट 'त्वम्' का ब्रह्म में काल्पनिक सम्बन्ध मानकर जहत्-अजहत्-लक्षणा द्वारा ब्रह्म-ज्ञान होता है, यह आश्चर्य है। अब प्रश्न यह है कि यदि ब्रह्म को 'असंग' कहा गया है जिसके नाते वह शक्यार्थ नहीं है तो फिर लक्ष्यार्थ भी वह नहीं हो सकता। इस आपत्ति को स्वीकार किया गया है और इसका समाधान यह कहकर भी नहीं कर सकते कि 'तात्पर्य' से इस वाक्य का अर्थबोध होगा क्योंकि जब किसी भी वृत्ति का संसर्ग ब्रह्म में नहीं है तो महावाक्य से ब्रह्मज्ञान कैसे होता है यह समझने के लिए अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य आदि वृत्तियों की छानबीन का कोई उपयोग नहीं है।

---

२. इस श्लोक के तात्पर्य पर मैंने एक लेख लिखा था जो सदानीरा पत्रिका में प्रकाशित है।

इसलिए मधुसूदन सरस्वती जी ने सुरेश्वराचार्य जी के मत को प्रमाण माना है और उनके बृहदारण्यकभाष्य-वार्तिक से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। इस मत का सारांश यह है: महावाक्य से ब्रह्म-ज्ञान वैसे ही होता है जैसे सोया हुआ देवदत्त 'देवदत्त, उठ' सुनकर उठ जाता है। ज़ाहिर है कि जब देवदत्त सोया हुआ है तो वह इस उद्बोधन-वाक्य का शक्यार्थ, लक्ष्यार्थ आदि नहीं समझता, फिर भी जाग जाता है। ब्रह्म-ज्ञान की तुलनीयता 'गो' का अर्थ 'गाय-पने की विशेषता वाला प्राणी' जानने से नहीं है, उसकी तुलना सोये हुए व्यक्ति के जागने से है।

इस प्रकार शब्द में अर्थ बताने की शक्ति वस्तुतः अ-चिन्त्य है, अभिधा, लक्षणा आदि वृत्तियों के बिना भी बोध हो जाता है।

परा देवता को 'लक्षणा-अगम्या' इसी अर्थ में कहा जायेगा। अब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि फिर परा देवता को 'लक्षणा-गम्या' कैसे कह सकते हैं? इसका एक ही समाधान है: मध्यमाधिकारी के लिए परा देवता के 'लक्षणा-गम्या' होने का उपदेश किया जाता है और उत्तमाधिकारी के लिए उसी परा देवता के 'लक्षणा-अगम्या' होने का। यहाँ यह स्मरण करना चाहिए कि जिसके लिए निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा तत्काल ग्राह्य है उसे 'उत्तमाधिकारी' इस चर्चा के प्रथम लेख में कहा गया था कि जिनके लिए निर्विशेष (= निर्गुण) ब्रह्म का उपदेश तत्काल ग्राह्य नहीं है उनके लिए पहले स-विशेष (= स-गुण) ब्रह्म का उपदेश किया जाता है; ये ही मध्यमाधिकारी हैं। निर्गुण ब्रह्म का जिसे तत्काल उपदेश किया जा सकता है, वह उत्तमाधिकारी है। इसी नाते लक्षणा-गम्या परा देता को ऊपर 'मायोपाधिक ब्रह्म-चैतन्य' कहा गया था, 'शुद्ध ब्रह्म-चैतन्य' नहीं। यह सुसंगत है क्योंकि शब्दार्थ-सम्बन्ध बताने वाली अभिधा, लक्षणा आदि वृत्तियाँ अन्तःकरण का परिणाम हैं और फलतः जहाँ तक वृत्ति पहुँच सकती है वहाँ तक ब्रह्म-चैतन्य अ-शुद्ध ही रहेगा क्योंकि उसकी अ-संगता खण्डित होगी।

अद्वैत का वास्तविक उपदेश परा देवता के 'लक्षणा-अगम्या' होने का ही है, परा देवता के 'लक्षणा-गम्या' होने का उपदेश उनके लिए है जो निर्विशेष ब्रह्म की अवधारणा कर पाने में तत्काल सक्षम नहीं हैं। 'भक्ति = लक्षणा' कहने से और इस प्रकार 'भक्ति-गम्या =लक्षणा-गम्या' स्वीकार करने पर प्रकारान्तर से यह स्थापना पुनः पुष्ट होती है कि भक्ति से सविशेष ब्रह्म की ही प्राप्ति हो सकती है, अर्थात् भक्ति से मोक्ष-लाभ परम्परया होता है, साक्षात् नहीं। अद्वैत की इस मान्यता की ओर इस चर्चा में पहले भी संकेत किया गया है: भक्ति, अर्थात् उपासना (मानसिक) कर्म है और भक्त इस कर्म से अपना मन शुद्ध करके ज्ञान का अधिकारी बन सकता है, ज्ञानी नहीं बन पायेगा।

२ भक्ति = उपासना ?

इस चर्चा का प्रारम्भ हमने 'भक्ति' और 'उपासना' को समानार्थी मानकर किया था किन्तु भक्ति-मीमांसा के स्वतन्त्र शास्त्र की स्वीकार्यता ने इन दोनों में भेद करना आवश्यक कर दिया। नित्याषोडशिकार्णव पर अपनी लिखी टीका सेतुबन्ध में भास्कर राय ने एवमेषा महाविद्या... (१-१२५) का व्याख्यान करते हुए इस विषय में यह लिखा है :

...सा चोपासना मानसक्रियाविशेषरूपा। जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तत्योगात् इति ब्रह्मसूत्रादौ तथाव्याख्यादर्शनात्। देवताविषयकोऽनुराग एवोपासनेति केचित्। तत्र भक्तिमानुपासीतेत्यादिविधौ भक्तेरुपासनातो भेदेन निर्देशानुपपत्तेः। अनुरागस्यैव भक्तिपदवाच्यत्वात्। अथातो भक्तिजिज्ञासा, सा परानुरक्तिरीश्वरे इति शाण्डिल्यसूत्रात्। तस्मादनुरागव्यावृत्ता क्रियैवोपासना। सा च द्विविधा-तन्त्रजपरूपा, तद्यन्त्रपूजा च। जप मानसे चेति धातुपास्मृत्या जपस्य मानसक्रियारूपत्वावगमात्। पूजाया अपि ध्यानादिरूपायास्तथात्वात्। उपचारसमर्पणरूपाया अपि न ममेत्याकारकमानससंकल्पैकरूपत्वात्।...

(जैसा कि जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तत्योगात् (ब्रह्मसूत्र १-१-३१) के भगवत्पादकृत भाष्य में बताया गया है, यह 'उपासना' एक विशेष मानसी क्रिया ही है। कुछ लोग कहते हैं कि देवता-विषयक अनुराग ही उपासना है। यह स्वीकार्य नहीं है, 'भक्ति-मान् ही उपासना करे' जैसे विधि-वाक्यों में 'उपासना' और 'भक्ति' के निर्देश पृथक् किये गये हैं। 'भक्ति' पद से 'अनुराग' ही वाच्य होता है, जैसा कि अथातो भक्तिजिज्ञासा, सा परानुरक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र १-१-१, २) से प्रमाणित है। इसलिए उपासना की क्रिया को अनुराग से अलग ही समझना चाहिए। उपासना की यह क्रिया दो प्रकार की होती है, एक तो देवी के मन्त्र के जप रूप में और दूसरी देवी के यन्त्र की पूजा के रूप में।

'जप' तो अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार ही मानसिक क्रिया है। 'पूजा' में ध्यान लगाना पड़ता है जो मानसिक क्रिया है। और जो उपासना धूप, दीप, नैवेद्य आदि द्रव्य-समर्पण से की जाती है, वह भी अन्ततः 'यह उस देव के लिए है, मेरे लिए नहीं' का संकल्प लिये जाने के नाते मानसिक क्रिया ही है।)

यह ध्यान रखना चाहिए कि यह नहीं कहा जा रहा है कि बिना भक्ति के देवोपासना की जानी चाहिए, यह कहा जा रहा है कि 'उपासना' बिना 'भक्ति' के नहीं की जानी चाहिए; 'भक्ति' को 'अनुराग' का वाचक मानने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आराध्य में प्रेम के बिना जप, ध्यान, धूप-दीप-नैवद्य आदि का समर्पण निरर्थक है। इस सिलसिले में एक उदाहरण यह दिया जाता है कि जैसे एक भृत्य का अनुराग उसकी पत्नी में होता है और वह बिना अनुराग के केवल अर्थ-लोभ से अपने स्वामी की सेवा कर सकता है, उसी प्रकार उपासना बिना भक्ति के हो सकती है किन्तु ऐसा होना नहीं चाहिए। यह स्पष्ट है कि मन्तव्य वही है जो 'मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा' का मन्तव्य है। चूँकि भास्कर राय का समय अठारहवीं सदी है इसलिए पौर्वापर्य के अनन्य अन्वेषक आधुनिक समालोचक यह कह सकते हैं कि यह बात उन्होंने मध्यकालीन भक्ति-साहित्य से ली किन्तु वस्तुतः भारतीय मन में यह हमेशा असन्दिग्ध रहा है। उदाहरण के लिए योगवासिष्ठ (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध, ३४-५०) में आया हैः पूजासु पूजकसुपूजनपूज्यरूपम् किंचिन्नकिंचिंदिव चित्तपदैकमूर्तिः (= पूजा में पूजक, पूज्य और पूजन यह सब कुछ भी नहीं है, केवल मनःकल्पना मात्र हैं; अर्थात् मन ही प्रधान

है)।

शाण्डिल्यभक्तिसूत्र के जिन सूत्रों का हवाला भास्कर राय ने दिया है उनकी भक्तिचन्द्रिका व्याख्या यह कहती है कि 'अनु-राग' में 'अनु' का तात्पर्य है 'भगवान् का गुणानुवाद सुनने के अनन्तर', अर्थात् जैसे लोक में किसी की प्रशंसा सुनकर उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है उसी प्रकार ईश्वर की प्रशंसा सुनकर ही ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है; यही अनु-राग भक्ति है। इस कथन की तुलना अद्वैत की इस साम्प्रदायिक मान्यता से करनी चाहिए कि महावाक्य के श्रवण के बाद (मनन, और फिर निदिध्यासन के अनन्तर) ब्रह्म-ज्ञान होता है।

'राग' अपने विलोम 'द्वेष' की ही तरह अन्तःकरण की एक प्रवृत्ति है, 'काम', 'क्रोध', 'लोभ' आदि भी अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ हैं। इस चर्चा के अन्तर्गत प्रकाशित द्वितीय लेख अनेकधा भक्ति में हम देख चुके हैं कि अन्तःकरण की इन प्रवृत्तियों में ही भक्ति का मूल खोजा गया है। सिद्धान्त के स्तर पर 'भक्ति' की इस परिभाषा को आत्मसात् करने में अद्वैत-वादियों को कोई कठिनाई नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४-५-६) में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहा है कि जो कुछ संसार में प्रिय होता है, अपने लिए ही प्रिय होता है; तात्पर्य यह कि मनुष्य को संसार में अगर किसी से परा अनुरक्ति है तो वह स्वयं से ही है और इस प्रकार उसका ईश्वर उससे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार 'नवधा भक्ति' जैसे भक्ति के बाह्यांगों को भी अद्वैत के भीतर समेट लिया गया हैः उदाहरण के लिए प्राचीन उपपुराणों में से अतिप्रसिद्ध सूत-संहिता[३] के यज्ञवैभव-खण्ड नामक चतुर्थ खण्ड के आठवें अध्याय के प्रारम्भ में ऊँ नमः शिवाय मन्त्र की व्याख्या दी हुई है जिसके अन्तर्गत (श्लोक-संख्या ६ से १२ तक में) बताया गया है कि 'शिव' शब्द सत्यज्ञानात्मक परब्रह्म का 'असम्पृक्ति' से वाचक है (जिसका तात्पर्य यह है कि यह अर्थ लक्षणा से प्राप्त होता है, अभिधा से नहीं) और 'नमः' शब्द से 'प्रव्हता' सूचित होती है (जिसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म और जीव का अभेदसम्बन्ध है)।

किन्तु व्यवहार के स्तर पर अन्तःकरण ही जीव को ईश्वर से अलग करता है और यह पार्थक्य भी भक्ति के व्यावहारिक अस्तित्व की अनिवार्य प्रतिज्ञा है। मधुसूदन सरस्वती जी ने भक्ति का शास्त्रीय ढाँचा तैयार करने वाले अपने ग्रन्थ भक्ति-रसायन में लिखा ही हैः

द्वैतम् मोहाय बोधात्प्राक्, जाते बोधे मनीषया
भक्तर्थम् कल्पितम् द्वैतम्, अद्वैतादपि सुन्दरम्।।

(ज्ञान होने से पहले द्वैत मोह का कारण होता है, जब बुद्धि द्वारा ज्ञान हो जाता है (और इस प्रकार द्वैत का मिथ्यात्व स्पष्ट होकर यह समझ में आ जाता है कि एकमात्र अद्वैत ही सत्य है) तब भक्ति के लिए कल्पित द्वैत का सौन्दर्य अद्वैत से भी अधिक है।)

---

३. यह शैव उपपुराण अद्वैत के बीजग्रन्थों में से एक माना जाता है और कहा जाता है कि भगवत्पाद ने इसे अठारह बार पढ़ने के बाद ही ब्रह्मसूत्र पर अपना भाष्य लिखा था।

सूत्र में इस अनुरक्ति के पहले 'परा' विशेषण भी लगा हुआ है और टीकाकर ने कहा है कि इसका तात्पर्य यह है कि कभी भी 'अलम्-बुद्धि' नहीं होती, अर्थात् कभी भी पर्याप्तता का बोध नहीं होता, मन नहीं भरता। इस 'परानुरक्ति' को समझाने वाला एक पद्य भी उन्होंने प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है:

काम्याप्तौ न विवर्तते, मम पुनः स्यादेधते किन्तु तत्
संयोगेऽपि वियोगलालनमितौ विश्लेषभीत्या मुहुः
मोषो यस्य न दोषतोऽपि रसताम् नीतो विभावादिभिः
भावः कोऽपि पराऽनुरक्तिरिति ताम् भक्तिम् जगौ सूत्रकृत्।।

(सूत्रकार ने 'परा अनुरक्ति' को 'भक्ति' बताया है। इसका तात्पर्य यह है कि काम्य की प्राप्ति होने पर भी यह दूर नहीं होती अपितु 'यह काम्य मुझे फिर मिले' की चाहत बढ़ती ही जाती है, साथ ही उस काम्य से संयोग के समय भी बिछुड़ने के भय से वियोग के दुलार की ही नापजोख चलती रहती है। यह परा अनुरक्ति प्रिय के अपराधों के नाते भी समाप्त नहीं होती। यह परा अनुरक्ति विभाव आदि के द्वारा रसत्व को प्राप्त होती है (और उस रस का नाम 'भक्ति-रस' है)।

यह चैतन्य महाप्रभु के अचिन्त्यभेदाभेदवाद का साम्प्रदायिक सिद्धान्त है और वहाँ इस भाव के लिए 'प्रेम-वैचित्र्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि 'काम' का जो सामान्यतः दोष माना जाता है, अर्थात् उसकी यह विशेषता कि वह भोग से शान्त नहीं होता अपितु उसी प्रकार बढ़ता है जिस प्रकार हवन-सामाग्री डालने पर आग बढ़ती है, वही इस 'भक्ति' नाम से जानी जाने वाली 'परा अनुरक्ति' का अभिलक्षण है। कुल मिलाकर यही निष्कर्ष निकलता है कि जो आसक्ति लौकिक प्रियपात्र के प्रति होने पर निन्दनीय मानी जाती है वही ईश्वर के प्रति होने पर वन्दनीय हो जाती है। इसका आशय यह है कि लौकिक प्रेम में अन्तःकरण की प्रवृत्तियों का विषय कोई मनुष्य होता है जब कि इसके विपरीत 'भक्ति' में अन्तःकरण की प्रवृत्तियों का विषय ईश्वर है और इस प्रकार भक्ति 'अ-लौकिक प्रेम' है।

हमें उस फलक की पड़ताल करनी होगी जिसे अपनी कठोर वैचारिकता की कसावट को बिना शिथिल किये ही अद्वैत के आचार्यों ने इतना लचीला बनाया कि उसमें याज्ञिक उपासना से लेकर भावाविष्ट देवरति तक का समाहार हो सका। इस कड़ी के आगे आने वाले लेखों में हम इसपर एकाग्र रहेंगे।

हिन्दी भक्ति साहित्य : बांग्ला दृष्टि

महेन्द्र प्रसाद कुशवाहा एवं शान्तनु बनर्जी

भूमिकाः

हम अपनी बात की शुरुआत कुछ प्रश्नों के माध्यम से करना चाहते हैं। यह दावा हम नहीं करते कि आगे चलकर इन प्रश्नों का जवाब हम दे देंगे, फिर भी प्रश्न करना चाहते हैं। प्रश्न पूछना हमें इसलिए ज़रूरी लगता है कि इन सवालों के माध्यम से नए सिरे से सोचने और विचार करने का उत्साह हमें मिलता है। शायद यही उत्साह आने वाले दिनों में इन सवालों का जवाब खोज सके। इसी आशा के साथ कुछ सवालों को क्रमबद्ध रूप से हम रखने की कोशिश कर रहे हैं-

१. क्या हम लोगों ने कभी हिन्दी साहित्य के विकास में अहिन्दी भाषी भारतीय विद्वानों के योगदान पर गम्भीरतापूर्वक सोचा है? खासकर बंगाल और बांग्ला भाषा से सम्बन्धित विद्वानों के योगदान को लेकर।

२. आचार्य क्षितिमोहन सेन ने मध्यकाल और कबीर को लेकर लिखा, रबीन्द्रनाथ टैगोर ने कबीर की कविताओं का अनुवाद किया, इसको छोड़कर क्षितिमोहन सेन ने जायसी, दादू और तुलसीदास पर लिखा है; रबीन्द्रनाथ ने हिन्दी भक्ति साहित्य पर लिखा है, क्या हमने उसे गम्भीरता से देखा-परखा है?

३. प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार अवनीन्द्रनाथ टैगोर और प्रसिद्ध भारतीय शास्त्रीय संगीतकार एवं गायक दिलीप कुमार राय ने क्रमशः कबीर और मीरा को जिस दृष्टि से देखा है, क्या हमने उस पर कभी इत्मीनान से सोचा-विचारा है?

४. क्या हम जानते हैं कि रबीन्द्रनाथ और उनकी परिधि (सर्किल) के लेखकों को छोड़कर हिन्दी के भक्ति साहित्य को जानने और समझने की एक और परम्परा बांग्ला में रही है, जिसकी शुरुआत बंकिमचन्द्र के जयदेव और विद्यापति पर लिखे निबन्धों से होती है? शायद इसी परम्परा में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, नौआखाली के दिनों में गाँधीजी के सचिव रहे सतीशचन्द्र दासगुप्ता, काज़ी नज़रुल इस्लाम के मित्र और समकालीन पत्रकार शंकरनाथ राय और बांग्ला साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार सुकुमार सेन भी शामिल हैं।

५. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के गुरुतुल्य आचार्य क्षितिमोहन सेन ने तुलसीदास पर लिखते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना-दृष्टि की प्रशंसा की है। क्या हम इससे भलीभाँति परिचित हैं?

हिन्दी साहित्य को जितना हम लोगों ने पढ़ा और जाना है, इनमें से ज़्यादातर प्रश्नों के उत्तर उसमें नहीं मिलते। ये हमारी सीमा हो सकती है। पर इन दिनों एक प्रोजेक्ट के सिलसिले में इन लेखों से गुज़रते हुए हमें महसूस हुआ कि हिन्दी साहित्य की आलोचना सिर्फ़ हिन्दी भाषा तक सीमित नहीं रही है। हिन्दी से इतर अन्य भारतीय भाषा और संस्कृति में भी इस पर बड़े आत्मीय ढंग से विचार किया गया है। आज जिस दौर से हम गुज़र रहे हैं उसमें हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तानी हमारी इस पहचान को जबरन हमारे ऊपर थोपा जा रहा है, और जब ये पहचान हमारे ऊपर जबरन थोपी जा रही है, ऐसे में हमें लगता है कि इन विषयों पर बात करने की बहुत सख्त ज़रूरत है। देश की जो हमारी अवधारणा है, उसमें विविधता सर्वप्रमुख है। इस विविधता का सबसे अच्छा उदाहरण यही है कि अलग होकर भी हम एक हैं। भाषा और संस्कृति हमारी अलग है, पर चिन्ता एक है।

बांग्ला में हिन्दी के भक्ति साहित्य पर चिन्तन की दो धाराएँ हमें दिखती हैं। एक बंकिमचन्द्र समूह की धारा और दूसरी रबीन्द्र समूह की धारा। अभी हमने जिन विद्वानों और उनके लेखों की ओर संकेत किया है, उनका सम्बन्ध इन्हीं धाराओं से है। ऐसा नहीं है कि हिन्दी के विद्वानों को इन धाराओं की जानकारी नहीं है। जानकारी तो है, पर पूरी तरह से नहीं, आधी-अधूरी। ज़रूरत है उसे मुक्कमल ढंग से जानने और परखने की। तभी हम हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य के अखिल भारतीय स्वरूप को ठीक से समझ सकेंगे। इन्हें हम निम्न बिन्दुओं से समझ सकते हैं-

बंकिमचन्द्र सर्किल का चिन्तनः

रबीन्द्रनाथ और क्षितिमोहन से बहुत पहले साहित्य सम्राट बंकिमचन्द्र चटोपाध्याय ने जयदेव और विद्यापति पर लिखकर हिन्दी के भक्ति साहित्य को नयी दृष्टि से देखने की कोशिश की है। उक्त लेख में स्पष्ट रूप से बंकिमचन्द्र ने साहित्य को सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के साथ जोड़ते हुए बांग्ला वैष्णव काव्य को सामाजिक आधार प्रदान किया है। इन वैष्णव काव्यों का उद्भव और विकास उन्होंने आर्य और अनार्य संस्कृति के मेल-बन्धन से माना है, जो उचित लगता है। जयदेव और विद्यापति पर बात करते हुए उन्होंने इन दोनों वैष्णव कवियों को अलग-अलग धाराओं के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया है। वे ऐसा इसलिए नहीं स्वीकार करते कि जयदेव की कविता संस्कृत में है और विद्यापति की मैथिली में, बल्कि उनके अनुसार वे एक-दूसरे से अलग हैं क्योंकि जयदेव ऐन्द्रिय जगत के कवि हैं और विद्यापति मानसिक जगत के। कविता लिखते समय कवि अपने अन्तर्मन को बाह्य दुनिया से और बाह्य दुनिया को अपने अन्तर्मन से जोड़कर दिखाने की कोशिश करता है। बंकिमचन्द्र का यह मानना है कि जिस तरह अंग्रेज़ी रोमांटिक कवि विलियम वर्ड्सवर्थ की कविता में

कवि का अन्तर्मन बाह्य दुनिया पर हावी है, उसी तरह जयदेव की कविता में बाहरी दुनिया ने कवि के अन्तर्मन को अपने काबू में कर रखा है। उनके अनुसार विद्यापति इन दोनों से ऊपर हैं क्योंकि उनकी कविता में अन्तर और बाह्य जगत का अनोखा मेल हुआ है। गौरतलब है कि इस निबन्ध में बंकिमचन्द्र ने विद्यापति को एक धार्मिक कवि के रूप में नहीं, बल्कि एक कवि के रूप में रेखांकित किया है और युवा रबीन्द्रनाथ पर उनका प्रभाव माना है। यह सही है कि रबीन्द्रनाथ ने आगे चलकर कबीर आदि निर्गुण भक्त कवियों को ज़्यादा महत्व दिया है, लेकिन अपने युवाकाल में विद्यापति का अनुसरण करते हुए उन्होंने 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' और प्रमुख वैष्णव कवियों की कविताओं का संकलन 'पद रत्नावली' का सम्पादन किया था।

संस्कृत और पाली के प्रकाण्ड विद्वान और पुरातात्विक महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री सम्भवतः बंकिमचन्द्र के सबसे योग्य उत्तराधिकारी रहे हैं। मध्यकाल और भक्ति साहित्य पर उन्होंने दो महत्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। इसमें से पहला विद्यापति और उनकी कीर्तिलता पर है, जिसमें शास्त्रीजी ने विद्यापति को एक व्यक्ति, सभासद और कवि के रूप में देखते हुए, उनके सारे पद और कीर्तिलता को एक समाजेतिहासिक दस्तावेज़ और मानवीय भावों से पूर्ण कृति बताया है। विद्यापति बांग्ला और मैथिली, दोनों भाषाओं के प्रमुख कवि हैं। शास्त्रीजी ने उनके कीर्तिलता का सम्पादन करते हुए साहित्य की ऐतिहासिकता को इतिहास के साहित्यिक रूप के साथ जोड़कर देखा है। अपने दूसरे लेख में उन्होंने भक्ति आन्दोलन और मध्यकालीन साहित्य पर महाजनी, बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रभाव को रेखांकित किया है।

सतीशचन्द्र दासगुप्ता और शंकरनाथ राय उम्र में हरप्रसाद शास्त्री से काफ़ी छोटे थे। लेकिन बंकिम परम्परा को अपनाते हुए उन्होंने भी हिन्दी सगुण भक्ति साहित्य के सौन्दर्य, नैतिकता और सामाजिक परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण तुलसीदास और मीराबाई के सन्दर्भ में किया है। रबीन्द्रनाथ और क्षितिमोहन सेन मध्यकालीन निर्गुण भक्ति काव्य के सामाजिक-क्रान्तिकारी दृष्टि के प्रति ज़्यादा आकृष्ट थे जबकि बंकिम की परम्परा इनसे कुछ हटकर थी। सतीशचन्द्र दासगुप्ता 'रामचरितमानस' के सबसे अच्छे बांग्ला अनुवादक के रूप में ख्यात हैं। अपने अनुवाद की लम्बी भूमिका में उन्होंने न सिर्फ़ तुलसीदास के चरित्र निर्माण कला की बात की है, बल्कि इस महाकाव्य के दर्शन, नैतिक मूल्य, आदर्श और यथार्थ का अनोखा मेल आदि पर विस्तार से लिखा है। इसके साथ-साथ उन्होंने इसमें यह भी स्पष्ट किया है कि क्यों बांग्ला भाषा में ऐसा काव्य नहीं है। शंकरनाथ राय ने पाँच खण्डों में 'भारतेर साधक' और दो खण्डों में 'भारतेर साधिका' लिखते हुए बांग्ला भाषी समाज में भारतीय मध्यकालीन सन्तों की स्मृति को जागृत रखने की कोशिश की है।

इसी परम्परा में दिलीप कुमार राय को भी हम रख सकते हैं जिन्होंने आधुनिक भारत में मीरा के भजनों को गाने की कला को संजोने का अद्‌भुत प्रयास किया है। वे एक रहस्यवादी लेखक और

दार्शनिक थे। ऐसा माना जाता है कि वे अपनी शिष्या इंदिरा देवी के माध्यम से मीरा के कंठ-स्वर को सुनने में सक्षम थे। इसी से प्रभावित होकर उन्होंने मीरा के आध्यात्मिक जीवन पर एक अनोखे नाटक की रचना की है, हिन्दी सिनेमा के माध्यम से उनके भजनों को लोगों के सामने लाने का सराहनीय प्रयास किया और एम.एस. सुबुलक्ष्मी जैसी शिष्या एवं संगीतशास्त्र के निबन्धों के माध्यम से मीरा की कविता और जीवन को विवेचित-विश्लेषित किया है।

टैगोर सर्किलः

ये माना जाता है कि टैगोर की मानवीयता की अवधारणा १९३० में उनके द्वारा ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में दिए गए 'हिबर्ट लेक्चर' के माध्यम से सामने आती है। कुछ लोगों का मानना है कि इस व्याख्यान से बहुत पहले उनके कबीर के अनुवाद से उनकी मानवीयता की अवधारणा लोगों के सामने आती है। जो भी हो, कबीर के अनुवाद और 'हिबर्ट लेक्चर', दोनों क्षितिमोहन सेन के हिन्दी मध्यकाल और भक्ति साहित्य के शोध पर आधारित है। इसे स्वयं रबीन्द्रनाथ ने भी स्वीकार किया है। लेकिन इससे भी ज़्यादा मज़े की बात ये है कि १९१२ ई. में जब रबीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' का अंग्रेज़ी अनुवाद डब्ल्यू.बी. येट्स लन्दन में पढ़ रहे थे, उसके ठीक दो दिन पहले शान्ति निकेतन के अध्यापक सम्मेलन में क्षितिमोहन सेन जायसी और उनकी 'पद्मावत' पर अपना वक्तव्य रख रहे थे। इस वक्तव्य का आधार उनके गुरू सुधाकर द्विवेदी और प्रोफ़ेसर ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित जायसी का 'पद्मावत' था। क्षितिमोहन सेन ने उस वक्तव्य में जायसी को कबीर की मानवीय परम्परा का कवि बताते हुए, उन्हें गुरू रूप में स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, वे उनकी प्रतिभा की तुलना एकमात्र तुलसी से करना उचित मानते हैं। उन्होंने माना है कि एक मुसलमान कवि होने के नाते जायसी ने राम और कृष्ण को अपनी कविता के विषय के रूप में भले ही न चुना हो, लेकिन चिश्तिया-निज़ामिया-सूफ़ी घराने के पीर होने के कारण योगशास्त्र के सारे रहस्यों की जानकारी उन्हें थी।

रबीन्द्रनाथ ने दादू पर क्षितिमोहन सेन की पुस्तक की भूमिका लिखी है। इस भूमिका में मूलतः 'दादू' और 'कबीर' की सामाजिक क्रान्ति की दृष्टि को उन्होंने आधुनिक भारत में राजा राम मोहन रॉय की ब्रह्मसभा की प्रगतिवादी दृष्टि से जोड़ा है। मध्यकाल के भक्तिकालीन कवियों के पदों में रबीन्द्रनाथ हमेशा एक खास किस्म की मानवीय आधुनिकता ढूढ़ते रहे और अपनी इस भूमिका में उन्होंने हिन्दी मध्यकालीन कवियों के ऋण को साफ़ शब्दों में स्वीकार किया है। न तो क्षितिमोहन ब्रह्मसमाजी थे और न ही तुलसीदास और सगुण भक्ति परम्परा के प्रति उनके मन में कोई असन्तोष था। हालाँकि, युवा हजारीप्रसाद द्विवेदीजी को उन्होंने अपने साथी के रूप में पाया ज़रूर था, लेकिन अपनी 'दादू' पुस्तक में तुलसीदास की कद-काठी को मापने के लिए उन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी की नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित तुलसी ग्रंथावली की भूमिका का सहारा लिया है। हिन्दी के विद्वान अब तक द्विवेदीजी और क्षितिमोहन सेन जी के सम्बन्धों को लेकर एक नयी चर्चा शुरू की जाय।

रबीन्द्र समूह के विद्वानों में उनके भतीजे और मशहूर चित्रकार अवनीन्द्रनाथ टैगोर प्रमुख हैं। हिन्दी भाषा के बाहर हिन्दी साहित्य पर जो चर्चाएँ हुई हैं, उसके परिणाम कितने बहुमूल्य हो सकते हैं, ये उनकी 'बागीश्वरी' शिल्प निबन्धावली के माध्यम से जाना जा सकता है। जब तक उन निबन्धों से कबीर की आलोचना हिन्दी में अनुदित नहीं हो जाती, हिन्दी साहित्य के विद्वानों के लिए यह जानना असम्भव होगा कि कैसे मध्यकाल और भक्ति साहित्य के बिना आधुनिक भारतीय चित्रकला और 'भारत कला' की अवधारणा असम्भव थी। अवनीन्द्रनाथ टैगोर के बंगाल स्कूल ऑफ़ पेंटिंग का मुख्य आदर्श कबीर के पदों से ही संगृहीत है। गौरतलब है कि क्षितिमोहन सेन की दृष्टि से अवनीन्द्रनाथ की दृष्टि बिलकुल अलग है, जबकि दोनों रबीन्द्र समूह के विद्वान हैं। दोनों को एक साथ पढ़ने पर ये समझ में आता है कि किस तरह से बांग्ला में अलग-अलग विधाओं की दृष्टि से हिन्दी में मध्यकालीन साहित्य की आलोचना की गयी है। इन्हें पढ़ने पर ऐसा महसूस होता है कि हिन्दी भाषा ने भी इतने विविध दृष्टिकोणों से मध्यकाल और भक्ति साहित्य पर बात नहीं की है, जितने दृष्टिकोणों से बांग्ला में इन पर विचार किया गया है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कहना चाहते हैं कि हिन्दी के भक्ति साहित्य पर जो विचार बांग्ला में हुआ है, उसकी सम्पूर्ण जानकारी अभी तक हिन्दी में उपलब्ध नहीं है। हम जितना जानते हैं, उससे बहुत अधिक अभी भी जानना बाक़ी है। जब हम इसे मुक़म्मल रूप में जानेंगे तो हिन्दी और बांग्ला के अन्तरंग रिश्तों को ठीक से समझ पाएँगे। अतः इसे एक बार फिर से देखने और समझने की ज़रूरत है।

सन्दर्भः

१. हिन्दी साहित्य के भक्ति काल पर रबीन्द्रनाथ टैगोर का लेख।

२. जयदेव और विद्यापति पर बंकिमचन्द्र चटोपाध्याय और हरप्रसाद शास्त्री का लेख।

३. तुलसीदास पर सतीशचन्द्र दासगुप्ता और क्षितिमोहन सेन का लेख।

४. कबीर पर अवनीन्द्रनाथ टैगोर का लेख।

५. मीरा पर दिलीप कुमार राय और शंकर प्रसाद राय का लेख।

६. जायसी पर क्षितिमोहन सेन और सुकुमार सेन का लेख।

कहानी और जीवन

जयशंकर

आप में से कुछ ने कभी महसूस किया होगा कि कहानी नाम की कोई चीज़ हमारे बचपन से ही हमारे पास आने लगती हैं। शब्दों से बनती एक जादुई चीज़, जिसे हम अपने दादा-दादी, नाना-नानी, माता-पिता या मामा-बुआ से रात में सोने के पहले सुनते आये थे। हममें से बहुत की यादों में बचपन में सुनी गयी उन कहानियों का कोई बूढ़ा जादूगर होगा, घने जंगलों का सन्नाटा और डर होगा, जादुई लैम्प और समुद्री तूफ़ान होगा, साधु के वेश में भिक्षा मांगता राक्षस या नदी को जहरीला बनाता भयानक नाग होगा।

कहानी बहुत दूर से आती है। उसकी शक्ल में कुछ रहस्यमयी अलौकिक और दिलचस्प-सा छिपा होता है। वह हमारा मनोरंजन करने के लिए आती है लेकिन सिर्फ़ मनोरंजन करने के लिए ही नहीं, जीवन और जगत को जानने-पहचानने की हमारी जिज्ञासाओं को बढ़ाने, मानवीय जीवन के लिए हमारे प्रेम को बढ़ाने, अच्छे-बुरे का फ़र्क समझाने और इस तरह न जाने कितनी-कितनी बातों के कारण वह हमारे पास आती है।

अगर यह सच है कि कहानी के बुनियादी धर्म में हमें जीवन से प्रेम करना सीखाना भी एक है तब यह मानना ही होगा कि कहानी और जीवन का अन्तरंग रिश्ता रहता आया है और रहता रहेगा। मैं कहानी और मानवीय जीवन के इस अटूट रिश्ते के बारे में थोड़ा-सा कुछ समझने-समझाने की कोशिश करना चाहूँगा।

इतनी बड़ी और इतनी पुरानी दुनिया में हज़ारों भाषाएँ पलती-पनपती रही हैं, कितनी ही सभ्यताओं का विकास हुआ है, तरह-तरह की भौगोलिक परिस्थितियाँ हैं और किस्म-किस्म के जीवन जीने के ढंग और दृष्टिकोण। अपनी शुरुआत से ही कहानी के अलग-अलग, किस्म-किस्म के रूप रहते आये हैं और आज भी हमें देशकाल के सन्दर्भ में कहानी के अलग-अलग रूप नज़र आते हैं। चेखव की कहानी कुछ और है, मोपासाँ की कहानी कुछ और। प्रेमचन्द की कहानी अपने ढंग की है तो निर्मल वर्मा की कहानी अपने ढंग की।

कहानी का ऐसा बहुलतावादी-जनतान्त्रिक रूप इसीलिए भी हमारे सामने आता है क्योंकि कहानी का अपना जन्म ही अलग-अलग देशों में, अलग-अलग वक़्त में, अलग-अलग परिस्थितियों में,

अलग-अलग मनःस्थितियों के लोगों द्वारा होता है। बहुत पहले कहानी कहने वाले समुदाय अलग हुआ करते थे और बाद के बरसों में कहानी लिख रहे अलग-अलग व्यक्ति, जिन्हें हम कथाकार कहते हैं।

यहाँ जीवन जीने के लिए ज़रूरी बहुलतावादी और जनतान्त्रिक ढंग को कहानी में भी ले आने की बात उठती नज़र आती है। हमारा जीवन को देखने का ढंग ही हमारे कहानी लिखने के ढंग को प्रभावित करता जान पड़ता है। इसीलिए हमारी इस दुनिया में तरह-तरह की कहानियाँ हैं और इनको पालने-पोसने वाले तरह-तरह के जीवन। यहाँ मैं कहना चाहूँगा कि कथाकार जितने अलग-अलग ढंग से जीवन को देख पायेगा, उतनी अलग-अलग कहानियाँ लिख पायेगा, उतने अलग-अलग तरीकों से कहानी लिख सकेगा। यहाँ मैं हर कथाकार के अपने personal porspective की अनिवार्यता की बात उठा रहा हूँ। अगर किसी भी एक खास किस्म की कहानी से दुनिया का काम चल जाता, तब दुनिया में इतनी कहानियाँ आती ही क्यों, मनुष्यों को इतनी कहानियों की ज़रूरत ही क्यों पड़ती थी? इस बात से समझ में आता है कि अगर कहानी तरह-तरह की जिज्ञासाओं को हम मनुष्यों के भीतर पैदा करती रही है तो खुद भी तरह-तरह की जिज्ञासाओं से पैदा होती रही है। सदियों से इस सृष्टि में जन्म लेती, पलती-बढ़ती मानवीय आकांक्षाएँ, मानवीय जिज्ञासाएँ और मानवीय कामनाएँ ही इतनी ज़्यादा, इतनी अलग-अलग, इतनी अमूर्त, रहस्यमय जटिल और अन्तहीन रहती आयी हैं कि इनसे बाहर आती कहानी का जटिल, अमूर्त, रहस्यमय और अन्तहीन होना सहज जान पड़ता है।

कहानी का जन्मदाता एक आदमी ही होता है और अगर उसकी अपनी कामनाएँ होती हैं तब उसकी सीमाएँ भी, एक कथाकार कुछ कर पाता है, कुछ कर नहीं भी पाता और उसके आधे-अधूरे काम को कोई दूसरा कथाकार कर पाता है। मोपासाँ जो नहीं कर पाते हैं, उसे चेखव करते हैं और चेखव से जो नहीं बना, वह कथाकार मोपासाँ से बन जाता है। आखिर एक कथाकार आपको वही कुछ दे सकता है जो उसके अपने पास है। ज़रूरी नहीं कि लेखक जो कुछ अपने पाठक को दे रहा है, उसकी पाठक को ज़रूरत है। लेखक की अपनी जिज्ञासाएँ और ज़रूरतें हो सकती है और पाठक की अपनी जिज्ञासाएँ और ज़रूरतें।

यह भी हो सकता है कि किसी पाठक को अपने लिए, अपनी पसन्द की कोई कहानी पढ़ने के लिए नहीं मिलती है और वह अपने लिए, अपनी कोई कहानी लिखना शुरू कर देता है। इसी तरह संसार में नये-नये कथाकार आते रहते हैं, नयी-नयी कहानियाँ आती रहती हैं। यहाँ हम कहानी और जीवन के बीच की एक और समानता को महसूस कर सकते हैं कि जिस तरह इस संसार में न सब लोग हमारे होते हैं और न ही हम सबके लिए होते हैं, उसी तरह न हर कहानी हमारे लिए होती है और न हम हर कहानी के लिए। जीवन की ही तरह, कहानी की अपनी सम्भावनाएँ होती हैं और अपनी सीमाएँ। और इसीलिए जैसे मानवीय जीवन अलग-अलग जीवन के टुकड़ों से एक समूचे सम्पूर्ण जीवन के रूप में खड़ा हो पाता है, वैसे ही दुनिया भर के अलग-अलग लेखकों की अलग-अलग भाषाओं की कहानियाँ मिलकर, कहानी का अपना सम्पूर्ण-समूचा रूप गढ़ पाती होंगी। मानवीय जीवन

की विविधताएँ, विभिन्न किस्म की कहानियों में विभिन्न ढंग से व्यक्त हो पाती होंगी।

एशिया और अफ़्रिका के लोगों में कहानी सुनाने की परम्पराएँ पश्चिमी देशों की तुलना में ज़्यादा लम्बी रही। इससे इन महाद्वीपों के देशों में कहानी कहना ज़्यादा दिनों तक सामुदायिक कर्म रहा। कहानी लिखने-पढ़ने की जगह, सुनने-सुनाने की चीज़ बनी रही थी। इन जगहों पर छापेखाने देर से आये। पढ़ने-पढ़ाने का काम देर से हुआ। पत्र-पत्रिकाएँ देर से निकली। किताबें थी ही नहीं। मौखिक परम्पराओं की उपस्थितियों के कारण, बीसवी सदी में इन इलाकों से जो लेखक आये उन्होंने आधुनिक कहानी को अपनी मौखिक परम्पराओं से मिले हुए तत्वों की वजह से नये आयाम दिये। कहानी कहने के नये ढंगों का आविष्कार किया। इसीलिए आज भी एशिया और अफ़्रीका से आये कुछ लेखकों की कहानियाँ हमें इतनी ज़्यादा अलग, विशिष्ट किस्म का स्वभाव, अलग तरह की संरचना तो हुई नज़र आती है। अफ़्रीकी लेखक चिनुआ अचीबे के गद्य में आते हुए कुछ तत्व इसीलिए भी हमें इतना कुछ नया मौलिक देते हुए जान पड़ते हैं।

हमारे अपने देश में भी कहानी को एक लम्बे औपनिवेशिक दौर से गुज़रना पड़ा था। भारतीय कहानियों ने पराधीनता के परिवेश को सहा था और पराधीनता की पीड़ा को महसूस किया था। उस दौर के लेखकों को जाति, धर्म और लिंग के विभाजनों से आती बुराइयों को भी जाँचना-परखना था। प्रेमचन्द, प्रसाद और निराला की कहानियों में इसीलिए हमें सामाजिक सुधार आन्दोलनों की छवियाँ नज़र आती हैं। प्रेमचन्द की कई कहानियाँ हमें उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के शुरुआती बरसों के सामाजिक-आर्थिक सुधारों के आन्दोलनों का विस्तार-सी नज़र आती है। उस दौर की कहानियों का अपना यथार्थ है और यथार्थ से संवादरत रहने का अपना, अपनी तरह का तरीका। हमें यथार्थ को लिखने के उस दौर के ढंग को अन्तिम और शाश्वत समझने की भूल से बचना होगा। उस दौर की अपनी चुनौतियाँ थी और उनसे निपटने के अपने लेखकीय रास्ते। यथार्थवाद एक दौर हो सकता है, एक स्कूल लेकिन समूचा यथार्थ नहीं। जैसे-जैसे यथार्थ बदलता है वैसे-वैसे यथार्थ को देखने के ढंग भी बदलते हैं। यहाँ जीवन बदलता है और वहाँ कहानी बदलती है। कहानी का बदलना अपने खुद के अस्तित्व के लिए अनिवार्य हो जाता है।

प्रेमचन्द का अपने गाँवों और वहाँ के लोगों की चुनौतियों को देखने का ढंग, फणीश्वरनाथ रेणु नहीं अपना सकते हैं। निर्मल वर्मा, निराला की तरह लिख ही नहीं सकते हैं। समय और जगह बदलने से कहानी बदलती ही है। वह बदलाव के बिना जीवित ही नहीं रह सकती। टॉलस्टाय रूसी जीवन को एक तरह से व्यक्त करते हैं और उनके बाद आये लेखक पास्तरनाक दूसरी तरह से। लिखने के ढंग को वक़्त के साथ-साथ बदलना ही होता है। ऐसा सब कुछ साहित्य और कला की दुनिया में सदियों से चलता आया है और सदियों तक चलता रहेगा। नयी-नयी संवेदनाओं के लिए, नये-नये रूपों को गढ़ना ही पड़ता है। इसीलिए यह कहा जाता रहा है कि कहानी एक प्रयोग है और अगर वह प्रयोग नहीं है तो वह कहानी भी नहीं है।

इस बात को स्वीकार भी कर लिया जाये कि कहानी लिखना एक तरह का कामचलाऊ प्रबन्ध है। अपनी उपलब्ध क्षमता से काम चलाना है बिना तैयारी के भी लिखा जा सकता है, तब भी इस बात को ध्यान में रखना ज़रूरी होगा कि इस प्रक्रिया का अन्त, कहानी में सौन्दर्य, गहरायी और नैसर्गिकता की उपस्थितियों से ही होना है। लिखी गयी कहानी में जीवन और कला के आविष्कारों की उपस्थितियाँ होनी चाहिए। तकनीक के प्रति चेतना, भाषा पर चिन्तन-मनन, अपने समय समाज और सभ्यता में उसकी जड़ों का होना उसका अपनी परम्पराओं से रिश्ता, कहानी विधा के अपने इतिहास का अहसास आदि भी एक कहानी के लिए, एक अच्छी कहानी के लिए अत्यधिक ज़रूरी जान पड़ता है। कहानी की जीवन और जगत से जुड़ने की इस लालसा को ही कथाकार कैथरीन मैंसफिल्ड ने 'This terrible desire to establish contact (रिश्ता बनाने की गहरी और गम्भीर हसरत) कहा होगा।

कहानी और जीवन के प्रगाढ़ रिश्तों, उनके रिश्तों की सच्चाइयों और स्वप्नों को लेखकों और पाठकों को समझाने में हिन्दी कहानी की आलोचना, एक बड़ी और निर्णायक भूमिका निभा सकती थी। प्रौढ़ और परिपक्व आलोचना से अच्छी कहानियों के लिए अनिवार्य तत्वों पर ज़्यादा ध्यान जा सकता था। इससे कहानी के अपने संसार में और ज़्यादा प्रगल्भता और प्रवीणता का विकास हो सकता था। पाठक की अहमियत और हैसियत बढ़ सकती थी लेकिन दुर्भाग्यवश हिन्दी में कहानी की आलोचना, उतनी जिम्मेवार, उतनी प्रौढ़ नहीं हो पायी है, जितना उसे हो सकना था।

जिस तरह आदमी, पेड़ और परिन्दों की एक उम्र होती है, एक उम्र के बाद इनकी मौत होती है, वैसे ही कहानी की भी अपनी कोई न कोई उम्र ज़रूर होती होगी। किसी कहानी की उम्र दो बरस हो सकती है तो किसी की बीस बरस। किसी-किसी कहानी की उम्र दो सौ बरस हो सकती है तो किसी की पाँच सौ बरस। कहानियों के इतिहास में लम्बी उम्र की, क्लैसिक कहानियाँ बहुत ही कम होंगी। हम सबने अपनी ही उम्र में उन कहानियों को गुम होते देखा होगा, कभी जिनकी बहुत ज़्यादा चर्चा हुआ करती थी।

वक़्त के साथ-साथ जैसे आदमी और उसके जीवन को भुला दिया जाता है उसी तरह हम कहानियों को भी भूल जाते हैं, याद नहीं रख पाते हैं। एक समय के प्रसिद्ध कथाकारों को बाद के एक दूसरे वक़्त में पढ़ा नहीं जाता है उनका लिखा गया अप्रासंगिक जान पड़ता है, उनकी किताबें लाइब्रेरियों तक सीमित हो जाती है, उनके पाठक बचे नहीं रहते हैं और उनके प्रकाशकों के लिए वे इतिहास बन जाते हैं।

इस पर संशय बना रहता है कि कहानी लेखक के अलावा भी किसी और का जीवन बदलने का सामर्थ्य रखती है। साहित्य और कला से आते हुए सामाजिक बदलाव अब तक बहस के विषय बने रहे हैं। ज़्यादातर माना जाता है कि राजनीति जीवन को एक तरफ ले जाती रहती है और कलाएँ एकदम दूसरी तरफ और आदमी इन दोनों के बीच संकटग्रस्त बना ही रहता है, युद्ध, हिंसा, आतंक,

ग़रीबी और अभावों का शिकार बना ही रहता है। यहाँ मुझे एक प्रसंग याद आता है। फ्रेंच फ़िल्मकार ज्याँ रेनुआ ने १९३८ में शायद Grand Illusions शीर्षक से एक युद्ध विरोधी फ़िल्म बनायी थी। उनकी वह फ़िल्म बहुत ज़्यादा प्रसिद्ध हुई। पश्चिमी देशों में उस फ़िल्म का बोलबाला भी रहा। रेनुआ प्रसिद्ध भी हुए और आर्थिक रूप से समृद्ध भी लेकिन उनको इस बात का दुःख सालता ही रहा था कि १९३९ में ही दुनिया दूसरे महायुद्ध की चपेट में आ गयी थी। इतना ज़रूर है कि कहानी लिखते-लिखते उसके लेखक का अपना जीवन ज़रूर बदलता रहता है। पर यह क्या कोई कम बड़ी बात है? एक आदमी का जीवन के प्रति संवेदनशील, जागरूक और ज़िम्मेदार होते जाना, मानवीय जीवन के महत्व और उद्देश्यों के क़रीब जा पाना, किसी बेहतर दुनिया का स्वप्न देख पाना। यहीं कहानी, संसार से ही नहीं स्वप्न से भी जुड़ती नज़र आती है। कभी रूसी लेखक एण्टन चेखव ने अपनी कहानियों में रूसी लोगों के लिए सपने देखे थे। क्या हम उनकी कहानी 'वांका' के उस नन्हे बच्चे के स्वप्न को भूल सकते हैं?

मुझे लगता है कि अगर हमारे संसार में हमारी विभिन्न भाषाओं में नयी और पुरानी, इतनी सारी कहानियाँ नहीं होती तब हमारा जीवन क्या उतना समृद्ध हो पाता जितना आज वह है। कहानी हमें कुछ और ज़्यादा मनुष्य बनाती है और उसका लेखक, लेखक से कुछ और ज़्यादा बनने-होने लगता है। इस तरह कहानी अपने लेखक और पाठक के जीवन में, उनकी नागरिकता का विस्तार करती है, उनकी नागरिकता का परिष्कार करती है।

कहानी और जीवन

उदयन वाजपेयी

१.

सबसे पहले यह कहना होगा कि जीवन का कोई ऐसा रूप नहीं होता जिसकी ओर इशारा कर हम कह सकें, यह रहा जीवन। यह भी मुमकिन नहीं कि हम अपने चारों ओर फैले जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों और अन्य रूपाकारों को जीवन मात्र कह सकें और यह मानने लगे कि समूचा संसार ऐसा ही है, उसमें जीवन का विस्तार इसी तरह का है। सारा का सारा जीवन कहीं भी एक-सा नहीं है। जीवन का कोई निश्चित रूप नहीं होता बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि उसका ऐसा कोई रूप नहीं होता जिस पर अँगुली रखी जा सके। वह तरह-तरह के रूपाकारों में व्यक्त होता रहता है पर किसी भी रूपाकार में निःशेष नहीं होता। शायद यही कारण है कि उसे समझने तरह-तरह की व्यवस्थाएँ बनती रहती हैं। मसलन एक समय में बनी वर्ण-व्यवस्था आदि भी ऐसी ही व्यवस्था रही होगीं। पूँजीवाद-समाजवाद इसी तरह की व्यवस्थाएँ है। इनके अलावा भी तरह-तरह की व्यवस्थाएँ बनती रहती हैं लेकिन जीवन इन सबसे अधिक व्यापक होता है। उसका विस्तार इन तमाम व्यवस्थाओं से कहीं अधिक होता है। उसका कोई बँधा-बँधाया रूप नहीं होता न ही उसे किसी भी तरह पूरा का पूरा बाँधना सम्भव है। वह 'एमोरफ़स' होता है। अरूप या रूपेतर! वह विविध रूपों में और रूपों से परे भी किन्हीं स्पन्दनों की तरह हमारे चारों ओर फैला रहता है। उसे अनुभवगम्य बनाने के प्रयोजन से उसे रूप देने की कोशिश मनुष्य करता है। मनुष्य की यह कोशिश उसकी बुनियादी कोशिश है। वह रूपहीन (मगर सत्यहीन नहीं) जीवन को रूप देने के प्रयास में लगा रहता है। यह कोशिश मनुष्य आदिकाल से आज तक करता चला आ रहा है। अगर हम भीमबैठका या लास्को के हज़ारों साल पुराने शैलचित्रों को देखें, हम यह समझ सकेंगे कि जो नृत्य, शिकार आदि के चित्र उस मनुष्य ने बनाये थे, उनमें भी व्यापक रूपातीत जीवन को आकार देने का प्रयास हुआ है। उसे अनुभवगम्य बनाने की चेष्टा है।

मनुष्य जीवन को रूप देने का प्रयास इसलिए भी करता है कि उसमें से अपने लिए कोई अर्थ निकाल सके। यहाँ ज़रा-सा भटककर यह कहते चलें कि अर्थ के दो आशय होते हैं, इनमें से एक का सम्बन्ध वित्त से है, धन से है। दूसरा वह है जिसका उपयोग हम यहाँ करने का प्रयास कर रहे हैं, जिसे उर्दू में 'मायने' कहते हैं, अंग्रेज़ी में 'मीनिंग'। महाकवि निराला ने अपनी एक कहानी में अर्थ

के इन दोनों आशयों के साथ अद्‌भुत कौतुक किया है। हम अर्थ के जिस आशय का ज़िक्र यहाँ कर रहे हैं, वह 'मायने' है। हम व्यापक, विस्तृत, रूपहीन जीवन को अर्थ देने की प्रक्रिया में उसे रूपों में संयोजित करते हैं। पर साथ ही यह भी जानते रहते हैं कि यह विस्तृत जीवन किसी भी रूपाकार में अँट नहीं सकता, उसका अधिकांश हमेशा ही रूप से परे बना रहता है और वह मनुष्य को बेचैन किये रहता है। हम जैसे ही समूचे जीवन को किन्हीं भी रूपाकारों में पूरी तरह 'अँट गया' मानने लगते हैं, हम जीवन का तिरस्कार तो करते ही हैं, कलात्मक और अन्य रूपों की सीमा की मर्यादा की अवमानना भी करते हैं।

२.

इस बेचैनी से निजात पाने मनुष्य क्या कर सकता है ?

वह जीवन को सीधे-सीधे रूप में बाँधकर अर्थ देने के स्थान पर एक वैकल्पिक जीवन की सृष्टि करे। हम सभी जीवन को अर्थपूर्ण अनुभव करने के लिए एक वैकल्पिक जीवन की रचना करते हैं। इन रचनाओं को ही कला, साहित्य या विज्ञान नाम से जाना जाता है।

जीवन का विकल्प बनाने की चेष्टा इसलिए की जाती है कि जीवन अनुभवगम्य हो सके। अगर हमें अनन्त आकाश (स्पेस) का अनुभव करना है, हमें इमारत बनाना पड़ती है। इमारत के भीतर के आकाश में ही अनन्त आकाश का अनुभव हो पाता है। जैसे जब हम ताजमहल या फतेहपुर सीकरी में प्रवेश करते हैं हम स्पेस को, अनन्त आकाश को अपने अनुभव के दायरे में ले आते हैं। यही काम साहित्य करता है, यही दूसरी कलाएँ भी करती हैं। कथा कहना-लिखना वैकल्पिक जीवन को रचना ही है।

यह सोचना अनुचित है कि जीवन को अर्थ देने के लिए वैकल्पिक जीवन की सृष्टि का काम केवल लेखक-पाठक करते हैं। अन्य कलाओं और विज्ञान आदि में भी यह होता है। नृत्य के तमाम रूपाकार भी यही करते हैं। मसलन अनेक शताब्दियों से कथकिये (कथक नर्तक/नर्तकियाँ) कहानी कहने का ही काम करते रहे हैं। वे कथा कहते हैं और इसके लिए अभिनय-स्वर-ताल आदि का उपयोग करते हैं। केरल में कुडियट्टम नाम का डेढ़ हज़ार साल पुराना रंग-नृत्य कलारूप है। इतनी सुदीर्घ अटूट परम्परा दुनिया की किसी भी मार्गी कलारूप की नहीं है। इसका अभिनय अत्यन्त सूक्ष्म हुआ करता है और तालें उतनी ही परिष्कृत। इनके सहारे कुडियट्टम के कलाकार कथा की रचना करते हैं।

मिनियेचर चित्रकला में ऐसा परिवेश और चरित्र रचे जाते रहे हैं कि देखने वाले के मन में कथा की रचना हो जाये। आधुनिक काल में आकृतिमूलक आख्यान चित्रकला का पूरा आन्दोलन ही हुआ है। वह कितना सफल था, कितना विफल, यह अलग बात है। पर यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ भी आकृतियों आदि के सहारे चित्रों में कथा कहने का प्रयास होता है।

रंगकर्म में अभिनय के चार तत्व माने गये हैं। इनमें से एक आंगिक अभिनय है जहाँ हाथ, पाँव, आँख, सिर, धड़ आदि से अभिनय किया जाता है। दूसरा है वाचिक अभिनय। यहाँ बोलकर अभिनय सम्पन्न होता है। तीसरा अभिनय आहार्य है जिसका सम्बन्ध अभिनेता या अभिनेत्री की वेशभूषा से है या मंच की सामग्री के उपयोग से। अभिनय का अन्तिम तत्व सात्विक अभिनय है जिसका आशय है, नाटक के चरित्र में प्रवेश करना, अभिनेता या अभिनेत्री द्वारा उसके भाव को ग्रहण करना। श्रेष्ठ नाटक में यथार्थ की नकल नहीं की जाती। अभिनय करते हुए अभिनेता इन चार तत्वों और उनके उपतत्वों से वाक्य बनाते हैं। अभिनय के इस वाक्य के खुलने (अनफोंडिंग) से ही नाटक का अनुभव होता है। वाक्य यथार्थ में नहीं होता, वह यथार्थ को आलोकित करता है, ऐसा ही कुछ कई शताब्दियों पहले महान काव्यशास्त्री दण्डी ने कहा था। नाटक के अभिनय-वाक्यों की शृंखला से भी कथा का एक तरह का अनुभव होता है। दूसरे शब्दों में नाटक में भी कथा कही जाती है, भले ही वह लिखित कथा से अलग हो। सिनेमा में तो आजकल ऐसे बहुत-से लोग हैं जो अपने को कथा कहने वाला मानते हैं। वह कितना सही है, कितना ग़लत यह अलग बात है पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनकी आत्मछवि कथाकार की है। यह भी सच है कि महानतम् फ़िल्मकार कहानी कहने के स्थान पर कहानी के सहारे जीवन-तत्व पर विचार करने का प्रस्ताव करते हैं। शायद इसीलिए फ़िल्मकार का मार्ग कथाकार का उतना नहीं, जितना चिन्तक का है। पर तब भी वह होता चिन्तक-कथाकार ही है।

दुनिया के अनेक देशों में ऐसे बहुत सारे लोग हैं जो किस्सागो हैं, यानि किस्सा कहने वाले हैं। स्वयं भारत में पारम्परिक रूप से कहानी कहने के पचासों ढंग हैं। बहुत से आधुनिकों को सम्भवतः उसका एहसास नहीं है पर इस एक देश में ही हमें ढेरों प्रकार के किस्सागो मिल जायेंगे। राजस्थान में कहानी कहने की एक परम्परा रही है। इसमें कहानी कहने वाले को कहानी का अन्त दे दिया जाता था और उससे यह उम्मीद की जाती थी कि वह एक लम्बी कहानी इस तरह सुनायेगा कि वह स्वभावतः दिये हुए अन्त पर जाकर खत्म हो जायेगी। कहानी कहने वालों को वहाँ 'कवया' कहा जाता था। मान लीजिए कि उसे यह अन्त दिया गया कि '... और वह साँप हर दुकानदार के पास जाता और दुकानदार उसे दूध पिलाता'। यह अन्त पाकर कवया कहीं बहुत दूर से कहानी शुरू करेगा मसलन 'एक बार फलाँ राजा युद्ध हार गये और अकेले पड़ गये...' और कई घण्टे कहानी कहने के बाद उसे तमाम उतार-चढ़ाव और मोड़ देने के बाद दिये हुए अन्त पर ले आयेगा। वह कितनी दूर से कहानी शुरू करता है और कितनी कुशलता से उसे कहता हुआ प्रदत्त अन्त पर लाता है, इससे यह तय होता है कि कितना कुशल कवया है।

इसी तरह कथा कहने की परम्पराएँ मणिपुर, असम, महाराष्ट्र, केरल आदि प्रान्तों में आज भी सक्रिय हैं। उन्हें तेज़ी से टेलिविज़न के बेहूदा धारावाहिकों से विस्थापित कर रहा है। इस तरह कथा-कहन की विपुल अनेकता को टेलिविज़न का एकांगी कथा-कहन विस्थापित कर हमारे देश की अनेकता को एक और चोट पहुँचाएगा। हमारी सभ्यता इन्हीं 'अनेकताओं के वैभव' से बनी है। इसीलिए

यहाँ अनेक नैतिक दृष्टियों का वास है, जैसा कि महाराज भोज को भी अभीष्ट था जब उन्होंने 'भोज-प्रबन्ध' लिखकर यह कहने का प्रयास किया था कि एक ही देश में अनेक नैतिक-सौन्दर्य दृष्टियाँ साथ रहना चाहिए तभी वह देश (या सभ्यता) जीवन्त होती है। जैसे ही इस सभ्यता में एक दृष्टि का साम्राज्य स्थापित हो गया, यह सभ्यता और इसके नागरिक कुंभला जायेंगे और संसार के देशों की बची-खुची उम्मीद भी नष्ट हो जायेगी!

३.

हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि विज्ञान भी आख्यान ही है, कह लीजिए किस्सा ही है। मैं थोड़ा बहुत विज्ञान जानता हूँ और इसलिए मुझे यह अहसास है कि वैज्ञानिक भी यथार्थ को समझने के लिए तरह-तरह की कथाएँ गढ़ते हैं। फ्राँसीसी दार्शनिक ज्याँ फ्राँसुआ लियोतार ने यह बात कई साल पहले कही थी। यह बात अवश्य है कि विज्ञान की कथा को कथा की तरह पढ़ा नहीं जाता, उसे वास्तविकता के मानचित्र की तरह देखा जाता है। मैं विज्ञान को कथा इसलिए भी कह रहा हूँ क्योंकि सारा विज्ञान फिर वह भले ही जीव-विज्ञान क्यूँ न हों, गणित पर आधारित होता है। यह कहा जा सकता है कि तमाम वैज्ञानिक उपक्रमों का सूक्ष्म कंकाल गणित ही होता है। पर स्वयं गणित का क्या आधार होता है? इस सवाल का जवाब आज तक स्पष्ट नहीं है। इस पर सबसे अधिक विचार वियना शहर और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के महान दार्शनिक विट्गेन्शटाईन ने खोजने का प्रयास किया था। इससे जुड़ा भी एक छोटा-सा किस्सा है। विट्गेन्शटाईन इंजिनियरिंग कॉलेज में पढ़ रहे थे। यहाँ पढ़ते हुए उनके मन में यह सवाल आया कि गणित का क्या आधार है। इस सवाल से वे इतने विचलित हुए कि उन्होंने इंजिनियरिंग की अपनी पढ़ाई छोड़ दी और दर्शन के अध्ययन में लग गये। यह बात समझना मुश्किल नहीं है कि गणित यानि उसमें प्रयुक्त संख्याएँ वास्तव में नहीं होती, वे प्रकृति में पायी नहीं जातीं। वे अमूर्त मानवीय कल्पनाएँ हैं। वे मनुष्य की मानसी सृष्टि हैं। यथार्थ और गणित के सम्बन्ध पर भारतीय दार्शनिक दयाकृष्ण ने कहा था कि गणित से कभी यथार्थ का सत्य उद्घाटित नहीं हो सकता क्योंकि गणित एक अनन्त व्यवस्था है (आप संख्याओं को बढ़ाते-बढ़ाते अनन्त कर सकते हैं।) पर यथार्थ अनन्त व्यवस्था नहीं है। एक अनन्त व्यवस्था के आधार पर स-अन्त व्यवस्था को समझना कैसे सम्भव है ? इसलिए यह मान लेने में कोई हर्ज नहीं है कि विज्ञान भी गणित के सहारे कथा कहता है। जब कोई वैज्ञानिक अपने पहले के वैज्ञानिक से बेहतर कथा कहता है, उसकी कथा प्रामाणिक हो जाती है और उसके पहले के वैज्ञानिक की कथा निरस्त हो जाती है।

हिस्ट्री लेखन भी कहानी ही है। हमारे देश के सारे इतिहास ग्रन्थ आख्यान ही है। यह अवश्य है कि हिस्ट्री और इतिहास में अन्तर होता है। हिस्ट्री एक ऐसी कहानी कहती है जिसमें अन्याय को रेखांकित किया जाता है। मसलन जब अंग्रेज़ों ने भारत की हिस्ट्री लिखी, उन्होंने उसमें यह बताया कि बीते हुए समय में इस देश में कहाँ-कहाँ और कब-कब अन्याय हुए। यह इसलिए बताया गया था

कि अंग्रेज़ उन तथाकथित अन्यायों को दुरुस्त करने में अपनी भूमिका को अपरिहार्य बता सकें और इस तरह इस देश में अपनी उपस्थिति को न्यायोचित बता सकें। इतिहास लेखन इससे अलग हुआ करता है। हिस्ट्री और इतिहास में यह फ़र्क देश के अनूठे दार्शनिक नवज्योति सिंह ने उद्घाटित किया था, उनका कहना था कि इतिहास लेखन अतीत का वह ब्यौरा है जिसमें मानवीय मूल्यों को आलोकित किया जाता है और अतीत को इस तरह लिखा या कहा जाता है कि अतीत में उत्पन्न मानवीय मूल्य रेखांकित हो सकें। यहाँ इतिहास लिखने या कहने वाला अपने को सुधारक की भूमिका में नहीं रखता बल्कि वह अतीत में उत्पन्न मूल्यों का धारक होता है और अतीत के प्रति कृतज्ञ होता है। दूसरे शब्दों में हिस्ट्री लेखन अन्याय की कथा होती है और इतिहास लेखन मूल्यों और मूल्य वाहकों की।

४.

मैंने इन तमाम तरह की कथाओं का ज़िक्र इसलिए किया है कि इतनी कथाएँ होते हुए हम लेखक किस तरह कथाएँ लिखें कि वे किसी और अनुशासन का अंग न लगे। दूसरे शब्दों में हम किस तरह कहानियाँ लिखें कि वे अद्वितीय ढंग से साहित्यिक रूपाकार हों। हम किस तरह कहानी लिखें कि वह न फ़िल्म में अन्तरित हो सकें, रंगकर्म में, न इतिहास आदि में। बीसवीं शताब्दी के कथाकर्म के सामने यह प्रश्न हमेशा रहा है कि वे किस तरह कहानी या उपन्यास लिखें जो अन्य अनुशसनों से भिन्न हों, जिसमें भाषा की आत्यन्तिकता, उसकी अनिवार्यता उद्घाटित हो सके। कथा या उपन्यास किस तरह लिखे जायें कि उनसे भाषा की शक्तियाँ प्रस्फुटित हो सकें ? पिछले क़रीब दो सौ वर्षों में सभी महान लेखकों ने इस प्रश्न का अलग-अलग तरह से सामना किया है।

इनमें सबसे ऊपर आयरलैण्ड के जेम्स जॉयस हैं। उन्होंने ऐसे उपन्यास लिखें है जिनका हम किसी दूसरे माध्यम से अन्तरण या अनुवाद कर ही नहीं सकते। उनके महानतम और अन्तिम उपन्यास 'फिनिगन्स वेक' पर हम फ़िल्म नहीं बना सकते। न उस पर नाटक लिखा जा सकता है, उस पर चित्र बनाना भी असम्भव है। उससे प्रेरित होकर कोई फ़िल्मकार फ़िल्म बनाये या कोई चित्रकार चित्रकृति तैयार करें, वह अलग बात है पर उसे अन्तरित करना असम्भव है। 'फिनिगन्स वेक' में जॉयस ने भाषा के साथ जैसा व्यवहार किया है और जैसा रूप उसे दिया है, वैसा उसके पहले तक दिया ही नहीं गया था। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि बीसवीं शताब्दी की कहानी या उपन्यास में सिनेमा की उपस्थिति की चेतना है। जबकि उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यास लेखन में यह चेतना नहीं है, क्योंकि तब तक सिनेमा का आविर्भाव नहीं हुआ था। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि दोस्तोयवस्की और चॉर्ल्स डिकन्स आदि के उपन्यासों में सिनेमा की अनुपस्थिति पर साथ ही उसका पूर्वाभास है। इसीलिए आज दोस्तोयवस्की या डिकन्स के जैसे उपन्यास लिखने का कोई विशेष प्रयोजन बाकी नहीं है।

फ्राँसीसी लेखक मार्सेल प्रूस्त ने अपने उपन्यास 'खोये समय की तलाश' में लम्बे-लम्बे वाक्यों में इस तरह के रूपकात्मक वर्णन लिखे जिन्हें सिनेमा या चित्रकला में लाना बहुत मुश्किल है। यहाँ

यह याद रखना चाहिए कि सिनेमा समय के बहाव की कला है, वह समय के बहाव को दर्ज करती है। सिनेमा में इस बहाव को पूरी तरह रोका नहीं जा सकता। अपने उपन्यास में प्रूस्त ने ऐसा जगह-जगह किया है। उसमें मान लीजिए खिड़की से धूप आ रही है तो प्रूस्त का उपन्यास उस जगह मानो ठहर जायेगा। उस धूप का आठ-दस पेजों तक वर्णन होता रहेगा। उसमें एक-से-बढ़कर एक उपमाएँ आयेंगी, रूपक आयेंगे, और इस तरह जो धूप खिड़की से उपन्यास में आ रही थी, पाठक के अन्तस में अनेक रूप धर कर आने लगेगी। इस तरह सिनेमा में कर सकना मुश्किल है। प्रूस्त के उपन्यास ने इस रास्ते नयी कथाशैली विकसित की थी, जो सिनेमा के पास से होकर गुज़र जाती थी, चित्रों के ऊपर से।

इसी क्रम में अगले उपन्यासकार चेकोस्लोवाकिया के फ्रेंज़ काफ़्का हैं। हिन्दी के वास्तविक बड़े कवि-उपन्यासकार जितेन्द्र कुमार के अनुसार उन्होंने सपने को इस तरह लिखा मानो वह यथार्थ हो। काफ़्का की कहानी 'पीनल कॉलोनी' में जैसा परिवेश है, वैसा यथार्थ में हो ही नहीं सकता। पर उन्होंने उसे इस तरह लिखा है कि मानो वे उसका आँखों देखा वर्णन कर रहे हों। उनके उपन्यास 'ट्राइल' की भी यही हैसियत है। वह पूरा उपन्यास इस तरह लिखा गया है मानो वह लेखक के सामने घट रहा हो। काफ़्का ने इस तरह जॉयस और प्रूस्त से अलग अपना एक विलक्षण रास्ता बनाया था। संयोग से बीसवीं शताब्दी में जितने लेखक काफ़्का के बताये रास्ते पर चले, उतने शायद ही किसी और के रास्ते पर चले होंगे।

५.

कहानीकारों में ऐसे तीन कहानीकार हैं जिन्होंने अन्य कथा-अनुशासनों की सजगता के साथ विलक्षण ढंग की कहानियाँ लिखीं। वे ऐसी कहानियाँ हैं जो किसी अन्य विधा में अन्तरित हो ही नहीं सकती। इनमें पहले लेखक हैं हिन्दी के फणीश्वरनाथ 'रेणु'। रेणु की कहानी लिखित गद्य होने के स्थान पर, अभिलिखित (ट्रांस्क्राईप्ड) गद्य है। अभिलिखित यानि ऐसा गद्य जिसे सुनते हुए लिखा जा रहा हो। रेणु की कहानी ऐसे ही सुने हुए वाक्यों का कलात्मक संयोजन करने से बनती हैं। अगर हम रेणु की कहानी को ध्यान से पढ़ें तो हमें निश्चय ही यह महसूस होगा कि उसमें से बहुत सारी आवाज़ें सुनायी पड़ रही हैं। कभी किसी की आवाज़ आती हैं, कभी किसी और की। मानो इन सारी आवाज़ों के बीच कहीं लेखक की आवाज़ है ही नहीं। हम इन्हीं आवाज़ों के सहारे रेणु की कहानी पढ़ते हुए, आप्लावित होते हैं, चमत्कृत होते हैं और आनन्द में डूब जाते हैं।

रूसी लेखक चेखव सिनेमा से पहले के कहानीकार है। वे भी सिनेमा के आने की सूचना अपने कहानी लिखने के ढंग में देते हैं। वे यथार्थ का इस तरह वर्णन करते हैं मानो उसे कैमरे के सहारे बहुत पास से देखा गया हो। अगर हम चेखव की कहानियों को तल्लीनता से पढ़ें, हम पायेंगे कि उनमें करुणा की धारा बह रही है। इसका कारण शायद यह हो कि चेखव पीड़ा सहने के ईसाई विचार की

गहरायी में उसके पूर्ववर्ती बौद्ध धर्म की करुणा देख सके थे। चेखव ने पीड़ा के भीतर करुणा की अन्तर्धारा को महसूस किया था, और वही अन्तर्धारा उनकी कहानियों तक बहती चली आयी थी।

हमारे समय के एक अन्य विलक्षण कहानीकार हैं, जॉर्ज लुई बोर्ख़ेस। बोर्ख़ेस ने कहानी लिखने का बिल्कुल अलग रास्ता उद्घाटित किया। उनकी कहानी वर्णन करने के स्थान पर वर्णन को किया हुआ मानकर उस पर टिप्पणी के रूप में लिखी गयीं है। मसलन उनकी एक कहानी में एक उपन्यास को लिखा हुआ मान लिया गया। वह उपन्यास न उस कहानी के पहले लिखा गया था न बाद में। वह विशुद्ध काल्पनिक उपन्यास है पर कहानी में उसे लिखा हुआ मान लिया गया है और कहानी इस तरह लिखी गयी है कि वह उसकी समीक्षा कर रही हो। बोर्ख़ेस ने ही कहानी लिखते हुए उसमें अन्तर्निहित किस्से को लिखने के स्थान पर उसे 'ध्वनित' करने का प्रयास किया था। इसका अर्थ यह है कि उनकी कहानियों में अन्तर्निहित जो भी किस्सा है, उसकी ओर संकेत किया जाता है, उसे लिखा नहीं जाता। एक तरह से वह पाठकों के अन्तस में आकार लेता है।

हमने जिन भी उपन्यासकारों या कहानीकारों का ज़िक्र किया है, उन सभी ने ढेरों कलारूपों के बीच रहते हुए भाषा की शक्तियों को उद्घाटित करते हुए कहानी लिखने के नये मार्ग खोजे। इन्हीं लेखकों ने ऐसी कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें किसी भी दूसरी कला विधा में ज्यों का त्यों अन्तरित नहीं किया जा सकता। इस तरह बीसवीं शताब्दी में एक अलग कथा कल्पना ने जन्म लिया है जो पिछली शताब्दी जब सिनेमा नहीं था, की कथा कल्पना से बहुत अलग है।

६.

हमें कहानी लिखते वक़्त यह याद रखना आवश्यक है कि भाषा की कुछ ऐसी नैसर्गिक शक्तियाँ होती हैं जो उसमें कहानी सम्भव करती हैं। चूँकि कहानी भाषा में सम्भव होती है, जैसे चित्र रंगों में संगीत स्वरों में, हर कहानीकार को भाषा के स्वरूप पर डूबकर विचार करना चाहिए। यह विचार कहानी के लिखे जाने में भी अनुभव हो तो कहानी एक अलग ऊँचाई प्राप्त करती है। कहानी वाक्यों में लिखी जाती है, हालाँकि जेम्स जॉयस ने अपने उपन्यासों विशेषकर 'यूलिसिस' और 'फिनिगन्स वेक' में वाक्यों को बुरी तरह तोड़ा है, शब्दों को भी। वे शायद भाषा के खण्डहरों में अपने उपन्यास को रूप दे रहे थे। कितना ही टूटा-फूटा सही, जॉयस के इन उपन्यासों में भी वाक्य की उपस्थिति है। और उन्होंने अपने लिखने के ढंग में वाक्य को तोड़-फोड़कर उस पर विचार की एक अलग दिशा को मुमकिन कर दिया है।

भाषा को कहानी का माध्यम कहना निरा अज्ञान है। भाषा के अपने स्वरूप में ही कहानी छिपी होती है इसीलिए उसे माध्यम नहीं कहा जा सकता। भाषा का बुनियादी स्वभाव खुलना होता है। हर वाक्य की 'अनफोल्डिंग' होती है। वाक्य बन्द मुट्ठी की तरह धीरे-धीरे खुलता है। पहले एक शब्द आता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा...। हम जब तक वाक्य में प्रयुक्त लगभग सारे शब्द सुन नहीं लेते, वाक्य

का अर्थ स्थगित रहा आता है। वाक्य के इस खुलने या अनफोल्डिंग के कारण उसमें अर्थ को बहुत थोड़े से समय के लिए ही सही पर स्थगित करने की सामर्थ्य होती है। जितनी देर वाक्य के अपने स्वरूप के कारण अर्थ स्थगित रहता है, उतनी देर पाठक के भीतर समय की गति धीमी पड़ जाती है और जिज्ञासा गहरी हो जाती है। भाषा की ठीक इसी सामर्थ्य का इस्तेमाल उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में जासूसी उपन्यास के ढंग से लिखे गये तमाम उपन्यासों में हुआ है। वे उपन्यास इसलिए भी इतने दिलचस्प हो सके क्योंकि उनका रूप भाषा के अपने स्वभाव के अनुकूल था।

मैं यहाँ रुककर एक बार फिर यह कह दूँ कि सिनेमा जैसे कलारूप के आ जाने के बाद कहानी और उपन्यास के लिखने के ढंग में कुछ मूलभूत बदलाव लाना ज़रूरी था। शायद इसीलिए जो लेखक सिनेमा की तरह कहानियाँ या उपन्यास लिखते हैं, वे मुझे कमज़ोर जान पड़ते हैं। हर कहानीकार या उपन्यासकार को कहानी लिखने के नये ढंग लगातार ढूँढते रहना पड़ता है। इतने भर से काम नहीं चलता कि कोई कहे कि उसकी लिखी कहानी जीवन के बहुत क़रीब है। यह इसलिए सार्थक नहीं है क्योंकि जीवन अरूप है और उसके नियम-विधान भाषा के नियम-विधानों से बिलकुल अलग होते हैं। जीवन बार-बार रूपाकारों के बाहर भागता है, भाषा निरन्तर रूपाकार गढ़ती है। एक कहानीकार को भाषा के इस स्वभाव को समझना होता है, उसका सम्मान करना होता है। दुनिया में ऐसा कोई बड़ा लेखक नहीं हुआ जिसने भाषा के स्वभाव में गहरे उतरे बिना कहानी या उपन्यास लिख दिया हो।

७.

मैं दो ऐसे लेखकों का ज़िक्र और करना चाहता हूँ जिन्होंने हिन्दी भाषा की अपने समय तक सोयी सम्भावना को जाग्रत किया है। निर्मल वर्मा ने हिन्दी की खड़ी बोली के इतिहास में पहली बार कहानियों को स्वर-लिपियों की तरह लिखा है। खड़ी बोली में ऐसा अद्‌भुत संगीत भी था, निर्मल वर्मा की कहानियों से पहले इसका बहुत कम पता था। उनकी कहानियाँ पढ़ते समय शब्द धीरे-धीरे गायब हो जाते हैं और कब उनका स्थान बहुत ही सूक्ष्म संगीत लेना शुरू कर देता है, हमें पता भी नहीं चलता। ठीक वैसे ही जैसे कोई गायक बंदिश गाते समय बंदिश के शब्दों को धीरे-धीरे स्वरों में घोलकर ग़ायब कर देता है। उसे सुनने के बाद हमें अधिकांशतः बंदिश याद नहीं रहती, जबकि वह धुन हमारे भीतर धीरे-धीरे अपना रास्ता बनाती रहती है जिसमें वह बंदिश बुनी हुई थी। निर्मल वर्मा का कहानी लिखने का यह मार्ग किसी और कला में सम्भव नहीं है। उनकी कहानियों में दृश्यों के वर्णन के स्थान पर उन दृश्यों में अनुस्यूत संगीत का अनुभव होता है। इसीलिए निर्मल जी के लेखन से प्रतिकृत होते हुए जिन लेखकों ने अपने रास्ते खोजे, वे अच्छा लिख सके, लेकिन जो उनकी तरह लिखने का प्रयास करते रहे, बुरी तरह विफल हुए क्योंकि वे जिस भाषा का अनुकरण कर रहे थे, निर्मल जी की कहानियों में वह भाषा केवल ऊपरी माया है। उनकी कहानी को रूप उस संगीत ने दिया है जो उनके शब्दों के बीच पानी की तरह बहता है।

कृष्ण बलदेव वैद ने इससे अलग रास्ता लिया। उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में भाषा को वर्णन का साधन नहीं बनाया। उनके यहाँ भाषा वर्णन न कर नृत्य करती थी। इसे ही नॉम चॉम्स्की ने भाषा की 'परफार्मेटिव' शक्ति कहा है। वैद भाषा की वर्णन क्षमता से कहीं अधिक उसकी प्रदर्शनकारी सामर्थ्य को अपने लेखन में खिलने का अवसर देते हैं। उनकी कहानियों और उपन्यासों में मुख्य चरित्र भाषा का यह प्रदर्शन ही होता है। भाषा की इसी सामर्थ्य के कारण वैद के लेखन में अर्थ निश्चित नहीं हो पाता और अर्थों के फव्वारे के बीच ही मानो उनके उपन्यासों का आकार बनता-बिगड़ता रहता है। इस तरह उनके उपन्यास हमारी आँखों के सामने ही बनते हुए अनुभव होते हैं।

८.

हर गल्पात्मक कृति के साथ ही लिखने का एक ढंग निःशेष हो जाता है। कहानीकार जब नयी कृति लिखने बैठता है उसे लिखने के नये ढंग को खोजना होता है, जो भाषा की सिलवटों में ही छिपा मानो उसका इन्तज़ार कर रहा हो। वे लेखक जो निरन्तर इस तरह सृजनशील रहते हैं वे हमेशा युवा बने रहते हैं। अगर हम अपने लिखने में कुछ नया ढंग नहीं ला पाते और अपनी पुरानी कथा युक्तियों के सहारे ही बार-बार लिखने का प्रयास करते हैं, हमें कहानी के आस-पास ध्यान से देखना चाहिए वहाँ हमें बैसाखियाँ रखी हुई दिखायी दे जायेगी। वे इस बात का द्योतक है कि हम बूढ़े हो चुके। हर बार नया खोजने का अर्थ यह नहीं कि यह 'नया' सिरे से नया होता हो। इस नयेपन के अभिप्राय को समझने के लिए मुझे संगीत का रूपक सटीक लग रहा है। एक अच्छा संगीतकार अगर बीस बार भी राग मालकौंस गायेगा, वह हर बार राग भले ही मालकौंस होगी पर उसमें कुछ सूक्ष्म परिवर्तन हो गया होगा। संगीतकार की पहचान उसमें बनी रहेगी राग की भी तब भी वह मालकौंस थोड़ी-सी नयी होगी।

एक कथाकार विशिष्ट व्यक्ति होता है पर वह अन्यों से उच्चतर या निम्नतर नहीं होता, पर उसे अपने 'एकमात्र' होने का गहरा अहसास होता है। सभी मनुष्य एकमात्र ही होते हैं, अद्वितीय ही होते हैं पर उनमें से अधिकांश को अपने इस एकमात्र होने का एहसास नहीं होता। इस अहसास से जहाँ एक ओर सृजन की बेचैनी जन्म लेती हैं वहीं असुरक्षा की ठिठुरन भी। उसे यह लगता है कि जीवन को जिस तरह रूप देने का प्रयास हो रहा है, वह पर्याप्त नहीं है। अपने पहले लिखी कथाएँ भी उसे थोड़ी-सी अपर्याप्त जान पड़ती है। इस अनुभूति से बेचैन होकर वह अपने ढंग से लिखने का प्रयास करता है, लेकिन जैसे ही वह इस रास्ते आगे बढ़ता है, वह पाता है कि सारी परम्परा एक विशेष ढंग से उसमें मुखरित होने लगी है। एक समूची संस्कृति उसके आँखों के सामने कुछ नया रूप ले रही है। यह तभी होता है जब लेखक अपने एकमात्र होने की भावना से भरकर लिखता है। अगर वह ऐसा नहीं कर पाता तो अमूमन वह साहित्य नहीं, साहित्य की खाल में समाजशास्त्र लिख रहा होता है।

बुखार में कविता

मदन सोनी

श्रीकान्त वर्मा की कविता पर मैं अपेक्षाकृत विस्तार से लिख चुका हूँ। किसी भी महान कविता की ही तरह श्रीकान्त की कविता में भी व्याख्या-बहुलता की भरपूर सम्भावनाएँ मौजूद हैं, लेकिन चूँकि श्रीकान्त की कविता की जिस समझ के आधार पर मैंने वह निबन्ध लिखा था, दुर्भाग्य से मेरी उस समझ में इस बीच ऐसा कोई इज़ाफ़ा या परिवर्तन नहीं हुआ है कि मैं व्याख्या की इनमें से किसी नयी सम्भावना को तलाश सकता, इसलिए जो कुछ भी मैं यहाँ कहने जा रहा हूँ, उसके किंचित भिन्न प्रस्थान, उसकी यथासम्भव भिन्न (यद्यपि जहाँ-तहाँ पूर्वप्रयुक्त) शब्दावली, और श्रीकान्त की कविता को लेकर मेरी कुछ नयी उत्प्रेक्षाओं के बावजूद, मेरा यह निबन्ध मेरे पिछले किन्हीं पाठकों या उस निबन्ध के पाठकों को दोहराव प्रतीत हो तो इसके लिए मैं उनसे क्षमा माँगता हूँ।

हिन्दी के हमारे एक पूर्वज कवि केशवदास को लक्षण-काव्य के रचयिता के रूप में देखा जाता है (उनको 'आचार्य' कहा जाता था)। माना जाता है कि उनकी आकांक्षा मुख्यतः हिन्दी में काव्यशास्त्र रचने की थी जिसके लिए उनने कविता को माध्यम की तरह इस्तेमाल किया। यह बात शायद सही हो, हालाँकि उतनी ही सही यह बात भी है कि लक्षण का निरा निरूपण (रिप्रेजेण्टेशन) करने और इस तरह कविता को निरे छन्द के स्तर पर सिकोड़ देने की बजाय वे उस लक्षण को एक अनुभव में बदलते हुए उसका निष्पादन (पर्फ़ामेन्स) भी करते थे, जिस प्रक्रिया में उनका छन्द वस्तुतः कविता ही होता था। बहरहाल, यहाँ इस प्राचीन प्रसंग के स्मरण की प्रासंगिकता मेरी इस प्रतीति के सन्दर्भ में है कि कोई भी सच्चा कवि, संसार में अपनी कितनी ही गहरी और मज़बूत जड़ों के बावजूद, स्वयं उस चीज़ - यानी कविता - से बेख़बर नहीं हो सकता जो संसार के उसके अपने अनुभव के निष्पादन की प्रक्रिया में आकार लेती है। वह उससे न केवल बेख़बर नहीं होता, बल्कि कभी-कभी इतना बाख़बर भी होता है कि वह कविता के साथ-साथ, केशवदास की तरह न सही, अपनी तरह से ही सही, एक काव्यशास्त्र या काव्य-विमर्श भी रचता चलता है। सम्भवतः अन्य विमर्श-रूपों से कविता (बल्कि शायद साहित्य-मात्र) की भिन्नता का यह एक सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है कि कविता कवि के लिए निरा माध्यम न होकर उसके अन्य अनुभवों से अविनाभाव जुड़ा एक ऐसा अनुभव है जिसकी चेतना उसके इन अन्य अनुभवों को निरन्तर प्रभावित करती है। यह इस चेतना का ही एक विक्षेप है कि अधिकांश कवियों

की कविता में स्वयं 'कविता' या 'कवि' या 'भाषा' (या इनके अन्यान्य संकेत) एक आवर्ती अभिप्राय के रूप में प्रगट होते हैं। किन्हीं कवियों के यहाँ यह चेतना अत्यन्त प्रछन्न हो सकती है, या यह प्रक्रिया अवचेतन स्तर पर घटित हो सकती है। लेकिन कुछ कवियों के यहाँ वह ऐसे आक्रान्तकारी तनाव का रूप ले सकती है कि वे संसार, या उसके साथ अपने रिश्ते, और कविता को एक-दूसरे के बरक्स रखकर उनको अपनी काव्यात्मक मीमांसा का विषय बना सकते हैं; जहाँ कविता संसार का और उसके साथ कवि के बनते-बिगड़ते रिश्ते का रूपक बन जा सकती है।

श्रीकान्त वर्मा ऐसे ही एक कवि हैं जिनके अनुभव के लक्ष्य पर जितना संसार है उतना ही उस संसार से रिश्ता बनाने की प्रक्रिया में विकसित वह विधि या विधा भी है जिसे हम 'कविता कहते हैं। यह अकारण नहीं है कि दिनारम्भ से लेकर जलसाघर तक, उनके तीनों महत्त्वपूर्ण संग्रहों में 'कविता' और 'कवि' के अभिप्राय भरे पड़े हैं। मैं जो बहुत-से उदाहरण यहाँ दे रहा हूँ वे दरअसल बहुत थोड़े-से हैं : 'सारी पृथ्वी पर एक कविता/लिखी जा रही है सन्तोष की', 'कविताएँ कैसे घर की बहुएँ बन/प्रातः फूट रही हैं', 'बन्दी हम दोनों की कविता से/झाँक रहा/जीवन...', 'देशभक्त कवियों की/कविताएँ', 'मुझसे मेरे अपराध/हू-ब-हू कविताओं-से/दर्ज़ हैं', 'मगर ख़बरदार! मुझे कवि मत कहो/मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ', 'कई साल/हुए/मैंने लिखी थीं कुछ कविताएँ', 'मंच पर खड़े होकर/कुछ बेवकूफ़ चीख़ रहे हैं/कवि से आशा करता है/सारा देश', मूर्खों! देश को खोकर ही/मैंने प्राप्त की थी/यह कविता', 'मैं एक पब्लिक लेवेटरी में/बैठा हुआ/सोच रहा हूँ/मेरी कविता में लय/क्यों नहीं है?', 'क्या मैं अपने गुज़रे हुए जीवन को/एक काग़ज़ पर लिखी हुई कविता की तरह/दूसरे काग़ज़ पर/उतारूँगा?', 'सारे संसार की/ सड़क पर/दो-टूक कवि/पेशाब करता/हुआ/चला/गया है', 'गँवार था/वह कवि/जो जूझा नहीं', 'एक कवि दूसरे कवि से समय/पूछ/रहा है', 'क्या कवि को/समय से/समय को/कवि से/लड़ा दूँ?', 'सब कुछ प्रतिकूल था, तब भी सम्भव किया मैंने/कविता को', 'लड़ना पड़ा मुझको जीवन भर टटपुँजिये कवियों के दर्प से', 'गूँगों के अभिनय को जिसने बदलने की कोशिश की कविता में', 'छपता है जिस ज़बान में इश्तिहार उसी में कविताएँ', 'कवि न था कवि न था वह जिसने मुझको हथियारबन्द करने के बाद/कहा फेंक दो इसे भी', 'घर, प्रेम, माँ-बाप, कविताएँ एक-एक कर छूटते हैं', 'मैंने जीती थी जो कविता/स्वयंवर में, छीनने आये हैं' 'मृत्यु से छिपाकर मुँह, जीते हुए, विस्मयविहीन संसार में/कविता के प्रश्नों के/ढूँढते हुए उत्तर/दैनिक अख़बार में', 'चारों तरफ़/कविता में/शाम हो रही है', 'पहले बचो/अपनी कविता के/मोड़ से', 'एक-एक/कविता में/पाँच लाख घाव हैं-', 'सम्भव नहीं है/कविता में वह सब कह पाना/जो घटा है/बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ', 'अमूर्त! कितनी अमूर्त है कविता!/कहाँ है/इन सारी कविताओं में वह चेहरा,/जो जितना मेरा है/उतना ही दूसरे का!'...।

और न ही यह भी अकारण है कि कविता की दुनिया में पहला क़दम रखते हुए (भटका मेघ) श्रीकान्त 'मेघदूत' के प्रतिरूप में कालिदास को सम्बोधित करते हुए अपने काव्य-संकल्प की उद्घोषणा

करते हैं; और इस दुनिया से विदा लेने के लगभग अन्तिम क्षणों में 'लिखने' और 'मिटाये जाने' के अभिप्रायों का इस्तेमाल करते हैं (मेरा संकेत मगध की अन्तिम कविता 'दीवार पर नाम' की ओर है)।

कविता की इस मुखर और प्रखर चेतना के सन्दर्भ में हम श्रीकान्त वर्मा की कविता के स्वभाव को, एक-दूसरे से बहुत क़रीब से जुड़े, दो मूलभूत तत्त्वों - भाषा और अस्तित्व के बीच के रिश्ते से उलझने की, उसको भेदने की, प्रक्रिया के रूप में देख सकते हैं। हिन्दी में बहुत-बहुत कम ऐसे कवि हैं, और दुर्भाग्य से उनकी संख्या उत्तरोत्तर कम होती जा रही है, जिनकी कविता की पहचान उनके भाषिक विन्यास से इस क़दर एकात्म हो कि हम उनकी कविता की दो-एक पंक्तियाँ पढ़ या सुनकर ही उनके कवि को पहचान सकें। यह एकात्म्य श्रीकान्त वर्मा के यहाँ चरम पर है (ठीक उसी तरह जिस तरह ऐसा ही एकात्म्य निर्मल वर्मा के गद्य में चरम पर है)।

इस विन्यास के कई स्तर हैं : चाक्षुष स्तर, जिसके तहत उसमें शब्दों, पदों और पंक्तियों को कुछ इस तरह संस्थापित किया गया होता है कि वे मिलकर एक वास्तु की रचना करते हैं। दूसरा है, आर्थी - सेमेण्टिक - स्तर, जो उसके चाक्षुष स्तर से इस तरह अविनाभाव जुड़ा हुआ है कि हम इस वास्तु के विन्यास का अनुसरण करके ही इसके अर्थ को समझ सकते हैं, या यूँ कहें कि इस वास्तु को 'बिलाँग' करने का अनुभव कर सकते हैं। और तीसरा है, उसका श्रुतिपरक स्तर : हम इस कविता को चुपचाप 'पढ़ते' हुए भी, शब्दों, पदों, वाक्यों आदि के परस्पर टकराव और संविलयन से उभरती उसकी उस एक विशिष्ट आवाज़ को सुनते हैं जो उसकी अर्थान्विति से, पुनः, उसी तरह अविनाभाव जुड़ी हुई है। प्राचीन काव्यशास्त्र की पदावली में शायद इस गुण को 'पद-निवेश-निष्कम्पता' कहा जा सके।

श्रीकान्त वर्मा 'अरथ अमित अति आखर थोरे' की इकॉनॉमी के कवि नहीं हैं। उनकी कविता में यह अनुपात भिन्न है : वहाँ, एक ख़ास अर्थ में, भाषा की स्फीति से अर्थ की रचना होती है। भाषा कविता का सर्वाधिक पार्थिव पक्ष है, जो सम्भवतः हर महत्त्वपूर्ण कवि के लिए बुनियादी उद्विग्नता और तनाव का सबब होता है। एक ओर भाषा वह एकमात्र चीज़ है जो उसके कर्म - कवि-कर्म - को सम्भव बनाती है, और इसलिए वह अनिवार्य और शायद स्पृहणीय है, लेकिन दूसरी ओर, भाषा पर निर्भरता की इसी वजह से, हर महत्त्वपूर्ण कवि का भाषा के साथ एक विडम्बनापूर्ण विरोध-भाव भी विकसित होता है। वह इस निर्भरता से अन्तिम रूप से मुक्ति पाने की असम्भव आकांक्षा के चलते उसका अधिकतम अपरिग्रह करना चाहता है। 'अरथ अमित अति आखर थोरे' की इकॉनॉमी इसी विरोध-भाव का एक विक्षेप है।

इस अर्थ में हम श्रीकान्त की कविता पर पार्थिवता (मेटीरियलिटी) का आरोप लगा सकते हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि यह एक ख़तरनाक कोशिश होगी। क्योंकि तब हम यह कह रहे होंगे कि उनमें उक्त बुनियादी उद्विग्नता और तनाव का अभाव है, जबकि सच्चाई यह है कि उनके यहाँ यह तथाकथित पार्थिवता, या भाषातिरेक, उस उद्विग्नता और तनाव की एक विशिष्ट और अभूतपूर्व

पराकाष्ठा का नतीजा है।

इस कथित भाषातिरेक को हम इन तीन तथ्यों के मद्देनज़र समझ समझ सकते हैं : पहला यह कि संसार अपनी मूल बनावट में उस तरह व्यवस्थित, नियमित, नियन्त्रित नहीं है, जैसा वह हमारे सामने प्रगट होता है। इसके विपरीत वह एक अर्थहीन, असंगत, बेतरतीब, अन्तर्विरोधी, विरोधाभासी, और हेत्वाभासों से युक्त अ-व्यवस्था है। दूसरा यह कि भाषा निरन्तर मानवीय तर्कबुद्धि से अनुकूलित (और बदले में उतना ही निरन्तर मानवीय तर्कबुद्धि को कई गुना अनुकूलित करती) एक सुसंगत, कारण-कार्यमूलक, अनुशासित, अर्थधर्मी और हर चीज़ पर अर्थ का आरोपण करने वाली व्यवस्था है। और तीसरा यह कि संसार जिस तर्कसंगत और स्वस्थमनस्क रूप में हमारे सामने प्रगट होता है, जिसे हम 'व्यवस्था' या 'सभ्यता' या 'संस्कृति' कहते हैं, वह दरअसल भाषा की सुव्यवस्था और व्याकरण के हाथों संसार के निरन्तर अनुकूलन का नतीजा है। भाषा और अन्ततः मानवीय तर्कबुद्धि, और संसार के बीच के इस अनवरत परस्पर अनुकूलन को उस मनोवैज्ञानिक खेल से शायद असानी से समझा जा सकता है जिसके तहत दो व्यक्तियों से कहा जाता है कि वे क्रमशः एक-के-बाद-एक तत्काल किसी ऐसी चीज़ का नाम लें जो उसके साथी खिलाड़ी द्वारा लिये गये नाम से यथासम्भव असंगत हो। मसलन, अगर एक खिलाड़ी 'नरेन्द्र मोदी' नाम का उच्चारण करता है, तो दूसरा 'रेलिंग' या 'फुटबॉल' जैसी किसी चीज़ का नाम ले। सामान्यतः इस खेल के नतीजे में यह पाया जाता है कि दोनों ही खिलाड़ी इसमें विफल होते हैं : वे अक्सर किसी ऐसी चीज़ का नाम लेते हैं जो पिछले खिलाड़ी द्वारा लिये गये नाम से जुड़ी वस्तु के साथ किसी-न-किसी स्तर पर क़रीबी रिश्ता रखती है। सम्भवतः रघुवीर सहाय की यह कविता संसार की अर्थहीनता और असंगति की इसी संघटना को व्यंजित करती है:

बिल्ली रास्ता काट जाया करती है
प्यारी-प्यारी औरतें हरदम बकबक करती रहती हैं
चाँदनी रात को मैदान में खुले मवेशी
आकर चरते रहते हैं
और प्रभु यह तुम्हारी दया नहीं तो और क्या है
कि इनमें आपस में कोई सम्बन्ध नहीं।

दूसरे शब्दों में, संसार हमारे समक्ष आदि, मध्य और अन्त से युक्त, मसलन समरकन्द, मगध, कपिलवस्तु, उज्जयिनी, तक्षशिला, कोसाम्बी आदि, जिन बोधगम्य आख्यानों के रूप में प्रगट होता है, वे संसार को साधने और क़ाबू करने की कोशिश में उसके साथ भाषा द्वारा की गयी कूटयुक्तियाँ, या भाषा के 'मायादर्पण' में उभरते संसार के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। ऐसे प्रतिबिम्ब जो संसार और भाषा के बीच नीरन्ध्र, युति-रहित एकत्व के रूप में भासमान होते हैं।

अस्तु, भटका मेघ और दिनारम्भ की कुछ कविताओं को छोड़ दें, तो श्रीकान्त वर्मा की लगभग पूरी परवर्ती कविता इस विराट 'मायादर्पण' का विध्वंस करती है। वह व्यवस्था, सभ्यता, इतिहास,

संस्कृति नामक निर्मितियों के इन कविताओं में प्रयुक्त विभिन्न रूपों को, जिनमें स्वयं 'कविता' भी एक रूप है, 'डिकॉन्स्ट्रक्ट' करती है - इस शब्द के अनेक सम्भव अर्थों में।

इस तरह, जिसे हम इन कविताओं के सन्दर्भ में भाषा का अतिरेक कह रहे हैं, वह दरअसल इस विध्वंस या 'डिकॉन्स्ट्रक्शन' के नतीजे में पैदा हुआ मलबा है। भग्नावशेष। कोयला, राख और धूल। नाम। शव और श्मसान और डोम। आख्यान-च्युत और संज्ञा-मात्र में सिकुड़कर रह गयी संघटनाएँ। भाषा के इस मलबे में कोई क्रम, संहति, संगति, तालमेल, अनुपात, लय, संस्थिति, संयम, नियम और ध्येय नहीं है। सब कुछ गड्डमड्ड है। कुछ भी तय नहीं है कि 'विजेता है/कौन/और किसकी पराजय है', 'मै सुखी/हो रहा हूँ/मैं दुखी/हो रहा हूँ/मैं सुखी-दुखी होकर/दुखी-सुखी हो रहा हूँ' 'स्त्रियाँ/पता नहीं जीवन में आतीं/या जीवन से/जाती हैं!' 'किसी के विरोध में न होकर भी सबके विरोध में', 'खैबर से आओ या खैबर से जाओ/फ़र्क मामूली है', 'बाबर समरकन्द के रास्ते पर है/समरकन्द बाबर के रास्ते पर है'/ 'कोसाम्बी के पहले/केवल/कोसाम्बी थी/कोसाम्बी के बाद/केवल/कोसाम्बी है/कोसाम्बी के बदले/केवल/कोसाम्बी/मिल सकती है', 'यह रास्ता उज्जयनी को नहीं जाता/और यह कि यही रास्ता उज्जयनी को जाता है' या 'सच तो यह है कि/हर रास्ता उज्जयनी को जाता है/और यह/कि कोई रास्ता उज्जयनी को नहीं जाता'।

एक बिम्ब दूसरे को प्रति-बिम्बित करता है, एक वाक्य दूसरे को 'ओवरटेक' करता है, जैसे-तैसे पैदा हुए एक अर्थ को दूसरा अर्थ निहत्था कर देता है। वि-घ-ट-न का एक ऐसा नीरन्ध्र निर्मित होता है, जिसमें सम्भवन के बोध की किसी अनुगूँज की कोई गुंजाइश नहीं है। राजसत्ता, महानगरीय सभ्यता, अभिजात संस्कृति, वैयक्तिक अहं, तथा नृतत्त्व और पुरुषत्व की आधुनिक वेशभूषा और रूपसज्जा में यह वस्तुतः सत्ता (बीइंग) का आदिम, नैसर्गिक, संवेगपूर्ण, वहशी, विक्षिप्त, बहुलता-वैविध्य-युक्त, अतिचारी, लिबिडिनल रूप है, जिसने अपनी उद्दाम ताल और बीहड़ लय पर भाषा को कुछ इस तरह नचाया है कि भाषा की देह उसके विक्षेपों से अपनी आन्तरिक युति खोकर टुकड़ा-टुकड़ा होकर बिखर गयी है।

लेकिन, ज़ाहिर है कि यह सिर्फ़ शब्दों, वाक्य-खण्डों या वाक्यों का मलबा नहीं है; यह अर्थों और पदार्थों का मलबा भी है। या यूँ कहें कि यह पदार्थ के परमाणुविक ऊर्जावशेषों से आविष्ट भाषा का कचरा है। जिस मायादर्पण के ध्वंस से यह मलबा पैदा हुआ है उसमें, एक ओर, उस संसार की अराजकता, असंगति आदि के अवशेष मौजूद हैं जो अपने प्रदीर्घ मायादर्पण-काल में भाषा से अनुकूलित रहा है, और, दूसरी ओर, उसमें भाषा की उस अर्थहीनता की व्याधि के अवशेष भी मौजूद हैं जिस व्याधि को उसने इसी मायादर्पण-काल में संसार के निरन्तर संसर्ग में रहने से अर्जित किया है। इस मलबे में अर्थ का (या आप चाहें तो कहलें, निरर्थकता-बोध का) जो आवेश है वह संसार और भाषा दोनों में अपने-अपने मूलभूत स्वभाव की क्षति के अहसास का और परस्पर प्रतिशोध की आकांक्षा से उत्पन्न चिरस्थायी तनाव का नतीजा है। मानो संसार भाषा को उसके अर्थ से और भाषा संसार को

उसकी अर्थहीनता से निहत्था कर देना चाहती है। इस अर्थ में श्रीकान्त की कविता संहार की आकांक्षा से आकार लेती सृष्टि, या विघटन में आकार लेता सम्भवन (बिकमिंग) है। बेतुकी तुकों से युक्त इस विलक्षण सृष्टि या सम्भवन का एक महत्त्वपूर्ण संकेत इस तथ्य में लक्ष्य किया जा सकता है कि यह मलबा चाक्षुष स्तर पर मलबे या भग्नावशेषों की शक्ल में प्रगट नहीं होता। स्थिति, दरअसल इसके एकदम विपरीत है। वह प्रगट होता है एक ऐसे सुघड़, आकर्षक स्थापत्य की शक्ल में जिसे न सिर्फ़ अलक्षित नहीं किया जा सकता, बल्कि जिसे लक्ष्य करते हुए ही हम इस असामान्य सृष्टि और उसके अन्तर्निहित नियम को समझ सकते हैं। एक ऐसा स्थापत्य जो अपने सीढ़ीनुमा शिल्प में आरोहण-अवरोहण का तीक्ष्ण गत्यात्मक प्रभाव समेटे हुए है।

स्फीत परिमाण के साथ-साथ ज़बरदस्त गत्यात्मक बल श्रीकान्त की कविता का एक और अद्वितीय पक्ष है। पारम्परिक छन्दों में न लिखने वाले कवियों में श्रीकान्त वर्मा सम्भवतः अकेले ऐसे कवि हैं जिनके यहाँ गतिशीलता इतनी प्रबल है कि उसका अनुसरण न करना न केवल असम्भव है, बल्कि उसका अनुसरण करके ही आप उनके काव्यानुभव से तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। यह गत्यात्मक बल इस काव्यानुभव का अनिवार्य कारक है। हम उसे तीव्र आवेग, आवेश या प्रखर संवेग जैसा कुछ भी कह सकते हैं। वह अपने इस गत्यात्मक, या कहें गुरुत्वाकर्षक, बल से हमें अपने भीतर खींचकर, अभिभूत कर, अपने विक्षेपों से निरन्तर झकझोरती हुई, कुछ इस तरह आविष्ट कर देती है कि हम कविता पढ़ चुकने के बाद भी बहुत देर तक उसके गतिशील प्रभाव-क्षेत्र में बने रहते हैं। वह अपने विन्यास से एक रणक्षेत्र जैसा वातावरण रचती, शब्दों, मुहावरों, उक्तियों, लहज़ों को अस्त्रों, शस्त्रों, प्रक्षेपास्त्रों की तरह बरतती हुई, कटूक्तियों, वक्रोक्तियों, आक्षेपों, अभियोगों, आत्माभियोगों, तीखे सवालों से भरी, निरन्तर प्रलाप करती, बेहद बेचैन कविता है।

यह गत्यात्मक, गुरुत्वाकर्षक बल, यह प्रबल आवेश और संवेग किस चीज़ का नतीजा है? इसका जवाब हम एक पद का प्रयोग करते हुए दे सकते हैं, जो यद्यपि बहुत रूढ़ हो चुका है : मोहभंग। इस मोहभंग में इस क़दर प्रबलता है, कि वह हिन्दी की अब तक की कविता के सन्दर्भ में अभूतपूर्व है - मुक्तिबोध के बावजूद, जिनके यहाँ भी प्रबल मोहभंग है, लेकिन जिसे उतनी ही प्रबल उम्मीद का एक भाव निरन्तर सन्तुलित करता रहता है। दरअसल यह उम्मीद ही है जो मुक्तिबोध की कविता के समूचे ऊबड़-खाबड़पन के बावजूद उसको अन्ततः निर्मितिमूलक और निर्मिति-उन्मुख बनाती है, जिसका साक्ष्य उनकी अत्यन्त गोचर फन्तासियों में देखा जा सकता है। श्रीकान्त के यहाँ ऐसी कोई उम्मीद उनके दिनारम्भ के समय से ही नहीं है। इसीलिए यह मोहभंग सर्वथा निहत्था, निष्कवच, किन्तु उतना ही प्रतिशोधात्मक, आक्रामक और प्रबल है।

यह मोहभंग एकसाथ दुनिया से भी है और उस प्रिज़्म - यानी कविता - से भी है, जिसके सहारे श्रीकान्त इस दुनिया को देखते, अनुभव करते, समझते और स्वयं रचते रहे। इसीलिए यह मोहभंग एकसाथ इस दुनिया और कविता दोनों के संहार की आकांक्षा में, और इस आकांक्षा को

रूपायित करते उस विन्यास में फलित होता है, जिसे हम श्रीकान्त वर्मा की, किसी बेहतर शब्द के अभाव में, और लगभग वदतोव्याघात का जोख़िम उठाते हुए, 'कविता' कहते हैं।

लेकिन मोहभंग उसी को होता है, जिसे कभी मोह रहा होता है। और मोहभंग की प्रबलता भी अक्सर उस मोह की प्रबलता के विषमानुपात में होती है। इस मोह और उसकी प्रबलता को हम भटका मेघ (और दिनारम्भ की बहुत-सी कविताओं में भी) सहज ही लक्ष्य कर सकते हैं :

जिस पृथ्वी से जन्मा
उसे भुला दूँ
यह कैसे सम्भव है?
पानी की जड़ है पृथ्वी में
बादल तो केवल पल्लव है।
? ? ?
अलका भूल चुकी मैं अब तो
इस धरती की प्यास हरूँगा
सूखे पेड़ों, पौधों, अँकुओं की अब मौन पुकार सुनूँगा
सुखी रहे तेरी अलका मैं
यहीं झरूँगा।
अगर मृत्यु भी मिली
मुझे तो
यहीं मरूँगा।

भटका मेघ की इन कविताओं की जड़ें अपनी ज़मीन, अपने जल, अपने समय में, आवास और ममत्व के बोध में, पहचान, प्रतीक्षा, उत्साह, जिजीविषा, आह्वान, विनय, स्वाभिमान, आस्था, निष्ठा, समर्पण और उत्सर्ग में बहुत गहरे धँसी हुई हैं। इनमें इस अर्थ में एक ज़बरदस्त आत्मविस्मृति है कि इस संग्रह में लगभग एक भी ऐसी कविता नहीं है जिसमें 'कविता' स्वयं एक अभिप्राय के रूप में प्रगट हो। ये पूरी तरह हतप्रमाद (sane) कविताएँ हैं, जिनमें संसार और भाषा के बीच न केवल कोई तकरार नहीं है, बल्कि लगभग एक नीरन्ध्र समरसता है।

अस्तु, यही वह प्रबल मोह है जो श्रीकान्त की परवर्ती और सबसे महत्त्वपूर्ण कविताओं में भंग होता है - एक ऐसी प्रबलता के साथ कि इन कविताओं को सचमुच 'बुखार में कविता' की संज्ञा दी जा सकती है।

यह बुखार मगध में सन्निपात के स्तर को छू लेता है। सांघातक अवसाद से भरी, मानो, सृष्टि की अन्तिम गोधूली जैसे वातावरण में रूपायित इस सन्निपात में सारी पार्थिवता और काल की एकरैखिक निर्मितियाँ विदीर्ण (डिकम्पोज़) और अस्थि-शेष हैं। श्मशान, डोम, नगर के बीच से गुज़रते मुर्दे, शव, दाह-संस्कार कर लौटते लोग, अस्थियाँ, विधवाएँ, विलाप, टूटे हुए दुर्ग और फटे हुए झण्डे, सन्नाटा, मदिरा, प्रमाद और आलस्य में डूबे हुए शासक, जुआ खेलते, क़िस्से गढ़ते, ऊँघते नागरिक आदि सब इसी अवसाद और अन्तिम गोधूली के, देश-काल की इसी विदीर्णता और अस्थि-शेष के अनुभाव हैं। जिन आधुनिक, औद्योगिक, राजनैतिक, नगरीय, महानगरीय अनुभवों के, जिन कूटयुक्तियों, युद्धों और युयुत्साओं के संकेत मगध से पहले की कविताओं में भरे पड़े हैं, मगध में उनको उनके भग्नावशेषों में प्रतिबिम्बित करती एक देशकालातीत क़िस्म की भूलभुलैइयानुमा मिथकीयता विकसित होती है, जिसके भीतर से हर आवाज़ किंचित विकृत ढंग से प्रतिध्वनित होती हुई अपनी मूल आवाज़ के सान्निध्य में आकर बैठ जाती है। अपनी पूर्ववर्ती कविताओं के वाक्यों से भिन्न मगध के वाक्य अपने में सर्वथा स्वस्थमनस्क हैं, लेकिन इन वाक्यों का परस्पर सान्निध्य अर्थ के स्तर पर एक विक्षिप्तता पैदा करता है।

इस सन्निधि या संश्लेष से ही मगध के सारे मिथक अस्ति के सत्य में बदलते हैं : 'बालू पर/टिकता नहीं/किसी का निशान', या 'जब कोई नहीं करता/तब नगर के बीच से गुज़रता हुआ/मुर्दा/यह प्रश्न कर हस्तक्षेप करता है-/मनुष्य क्यों मरता है,' या 'रास्ते में/ मनुष्य का बूढ़ा हो जाना स्वाभाविक है-/रास्ता सुगम हो या दुर्गम', या 'मित्रो!/यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता,/कि मैं घर आ पहुँचा।/सवाल यह है/इसके बाद कहाँ जाओगे?' आदि। प्रसंगवश, अगर हम इस आख़िरी बोध को दिनारम्भ की इस प्रबल आकांक्षा से कि 'मैं अब घर जाना चाहता हूँ' से और फिर मायादर्पण की इस उद्विग्नता से कि 'कहाँ है तुम्हारा घर' के प्रदत्त क्रम में देखें, तो ये तीनों मिलकर श्रीकान्त की कविता के ही नहीं मनुष्य-मात्र के अस्ति-बोध और अवस्थिति-बोध का अनूठा सारांश प्रस्तुत करते हैं, यह मानवीय आकांक्षा के अनुरूप दुनिया को गढ़ने की विकलता और इस आकांक्षा के अन्ततः अपरिहार्य रूप से विफल होने की पीड़ा, या इस प्रक्रिया में दुनिया का एक विकृत रच देने के अहसास से जन्मा निरर्थकता-बोध है, जिसे मायादर्पण के शब्दों में, शायद इस तरह कहा जा सकता है कि 'मैं जानता हूँ एक दिन यह/पाने की विकलता/और न पाने का दुख/दोनों अर्थहीन हो जाते हैं।' हालाँकि हमें यह यह याद रखना चाहिए कि जितनी उत्कटता अर्थहीनता के इस अहसास में है, उतनी ही प्रबलता और अर्थ श्रीकान्त के यहाँ 'पाने की विकलता' और 'न पाने के दुख' में भी है। इसीलिए निरर्थकता के इस अहसास में अर्थ, ऐन्द्रियता और विश्वसनीयता पैदा होते हैं।

तीसरा रास्ता

ध्रुव शुक्ल

कविवर श्रीकान्त वर्मा की नज़र अपने काव्यारम्भ से ही इतिहास पर रही है। उनकी अधिकांश कविताओं में दिनारम्भ इतिहास की कोई न कोई स्मृति लेकर आता दीखता है और कविता की दिनचर्या इतिहास के आईने में अपना चेहरा देखते हुए बीतती लगती है। ये कविताएँ इतिहास के सामने रखे उस आइने की तरह भी हैं जिसमें हम अपने वर्तमान का चेहरा भी देख सकते हैं। इतिहास के नायकों ने मनुष्यों और पृथ्वी की हरितिमा को न जाने कितनी बार रौंदा है। श्रीकान्त वर्मा अन्याय से भरी सदियों के अन्तराल में बार-बार रौंदी जाती दूब के प्रति अपनी कविता में विकल हो उठते हैं और अनुभव करते हैं कि अब कवि स्वयं एक भटका मेघ है जो अल्का का पथ भूल गया है --

भटक गया हूँ
मैं असाढ़ का पहला बादल
किसी शाप से शप्त हुआ
दिग्भ्रमित हुआ हूँ
शताब्दियों के अन्तराल में घूम रहा हूँ, घुमड़ रहा हूँ
कालिदास मैं भटक गया हूँ
मोती के कमलों पर बैठी
अल्का का पथ भूल गया हूँ।

पहले हो गये कवि आगत के कवियों के लिए रास्ते बनाते रहे हैं, सेतु बाँधते रहे हैं। अब तक प्रत्येक कवि अपनी होनी को ही कहता आया है। हर बड़े कवि को सृष्टि के बिखराव में अपनी अल्पता का बोध बना ही रहता है। याद करें, कवि शमशेर बहादुर सिंह को, जो कहते हैं -- मैं समाज तो नहीं, न मैं कुल जीवन, मेरा कौन सहारा। देश कवि से आशा करता है पर उसे देता क्या है, कुछ भी तो नहीं। और अकेला कवि न जाने कितने रास्तों की खाक छानता फिरता है। श्रीकान्त वर्मा इन्हीं अकेले कवियों में एक हैं।

वे रामायण काल से ही इतिहास को खंगालते हैं, छानते हैं और पाते हैं कि -- कुछ भी तो याद नहीं, बस एक सदियों से उड़ती धूल है जो रामायण की पोथी पर पुरखों के अवसाद की तरह जमी हुई है। वे प्रश्न उठाते हैं कि -- जरा सोचो उस व्यक्ति के बारे में जो अकेला पड़ गया है, कभी भी लड़ा गया हो महाभारत क्या फर्क पड़ता है। वे द्रोणाचार्य को टोकते हैं कि -- मत सिखाओ धनुर्विद्या, सब सत्ता के लिए लड़ रहे हैं, सत्य के लिए तो कोई नहीं लड़ रहा, वे कहते हैं --

पीछे कुछ नहीं
केवल स्मृतियाँ हैं --
मूर्ति से मूर्ति, मनुष्य से मनुष्य, कविता से कविता
मोहनजोदड़ो से अब तक का सिलसिला है
युध्द की अटूट शृंखला है।

जैसे तुलसीदास की चौपाइयाँ, कबीर की साखियाँ और मिर्ज़ा ग़ालिब के शेर आड़े वक्त में याद आकर स्मृति को जगाया करते हैं, श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ बिलकुल ऐसी ही हैं। उनकी अनेक कविताओं की पंक्तियाँ मेरे मन में गूँजती रहती हैं। फिर मन ही मन उनका एक कोलाज-सा बनने लगता है। उन पंक्तियों को अपने मन के कैनवस पर चिपकाता हूँ और उनकी आवाज सुनता हूँ। वे मुझसे कह रहे हैं -- मेरे सामने समस्या है, किसको किस नाम से पुकारूँ, आईने को आईना कहूँ या इतिहास, किसकी तलाश है, कौन मिलता है। अपने किस परिचित नगर को आवाज़ दूँ। वे याद दिला रहे हैं -- जीती थी जो कविता स्वयंवर में, छीनने आये हैं उसे कुछ तुर्क, व्यर्थ है अपील, कोई संहिता नहीं, टूट चुका है सब कोणार्क के समेत। ले जाओ मेरा प्रमाण भी लूट में शुमार कर, रहा नहीं कुछ भी सोमनाथ में। वे मथुरा की टूटी हुई मूर्ति का विलाप सुनते हैं। दीख नहीं पड़ते अश्वारोही लेकिन सुन पड़ती है टाप, झेल रहा हूँ शाप। वे अनुभव करते हैं -- मैं एक बासी दुनिया की मिट्टी में दबा हुआ अपने को खोद रहा हूँ। पता नहीं, किसकी प्रतीक्षा करता है शहर, किसके लिए तोरण सजाता है। पाप संसार में, पाखण्डी गर्भ में। घबराकर दुबकी पड़ी हैं भुजाओं में शंकाएँ, औरों के दावों में प्रत्युत्तर सोये हैं। एक दुनिया से निकलकर दूसरी में जा रहे हैं। वे बीसवीं सदी को देखते हैं और कहते हैं -- मुबारक हो, गोएबल्स, मुबारक हो, खाकी वर्दी पहने तुम किसका पता पूछ रहे हो। मुबारक हो, हेनरी, मुबारक हो, लौटते हुए वियतनाम से तुम किसे ढूँढ रहे हो, अपने अतीत को, अपने भविष्य को, हिरोशिमा की अन्तरात्मा को, कोरिया की दबी हुई सिसकी को। श्रीकान्त वर्मा को युध्द के बाद शवों के सिरहाने बैठी शान्त नगर वधुएँ याद आती हैं और वे कटाक्ष करते हैं कि -- मरने वाले सभी शान्ति प्रेमी थे। वे कविता में समरकाल की प्रिया को समरकाल की याद की तरह ओढ़ लेते हैं।

उनके कविता-संग्रह 'भटका मेघ' फिर 'मायादर्पण' फिर 'जलसाघर' और फिर 'मगध' को पढ़ते हुए बार-बार यही गूँज सुनायी देती रहती है --

मैं हरेक रास्ते पर कुछ दूर चलकर पाता हूँ
यह रास्ता ग़लत था
मेरा विश्वास जो मेरी परछाईं की तरह मेरे संग था
मुझे छोड़ गया है।

कवियों का काम रास्ता बताना नहीं है। वे खुद उन रास्तों पर भटकते हैं जो आज तक कहीं नहीं गये। इतिहास के सम्मोहन में भटकती मगध की कविताएँ ऐसे ही रास्तों पर भटकती हैं। श्रीकान्त वर्मा काल की रुग्ण डाल पर लटकी जन्म-जन्मान्तरों की कथाएँ और नगरों नागरिकों की व्यथाएँ कहते हुए बार-बार दुहराते हैं --

मैं कल तक रास्ता दिखा रहा था
यह कहकर कि
यह रास्ता उज्जयिनी को जाता है
मैं आज भी रास्ता दिखा रहा हूँ
यह कहकर कि
यह रास्ता उज्जयिनी को नहीं जाता

उज्जयिनी लगातार रास्ता जोहती है
उज्जयिनी रास्तों से मुँह फेर चुकी है
क्योंकि हम उन रास्तों से नहीं आये
जो उज्जयिनी को जाते हैं
या उज्जयिनी नहीं जाते।

ऐतिहासिक प्राचीन भारत के प्रमाण गौतम बुध्द के जमाने से मिलते हैं। उस समय की बुध्द कथाओं में नगरों-नायकों और नागरिकों का वर्णन मिलता है। महाभारत काल में इन्द्रप्रस्थ की प्रभुता क्षीण होने के बाद फिर बहुत वर्षों तक कोई सम्राट नहीं हुआ और दीर्घकाल तक अनेक जातियाँ विभिन्न देश-कालों में राज्य करती रहीं। प्राचीन बौध्द संघों के अभिलेख में सोलह राष्ट्रों का विवरण मिलता है जिनमें -- अंग, मगध, काशी, कोशल, वृजि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्वक, अवन्ती, गांधार और काम्बोज हैं। इन राष्ट्रों का परिचय भौगोलिक क्रम के अनुसार नहीं, जातीयता के अनुसार है। इनकी कुलीनता और आचार भी प्रसिध्द रहे हैं। इनमें अनेकों ने गणतन्त्र प्रणाली ही अपनायी। इनकी एकता राजनीति के कारण उतनी नहीं जितनी धर्म और जनता की स्वाभाविक और स्वशासित संस्थाओं की स्वायत्तता की रक्षा पर अवलम्बित थी। इन राज्यों के अलावा

कलिंग का पता भी चलता है जिसकी राजधानी दन्तपुर थी और विदेह राज्य भी जिसकी राजधानी मिथिला थी। प्राचीन भारत के ये तथ्य रेखांकित करने में जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक मदद करते हैं।

यह समय क़रीब ढाई हज़ार साल पहले का है। श्रीकान्त वर्मा यूरोप के ढाई हज़ार साल के इतिहास पर भी नज़र डालने से नहीं चूकते। वे भलीभाँति जानते हैं कि जिसमें -- नीरो से लेकर हिटलर तक मनुष्य की खिल्ली उड़ाने वाले, पृथ्वी को रौंदने और नेस्तनाबूत करने वाले बर्बरों का एक लम्बा सिलसिला है। जलसाघर कविता संग्रह में प्रकाशित उनकी कविताएँ इस काल में पूरब और पश्चिम को परखती हैं और हमसे कहती हैं -- नागरिको सावधान, रास्ते के दोनों ओर वधिक हैं। तब क्या फिर तीसरा रास्ता महात्मा बुध्द के मज्झिम-निकाय में हैं या तीर्थंकर महावीर की अहिंसा में या महात्मा गांधी के सत्याग्रह में है।

भारत में वैदिक यज्ञों में हिंसा और पुरोहिताई के दबदबे से ऊब के फलस्वरूप अहिंसा के पक्षधर जैन धर्म की प्रतिष्ठा हुई। फिर उसी के समानान्तर बौध्द धर्म का प्रादुर्भाव होने लगा जिसमें हिंसा और अहिंसा की अतियों से बचकर मध्यमार्ग की प्रतिष्ठा हुई जो सम्यक् आष्टांगिक मार्ग भी कहलाया। इतिहासकारों का मत है कि बुध्द की इस सम्यक् धार्मिक क्रान्ति ने विभिन्न राष्ट्रों को परस्पर सन्धि-विग्रह के लिए बाध्य किया। बुध्द शाक्य वंश में कपिलवस्तु के पास लुम्बिनी के वन में जन्मे थे। अपनी अस्सी वर्ष की आयु में बुध्द ने अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि - मैं वृध्द हूँ, दुर्बल और श्रान्त हूँ, मैं यात्रा के अन्त और जीवन की सीमा पर पहुँच चुका हूँ और अब तथागत का परिनिर्वाण होगा। बुध्द अपने किसी दुख को साथ नहीं ले गये होंगे, जब दुख साथ जाता है तब उसे लेकर फिर लौटना पड़ता है। निर्मल वर्मा अपने उपन्यास - एक चिथड़ा सुख - में सवाल पूछते हैं कि - मरे हुए आदमी का दुख कहाँ जाता है और श्रीकान्त वर्मा मगध की कविताएँ निर्मल जी को समर्पित करते हुए कहते हैं -

चलना ही है तो कपिलवस्तु चलिए
जो जाता है कपिलवस्तु
लौटकर नहीं आता
जो नहीं जाता कपिलवस्तु
जीवन गुज़ारता है
कपिलवस्तु, कपिलवस्तु चिल्लाता है।

तीर्थंकर महावीर लिच्छवियों के वंश में पैदा हुए। उस समय लिच्छवि एक अग्रणी गणतन्त्र था और जिसकी राजधानी वैशाली थी। महावीर ने चम्पा, वैशाली, मिथिला, श्रावस्ती और नालन्दा में अपने

धर्म का प्रचार किया। बुध्द ने भी लिच्छवियों के गुणों को पहचानकर कहा कि वे आलस्य, प्रमाद और विलासिता से दूर हैं। वे आन्तरिक मेल-मिलाप और सुरुचि से सम्पन्न हैं। उनमें नीति और सम्मति की एकता है। तभी तो श्रीकान्त वर्मा अपनी कविता में कहते हैं --

लिच्छवि कभी-कभी होते हैं
इसीलिए लिच्छवि होते हैं

इन्द्रप्रस्थ और अयोध्या के बाद पाटलिपुत्र बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण दीर्घकाल तक भारत की राजधानी बना रहा। उस समय की बौध्द कथाओं में कोशल, मगध, अवन्ति और वत्स राष्ट्रों का ही वर्णन प्रमुखता से मिलता है। बाकी राष्ट्र कुछ पीछे छूट जाते हैं। कोसल में प्रसेनजित, मगध में बिम्बसार, अवन्ति में प्रद्योत और वत्स राष्ट्र में उदयन राज्य करते थे। उदयन की राजधानी कोसाम्बी थी। कथा-सरितसागर में उदयन की दो रानियों उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता और मगध की राजकुमारी पद्मावती की कहानियाँ कही गयी हैं। अजातशत्रु वैशाली की राजकुमारी से उत्पन्न हुआ जो बिम्बसार को ब्याही गयी एक रानी थी, दो और भी थीं। मगध की कविताओं में इन्हीं नगर राज्यों और उनके नायक-नायिकाओं की स्मृतियाँ बसी हुई हैं। इन राज्यों पर जैन और बौध्द, दोनों ही धर्मों का प्रभाव पड़ा। बौध्द कहते हैं कि अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बसार की हत्या की और फिर बुध्द की शरण में आकर परिताप प्रकट किया। जैन किंवदन्ती के अनुसार बिम्बसार ने उस बन्दीगृह में आत्महत्या कर ली जिसमें अजातशत्रु ने अपने पिता को कैद कर लिया था। कविता प्रश्न उठाती है -

क्या यह वही पाटलिपुत्र है
जिसके लिए लड़ रहे हैं
अजातशत्रु, बिम्बसार, चन्द्रगुप्त
हम और आप
जो अब एक किंवदंती है
मूर्ख, एक किंवदंती के लिए लड़ रहे हैं

श्रीकान्त वर्मा कहते हैं कि -- अवन्ती, मालवा, कलिंग, आम्रपाली, वासवदत्ता, चन्द्रगुप्त, अशोक -- पात्रों, चरित-नायकों का एक ऐसा रेला है, जो चला आ रहा है। एक भीड़ है जो उमड़ी पड़ रही है। यही हैं मेरी कविताएँ। इनका मुख्य सरोकार -- मृत्यु, संहार और नैतिक क्षय। मैं जानता हूँ मगध क्या है -- वह कालातीत काल है।

महावीर और बुध्द के समकालीन मगध राज्य पर बाद में समय पाकर नंदों ने शासन किया। जिनमें पहला नंद ही अपने भाइयों के साथ डकैती किया करता था और इसी ने मगध के वंशज को

राज्य से बाहर कर दिया। श्रीकान्त वर्मा की कविता मगध को ढूँढती है --

लो, वह दिखायी पड़ा मगध,
लो, वह अदृश्य --
कल ही तो मगध मैंने छोड़ा था
कल ही तो कहा था मगधवासियों ने
मगध मत छोड़ो
.....
तुम भी तो मगध को ढूँढ रहे हो
बन्धुओ, यह वह मगध नहीं
तुमने जिसे पढ़ा है किताबों में,
यह वह मगध है
जिसे तुम मेरी तरह गँवा चुके हो

कथासरितसागर के आदि आचार्य वररुचि हैं जो मगध में अंतिम नन्द के मन्त्री थे और जो तक्षशिला विश्वविद्यालय में आचार्य थे। बौध्द लोग इन्हें मगधदेशीय ब्रह्मबंधु कहते थे। शकटार वररुचि का मित्र और नन्द का ही एक मन्त्री था। नन्द की मृत्यु के उपरांत वररुचि और शकटार ने मिलकर मगध पर राज्य किया। किसी समय नन्द से अपमानित चाणक्य ने नन्द वंश के विनाश की कसम भी खा रखी थी और समय आने पर उसे चन्द्रगुप्त मिला और चाणक्य ने उसकी होनहार को पहचानकर उसे राज्य के लिए गढ़ा था। शकटार ही था जिसने चाणक्य की मदद से किसी एक और नन्द की हत्या करके चन्द्रगुप्त को मगध का राज्य दिलाया। साम्राज्य संहार के बिना नहीं गढ़े जा सकते। श्रीकान्त वर्मा शकटार को याद करते हैं --

शकटार तभी आता है
जब चन्द्रगुप्त आता है
हत्या करता है शकटार
चन्द्रगुप्त गले से लगाता है
कभी-कभी हत्या करता है चन्द्रगुप्त
शकटार गर्दन झुकाता है

चन्द्रगुप्त का जीता हुआ विशाल साम्राज्य विरासत में उसके पुत्र बिम्बसार और फिर पौत्र अशोक को मिला। पर कलिंग की विजय में हुए नरसंहार को देखकर अशोक राज्य पाकर भी अकेला रह गया। उसके अकेलेपन और पश्चाताप को श्रीकान्त वर्मा अपनी कविता में रचते हैं -- केवल

अशोक ने शस्त्र रख दिए हैं, केवल अशोक लड़ रहा है। और मगध के लोग क्या कर रहे हैं --

मगध में लोग
मृतकों की हडिड्याँ चुन रहे हैं
कौन-सी अशोक की हैं
और चन्द्रगुप्त की
नहीं, नहीं ये बिम्बसार की नहीं हो सकतीं
ये अजातशत्रु की हैं --
कहते हैं मगध के लोग और आँसू बहाते हैं।

नगरों के स्मृतिशेष होने पर लोगों को रोने की आदत पड़ गयी है -- श्रीकान्त वर्मा की कविता कहती है और यह भी पूछती है -- कोसल में नागरिक क्या कर रहे हैं और फिर जवाब देती है -- किस्से गढ़ते हैं, जुआ खेलते हैं, खीझते हैं और कोसल के अतीत पर पुलकित होते हैं। जो किस्से नहीं गढ़ते, जुआ नहीं खेलते, खीजते भी नहीं और अतीत पर पुलकित नहीं होते, वे सिर्फ़ ऊँघते हैं। कोसल में विचारों की कमी है।

तो चलो, छोड़ो कोसल को, उसकी तो कोई शैली ही नहीं बनी। तो अब कहाँ जायें, अवन्ती में अनाम की तरह घूमें। -- श्रीकान्त वर्मा प्रश्न पूछते हैं और उत्तर भी देते हैं --

क्या इससे कुछ फर्क पड़ेगा
अगर मैं कहूँ
मैं मगध का नहीं
अवन्ती का हूँ
.....
कोई फर्क नहीं पड़ेगा
मगध के माने नहीं जाओगे
अवन्ती में पहचाने नहीं जाओगे।

तीसरे रास्ते की खोज में ऐतिहासिक अवसाद से भरी श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ कोसल से कन्नौज तक यात्रा करती हैं। इस मार्ग में उस धर्मनिष्ठ चम्पा नगरी की भी स्मृति बसी हुई है जहाँ के राज्यकर्ता पाणिनी के व्याकरण, षटदर्शन और बौध्द दर्शन के व्याख्याकार रहे हैं। संस्कृत भाषी और कलानिपुण नागरिकता रचने वाली चम्पा की तरफ एक कविता कुछ इस तरह इशारा करती है --

यह रास्ता सिर्फ़ चम्पा तक जाता है

जिन्हें और कहीं जाना है
और किन्हीं रास्तों से जायें
हम चम्पा जाने वालों को
यह कहकर न भटकायें --
क्या यह रास्ता चम्पा तक जाता है
हमें सिर्फ़ चम्पा जाना है।

श्रीकान्त वर्मा कई-कई बार अपनी कविताओं में यह दोहराते ही रहते हैं कि -- मित्रो, प्रायः यही होता है कि बताये गये रास्ते वहाँ नहीं जाते जहाँ हम पहुँचना चाहते हैं जैसे नालन्दा जैसे तक्षशिला। इन कविताओं के रास्ते में अमरावती भी पड़ती है पर यह देवताओं की पुरी अब नहीं रही। यह तो विदर्भ में बसी कोई और अमरावती है जो किसी की नहीं रही, उसके लिए कोई लड़ने को तैयार नहीं।

बीते ढाई-तीन हज़ार वर्षों में भटककर श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ सातवीं सदी में श्रीहर्ष की धर्म सभाओं में कुछ ढूँढती-सी लगती हैं, शायद कोई जीवन-सत्य मिल जाये। सब जा रहे हैं तो वे भी कन्नौज और काशी जाती हैं, काशी में शवों का हिसाब होता देखती हैं और वहाँ जाकर पाती हैं --

सभा बर्खास्त हो चुकी है, सभासद चलें
फैसला हमने नहीं लिया --
सिर हिलाने का मतलब फैसला लेना नहीं होता
हमने तो सोच-विचार तक नहीं किया
बहसियों ने बहस की, हमने क्या किया
हमारा क्या दोष, न हम सभा बुलाते हैं, न फैसला सुनाते हैं
वर्ष में एक बार काशी आते हैं --
सिर्फ़ यह कहने के लिए
कि सभा बुलाने की भी आवश्यकता नहीं
हर व्यक्ति का फैसला जन्म के पहले हो चुका है

श्रीकान्त वर्मा इतिहास को परखकर ही तो कहते हैं -- मित्रो, दो ही रास्ते हैं -- दुर्नीति पर चलें, नीति पर बहस बनाये रखें। दुराचरण करें, सदाचार की चर्चा चलाये रखें। असत्य कहें, असत्य करें, असत्य जियें -- सत्य के लिए मर मिटने की आन नहीं छोड़ें। अन्त में प्राण तो सभी छोड़ते हैं, व्यर्थ के लिए हम प्राण नहीं छोड़ें। मित्रो, तीसरा रास्ता भी है -- मगर वह मगध, अवन्ती, कौशल या विदर्भ होकर नहीं जाता। प्रश्न उठता है कि फिर वह कहाँ होकर जाता है। इस प्रश्न का सामना

करती श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ दैहिक, दैविक, भौतिक और आध्यात्मिक -- चारों तापों की आग को तापती रही हैं। वे इतिहास के अलग-अलग समयों में मानव देह का तापमान नापती हुई, खुद किसी तेज़ बुखार में तप रही हैं और कह रही हैं --

मित्रो, यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता
कि मैं घर आ पहुँचा
सवाल यह है
इसके बाद कहाँ जाओगे

श्रीकान्त वर्मा ने ही बीसवीं सदी के सातवें दशक में मनुष्य के जीवन को उसके धर्म, राजनीति और इतिहास के मायादर्पण में भलीभांति पहचानकर घर-धाम का प्रस्ताव किया था जहाँ वन-पर्वतों, महुए के वनों में अपने हिस्से का कपास धुनता, फावड़ा उठाता, ज़मीन गोड़ता, गारे पर ईंट बिठाता, गोद भरता जीवन नदी के ढोंके पर कुछ देर बैठकर सुस्ता लेता है, दिलरी गा लेता है। श्रीकान्त वर्मा कहते हैं --

मैं अपने आसपास
अपना एक लोक रचना चाहता हूँ
मैं महुए के वन में
एक कण्डे-सा सुलगना, गुँगवाना, धुँधवाना चाहता हूँ
मैं अब घर जाना चाहता हूँ।

दिन गिनती सभ्यताओं और इतिहास के बुखार में तपती श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ अक्सर पूछती रही हैं -- कहाँ है तुम्हारा घर --

अपना देश खोकर कई देश लाँघ
पहाड़ से उतरती हुई चिड़ियों का झुण्ड
यह पूछता हुआ ऊपर-ऊपर
गुजर जाता है -- कहाँ है तुम्हारा घर

वह घर-धाम, जहाँ से अपने ही पाँवों से खिंचती जाती पगडण्डी निकलती है और अनुभव होता है कि कोई रास्ता कहीं नहीं जाता, उसे तो बस चलते-चलते और खुद अपना सामना करते हुए बनाना पड़ता है। फिर कोई किसी को रास्ता नहीं दिखाता -- आखिर सबको मणिकर्णिका तक ही तो जाना है।

प्रत्येक समय के कवियों की कविता हमारे मन को सम्बोधित हुआ करती है और उस मन को

आत्म तक ऊँचा उठाने की अभिलाषा हमसे करती है। कविता में बोलता कवि का मन दरअसल हमारा ही मन है, जो आत्म-सम्भवा अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल है। अगर गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता के सहारे कहें कि -- अगर वह मन आदर्शवादी और सिध्दान्तवादी है, तो यह खतरा जीवन भर बना ही रहेगा कि वह उदरम्भरि बन अनात्म की ओर ही जायेगा। मुक्तिबोध की कविताओं में हमारे मन का यह अहसास इतना गहरा है कि संकोचवश वे हमारी अधूरी और सतही ज़िन्दगी की कविता बनाने में लजाते हैं। पर श्रीकान्त वर्मा नहीं लजाते। वे कविता रचकर हमें, हमारी करतूतों का रोज़नामचा दिखाते हैं। वे हमारे अपराधों को अपना मानकर अपनी कविताओं में हू-ब-हू दर्ज करते हैं और हम कवि को पापी ठहराकर साफ़ बच निकलते हैं। हम ही क्या, साहित्य के आलोचक भी अपनी करतूतों पर परदा डाल लेते हैं। जबकि श्रीकान्त वर्मा हमारी करतूतों के दरोगा कवि कहे जा सकते हैं।

हम ऐसे समय में रह रहे हैं जिसमें पुण्यात्माओं की प्रामाणिकता संदिग्ध है। विनोबा भावे कहते थे कि कोई कवि कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो। अगर वह प्रामाणिक पापी है तो उसकी कविता मुझे हर हाल में मुक्त करेगी। कहना चाहिए कि कविता कोई रास्ता नहीं बताती, वह तो अब तक बनते आये रास्तों पर प्रश्न उठाती है और वह उस घर का पता ज़रूर बताती है, जहाँ पहुँचने के लिए सबको अपनी-अपनी अतियों से मुक्त रहकर सम्यक् रास्ते बनाना पड़ते हैं। हमारी प्रकृति अष्टधा है, इसीलिए मार्ग अराजक एकांगी नहीं, सम्यक् आष्टांगिक है और जो हमारी देह के भीतर से गुजरता है। बाहर तो बस एक ही रास्ता है जो मणिकर्णिका तक ही जाता है। श्रीकान्त वर्मा मसीही इतिहास के ही नहीं, भागवत इतिहास के भी कवि हैं जो जानते हैं कि भवसागर पार करने में बालू पर टिका कोई साम्राज्य अब तक किसी के काम नहीं आया है। उनकी कविता हमें पहले हो गये कवियों की तरह फिर याद दिलाती है -- बालू पर टिकता नहीं किसी का निशान।

बेघर कवि की कविताएँ

उदयन वाजपेयी

मकां है कब्र जिसे लोग खुद बनाते हैं
मैं अपने घर में हूँ या मज़ार में हूँ।

मुनीर नियाज़ी

... जो घर फूँके आपनो चले हमारे साथ।

कबीर

१.

ईरानी फ़िल्मकार माजिद मजीदी की फ़िल्म 'बादलों के परे' उनकी भारत में बनायी अकेली फ़िल्म है।* फ़िल्म के भाई-बहिन ग़रीब हैं। किशोर भाई नशीली दवाओं को महानगर में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाकर पैसे कमाता है। बहिन उसी शहर में एक धोबी की सहायक है जो उसका यौन शोषण भी करता है। कुछ ऐसा होता है कि निर्दोष बहन को जेल जाना पड़ता है। भाई उसे छुड़ा नहीं पाता। इस बीच उसका काम भी छूट जाता है। वह तरह-तरह के काम करता है और अपनी बहिन के तैयार किये मकान में रहता है। बहिन को जेल में एक क़ैदी मिलती है जिसका जेल में ही जन्मा बच्चा उसके साथ रहता है। उस बच्चे का अपनी क़ैदी माँ के अलावा कोई नहीं है। बहिन की उस बच्चे से क़रीबी हो जाती है। वह उसके साथ खेलती है और जेल में होते निरन्तर अपमान को सहते हुए दिन गुज़ारती है। एक दिन बच्चे की माँ जेल में ही मर जाती है। बच्चा बहिन के साथ अकेला रह जाता है। इस बीच जेल के बैरक में एक चूहा आने लगता है। वह चूहा भी बहिन और बच्चे से हिल-मिल जाता है।

इस दरमियान बहिन के मकान में अकेला रहता भाई देखता है, उसके घर के नीचे बैठा एक प्रवासी तमिल परिवार बारिश में भीग रहा है। उनके पास रहने जगह नहीं है। भाई उन्हें कुछ दिनों

* किसी भी अपेक्षाकृत बेहतर फ़िल्म की तरह यह फ़िल्म भी केवल कहानी नहीं है। मैं जो कहने जा रहा हूँ, वह फ़िल्म के कुछ दृश्य हैं और फ़िल्म का मेरा मन पर पड़ा प्रभाव है जिन्हें मैं कुछ वाक्यों में लिख रहा हूँ।

के लिए आसरा देने अपने मकान में ले आता है। तमिल परिवार के सभी सदस्य अपनी ही भाषा बोलते हैं। सिर्फ़ एक युवा लड़की अंग्रेज़ी बोल लेती है। उसी के सहारे भाई से संवाद हो पाता है। भाई यह चाहता है कि तमिल परिवार उसका घर छोड़कर चले जायें पर उसका उनसे लगाव भी हो गया है।

माजिद मजीदी की इस फ़िल्म में 'अन्तरिम घरों' का प्रस्ताव है। फ़िल्म के चरित्रों के पास कोई भी स्थायी घर नहीं है। बहिन, क़ैदी का बच्चा और चूहा जेल में और भाई अनजान तमिल परिवार के साथ अन्तरिम घर बनाते हैं, अन्तरिम या भंगुर घर ! ये घर किन्हीं सुपरिभाषित रिश्तों के आधार पर नहीं बने हैं, ये संयोग के जाये हैं। पर ये हैं घर ही। बिना किसी आश्वासन के, बिना किसी रस्मो-रिवाज़ के इन दोनों जगहों पर 'बादलों के परे' में घर बनते हैं। ये आधुनिक उजड़े हुए लोगों के संक्षिप्त आत्मीय अवकाश हैं, संक्षिप्त और वध्य जिनमें सान्निद्ध और सुरक्षा का कोई सुदीर्घ आश्वासन नहीं है। क्या पश्चिमी आधुनिकता हम एशियायी लोगों को हमारे स्थायी घरों से उठाकर ऐसे संक्षिप्त, अन्तरिम घरों में ले आयी है?

२.

श्रीकान्त वर्मा की कहानी 'घर' में मजीदी की फ़िल्म की तरह ही बेदरो-दीवार के घर की कल्पना है। एक ग़रीब परिवार आख्याता के घर के आहाते में रुकता है। परिवार में स्त्री-पुरुष और उनका छोटा बच्चा है। वे बारिश से बचने आख्याता के घर के बरामदे में आ टिके हैं। वे कुछ ही देर में (आख्याता के) घर के बाहर घर बना लेते हैं जिसके स्थायित्व की सम्भावना शून्य है, जिसे बारिश के रुकते ही सिमट जाना है।

श्रीकान्त जी के रचना-पुरुष (जिसमें उनके काव्य-पुरुष और कथा-पुरुष शामिल हैं) की शायद सबसे गहरी चाह घर की है। वह केवल उसकी नहीं, आधुनिक मनुष्य मात्र की चाह है, क्योंकि यही वह सुरक्षित, साहचर्यपूर्ण अवकाश (स्पेस) रहा है जिसमें मनुष्य लम्बे समय तक रहता आया था और जिसकी लगभग असम्भाव्यता का बोध भी आधुनिक मनुष्य के साथ छाया की तरह चलता है। पिछले क़रीब ५०० साल की पश्चिमी प्रभुत्व और उसके तहत आधुनिक राष्ट्र राज्य के बनने की प्रक्रिया में, विशेषकर तथाकथित औद्योगिक क्रान्ति के बाद निरन्तर घर का क्षय हुआ है, घर टूटे हैं पर घर की चाह नहीं। वह अक्षुण्ण है। जैसे पशु-पक्षी स्वभावतः घोंसला बनाते हैं, मनुष्य सान्निद्ध बनाता है। यहीं से घर की चाहना उत्पन्न होती है। यह चाहना जितनी सांस्कृतिक है उतनी ही नैसर्गिक भी है।

कहाँ है तुम्हारा घर ? अपना देश खोकर कई देश लाँघ
पहाड़ से उतरती हुई
चिड़िया का झुण्ड
यह पूछता हुआ ऊपर-ऊपर

गुज़र जाता है : कहाँ है तुम्हारा घर ?
दफ़्तर में, होटल में, समाचार-पत्र में,
सिनेमा में,
स्त्री के साथ एक खाट में ?
नावें कई यात्रियों को
उतारकर
वेश्याओं की तरह
थकी पड़ी हैं घाट में।

(बुख़ार में कविता)

बीसवीं शती के मूर्धन्य और विवादास्पद दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर ने आधुनिक मनुष्य के अस्तित्वगत 'बेघरपन' की बात कही थी। पर यह बात याद रखने की है कि आधुनिक मनुष्य भले ही बेघर हो गया हो, या होता जा रहा हो, उसे घर पाने की उम्मीद भले न हो, उसे पाने की चाह उसके भीतर निरन्तर आन्दोलित होती है। शायद वह चेतना के किसी गहरे स्तर पर काँपती रहती है। यही उसकी सबसे गहन त्रासदी है। इसी चाहना की खातिर वह युद्ध करता है, उपनिवेश बनाता है, समाज को अलग-अलग तरह से तोड़ने का प्रयत्न करता है, साम्प्रदायिकता का ज़हर घोलता है पर उसकी विडम्बना यह है कि इन सारे उपक्रमों से उसका बेघरपन बढ़ता ही है, क्योंकि इन रास्तों से केवल नकली घर ही बन सकते हैं। इन घरों से निराश वह फिर वही सब करने में जोशोखरोश से दोबारा जुट जाता है और अधिक बेघर होता जाता है। पिछले दो-तीन सौ वर्षों की अनवरत हिंसा का शायद यही कारण रहा है : घर की असम्भव्यता और घर की चाहना का साथ होना। श्रीकान्त जी ने लिखा है-

सम्भव नहीं है
कविता में वह सब कह पाना
जो घटा है
बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ !
काँपते हैं हाथ !

(युद्ध नायक)

३.

हिंसा होती रहती है, घर बन नहीं पाता। घर की चाह गहराती रहती है।

मैं अब घर जाना चाहता हूँ
मैं जंगलों
पहाड़ों में
खो जाना चाहता हूँ
मैं महुए के
वन में
एक कण्डे-सा
सुलगना, गुँगुवाना,
धुँधुवाना
चाहता हूँ।

(घर-धाम)

घर जाने की यह चाह श्रीकान्त जी के अपने पैतृक नगर से महानगर जाने पर उत्पन्न नहीं हुई थी। उनके काव्य-पुरुष ने इसके बहुत पहले से ही अपने को बेघर महसूस करना शुरू कर दिया था।

मैं बिना पंखुरी, बिन टहनी का गन्ध फूल

(मैं बिन टहनी का गन्ध फूल)

मुझमें नहीं था-
था हाड़-हाड़ में बहता पुरखों का अन्धकार।
पुरखों का अन्धकार, प्रतिभा का क्षय
और प्रियजन के पाप को पाप न
कह सकने का
पाप लिये
अपने ही आस-पास घिरे हुए
जीवित रहने के कष्ट के तारों से
बिन्ध-बिन्धकर तार-तार।

(क्या था वह?)

कालिदास ! मैं भटक गया हूँ,
मोती के कमलों पर बैठी
अलका का पथ भूल गया हूँ।
...

मुझे क्षमा करना कवि मेरे !
तब से अब तक भटक रहा हूँ।

(भटका मेघ)

वह केवल बेघर नहीं हुआ है, वह अपने छूट गये घर को भी लौट नहीं सकता।

मुझे क्षमा करना कवि मेरे !
मैं अब अलका जा न सकूँगा।

(भटका मेघ)

घर, प्रेम, माँ-बाप, कविताएँ, एक-एककर छूटते हैं
सब,
दाँव पर लगा हूँ खुद मैं,
दौड़ रहा हूँ हरेक इच्छा के बिल्कुल क़रीब से
फेंकता हुआ
अपने जबड़ों से फेन।

(विजेता)

४.

श्रीकान्त जी की कविता के काव्य-पुरुष का पारम्परिक बसाव छूट गया है। नये के विषय में उसे कुछ पता नहीं। उसे यह सहज अन्तर्ज्ञान है कि लौटना सम्भव नहीं सो वह लौट नहीं सकता। छूटा हुआ घर वापस नहीं मिलता, कुछ और मिल जाता है।

तलाश किसकी है
कौन मिलता है

(हेर-फेर)

उसे यह नहीं पता कि घर की उसकी चाहना कहाँ पूरी होगी, वह घर उसे कहाँ मिलेगा जो उसकी चेतना की गहरायी में धड़कता रहता है, जिसकी परछाईं हर ओर पड़ती है।

क्या वह घर पूरी तरह यान्त्रिक हो चुके महानगर में सम्भव है ? उस शासकों से भरे नगर में जहाँ समूचा दिन मानो अपने-आप नहीं बीतता। पर यूँ महसूस होता है जैसे उसे प्रहर-दर-प्रहर किसी काग़ज़ पर टंकित किया जा रहा हो। मानो उस नगर का दिन नैसर्गिक न हो, शासकीय आदेश हो।

एक अदृश्य टाइपराइटर पर साफ़, सुथरे

काग़ज़-सा
चढ़ता हुआ दिन,
तेज़ी से छपते मकान,
घर, मनुष्य
और पूँछ हिला
गली से बाहर आता
कोई कुत्ता।

एक टाइपराइटर पृथ्वी पर
रोज़-रोज़
छापता है
दिल्ली, मुम्बई, कलकत्ता।

कहीं पर एक पेड़
अकस्मात छप
करता है सारा दिन
स्याही में
न घुलने का तप।
कहीं पर एक स्त्री
अकस्मात उभर
करती है प्रार्थना
हे ईश्वर ! हे ईश्वर !
ढले मत उमर।

बस के अड्डे पर
एक चाय की दुकान
दिन-भर बुदबुदाती है
'टूटी हुई बेंच पर
बैठा है
उल्लू का पट्ठा
पहलवान।'
जलाशय पर अचानक छप जाता है
मछुए का जाल

चरकट के कोठे से
उतरती है धूप
और चढ़ता है
दलाल।
एक चिड़चिड़ा बूढ़ा थका क्लर्क ऊबकर छपे हुए शहर को
छोड़ चला जाता है।

(दिनचर्या)

कविता की अन्तिम दो पंक्तियों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'चिड़चिड़ा बूढ़ा थका क्लर्क' सूर्य है जो मानो आकाश के दफ़्तर में इस महानगर को टंकित कर रहा था और शाम होते ही खुद उससे ऊबकर चला गया है।

कहाँ इस थके हुए क्लर्क के हाथों टंकित थका-माँदा महानगर और कहाँ जगन्नाथ के हाथों निर्मित वह संसार जिसे आधुनिक मनुष्य ने खो दिया है। अगर हम पुरी के जगन्नाथ की मूर्तियाँ देखें, हम उनकी दो बड़ी-बड़ी आँखों पर ध्यान देने से नहीं बच सकते। आखिर पुरी के जगन्नाथ की इतनी बड़ी आँखें क्यों हैं? पौराणिक कल्पना में जगन्नाथ (जैसा कि उनके नाम से ही ध्वनित है) जगत के बनाने वाले हैं। जब वे जगत को बना चुकने के बाद उसकी ओर देखते हैं, उनकी आँखें अपने इस सृजन से फटी की फटी रह जाती हैं। वे अपने ही बनाये जगत पर चमत्कृत होते हैं इसीलिए उनकी आँखें विस्फारित हैं। वे श्रीकान्त जी की कविता के थके हुए क्लर्क से बिल्कुल विपरीत हैं। क्या थके हुए क्लर्क द्वारा टंकित नगर में घर पाया जा सकता है ?

५.

श्रीकान्त जी के काव्य-पुरुष को यह भले ही न पता हो कि उसका घर कैसा होगा, पर यह पता है कि वह कैसा 'नहीं' हो।

हे ईश्वर ! सहा नहीं जाता है मुझसे अब
औरों की सुविधा से
जीने का ढंग।

सही नहीं जाती है मुझसे
कानाफूसी, मूर्खता,
सिनेमाघर, लड़कियाँ,
खुशामद
और

गर्द !

...

हे ईश्वर ! मुझसे बरदाश्त नहीं होगा
यह मनीप्लान्ट।
सहन नहीं होगा
यह
गमले का कैक्टस
पिकनिक के
चुटकुले
ऑफ़िस का ब्यौरा
और
देशभक्त कवियों की
कविताएँ।

(प्रेस वक्तव्य)

समूची बीसवीं शती आधुनिक मनुष्य के लिए तरह-तरह के घर के प्रस्ताव लाती रही है। इनमें सबसे बड़ा और सफल (पर अन्ततः विफल) प्रस्ताव विचारधाराओं का रहा है। चाहे मार्क्सवाद का प्रस्तावित कम्युनिस्ट राज्य का स्वर्गलोक हो या राष्ट्रवाद का सपाट संसार, इन दोनों ही तरह की विचारधाराओं में अन्तर्निहित आश्वासन का रूप एक ही है : सान्निद्धपूर्ण और सुरक्षित जीवन का आश्वासन। इन्हें ध्यान से देखें तो हम पायेंगे कि ये बेघर आधुनिक मनुष्य के लिए आवास योजनाएँ हैं। इनमें आश्वासित समाज के मूल तत्व भी ठीक वही हैं जो घर के होते रहे हैं: सान्निद्ध और सुरक्षा। विचारधाराओं के इन आश्वासनों के अन्तर्गत ये आवास ऐसे समाज में बनेंगे जो स्वयं लयबद्ध और आदर्श होगा। ज़ाहिर है जहाँ प्रश्नांकन करने वालों पर सुन्दर आवासों से सुसज्जित लयबद्ध समाज को तोड़ने का आरोप लगेगा। उन पर घर तोड़ने का आरोप लगेगा और 'सुधारने' की ख़ातिर उन्हें दण्डित किया जायेगा। कल का हिटलर अपनी आवास योजना को अक्षुण्ण रखने गैस चैम्बर में जीवित मनुष्यों को ज़हर दे देगा, स्टालीन अपनी स्वर्ग-तुल्य आवास योजना को सुरक्षित रखने उस पर प्रश्न पूछते नागरिकों को गुलाग द्वीप समूहों में भेज देगा जहाँ वे धीरे-धीरे मर जायेंगे।

आज का चीन और भारत क्या ऐसी ही आवास योजनाएँ प्रस्तावित नहीं कर रहा। यह सारा कुछ स्थायित्व, सान्निद्ध और सुरक्षा के नाम पर ही हुआ था और हो रहा है? ये वही आवास योजनाएँ हैं जिनसे घर की मरीचिका की ओर भागता आधुनिक बेघर मनुष्य पिछली पूरी शताब्दी तक निरन्तर छला जाता रहा है और इस शती में छला जा रहा है।

श्रीकान्त जी के काव्य-पुरुष को ये प्रस्ताव स्वीकार नहीं, उसे दूसरों के शर्तों पर छला जाना मंजूर नहीं, फिर वे दूसरे कितनी ही विराट योजना के प्रस्तावक क्यों न हों :

कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
फिर
बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा
षड़यन्त्र की)
कुछ और लोग
सारा समय
क़समें खाएँगे
लोकतन्त्र की।
मुझसे नहीं होगा !
जो मुझसे
नहीं हुआ वह मेरा
संसार नहीं।

(समाधि लेख)

इस स्थिति में आकर लोकतन्त्र का आश्वासन भी उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाता। यहाँ हमें श्रीकान्त जी के काव्य-पुरुष की दूर-दृष्टि का कायल होना होगा। उसने कुछ शताब्दियों पहले से प्रचलित संसदीय लोकतान्त्रिक (और साम्यवादी) व्यवस्थाओं में 'वास्तविक लोकतन्त्र' की असम्भाव्यता को तभी देख लिया था जब कम-से-कम एशिया में उसके गीत गाये जा रहे थे। इसके बहुत पहले अलावा गाँधी के, एशिया और यूरोप के अधिकांश विचारक, लेखक उसे ही मनुष्य की अन्तिम (फाइनल) व्यवस्था मान रहे थे। लेकिन स्थितियाँ इसके विपरीत होती गयीं। २०१६ में समाजशास्त्रियों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में प्रसिद्ध समाजशास्त्री शॉन रोज़नबर्ग ने अपना आलेख पढ़ा। इसमें उन्होंने समकालीन राजनैतिक स्थिति का विश्लेषण किया। उसके पढ़े जाने के बाद समाजशास्त्रियों ने हड़कम्प मच गयी। उस आलेख का शीर्षक था : डेमोक्रेसी हेज़ एण्डेड (लोकतन्त्र खत्म हो चुका है)। इस निबन्ध में रोज़नबर्ग ने यह दर्शाने की कोशिश की है कि लोकतन्त्र का वह रूप जो आधुनिक कार्पोरेट विश्वव्यवस्था में चल रहा है, वह दरअसल लोकतन्त्र के खोल में लोकतन्त्र का अभाव है। (यह विचारणीय है कि कार्पोरेट पूँजीवाद में लोकमत और आर्थिक नीति के बीच पूरा अलगाव हो जाता है और इसीलिए लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओं की हैसियत सीमित क्षेत्र में खेले जाने वाले एक खेल से अधिक नहीं बचती।) वह काव्य-पुरुष इसमें सहयोग करने से कतराता है :

मर्दुमशुमारी के पहले ही मुझे कूचकर जाना है हरेक कूचे से

सबकी मतदान पेटियों में
कम होगा एक-एक वोट
मुझको मंजूर नहीं किसी की शर्त।
(जलसाघर)

६.

श्रीकान्त जी के एकमात्र उपन्यास 'दूसरी बार' का कथा-पुरुष घर बनाने का प्रयास करता है। वह अपनी बिछुड़ी प्रेमिका को सब कुछ देने की ख़्वाहिश साथ लिये दोबारा मिलता है। पर जल्द ही उनकी आपसी कड़ुवाहट वापस लौट आती है, उनकी इस दूसरी बार की मुलाकात का अन्त आपसी घृणा में होता है, ऐसी घृणा में जो साहित्य में बहुत कम लक्षित होती है। संयोग से इस अर्थ में 'दूसरी बार' हिन्दी बल्कि विश्व साहित्य का अपूर्व उपन्यास है। यह विशुद्ध घृणा नामक भाव का विस्तार है, उसकी बढ़त है। जिस हिन्दी उपन्यास की नींव प्रेमचन्द जी ने आदर्शमूलक यथार्थवाद पर रखी थी, उसकी छाया आज तक के उपन्यासों पर निरन्तर पड़ती रही है और उन्हें मनुष्य के वीभत्स्य यथार्थ से निरन्तर मुँह फेर लेने पर बाध्य करती रही है। श्रीकान्त वर्मा की इस कृति ने इस स्थिति को पूरी तरह मोड़ दिया है। यह उपन्यास पूरा का पूरा घृणा के धागों से बुना गया है। फ्राँसीसी उपन्यासकार मार्सेल प्रूस्त के लम्बे उपन्यास का पहला हिस्सा 'स्वान्स वे' जिस तरह ईर्ष्या की दास्तान है, लगभग उसी तरह 'दूसरी बार' घृणा का दीर्घ प्रलाप है। घर बनाने की आकांक्षा के घृणा में अन्तरित होने का पीड़ामय आख्यान।

७.

इन सब कृतियों से गुज़रते हुए दिखता है कि कृति दर कृति श्रीकान्त वर्मा के रचना-पुरुष की घर की तलाश जारी रहती है पर घर है कि लगातार दिखकर ग़ायब हो जाता है और यह रचना-पुरुष बेघर रहा आता है।

लो वह दिखायी पड़ा मगध (घर)
लो वह अदृश्य ---
कल ही तो मगध (घर) मैंने
छोड़ा था
कल ही तो कहा था
मगधवासियों ने (घरवालों ने)
मगध (घर) मत छोड़ो

मैंने दिया था वचन
सूर्योदय के पहले
लौट आऊँगा
...
अब न मगध (घर) है
न मगध (घर)
मगध

(मगध)

वह घर की चाह लिये बार-बार भटकता है और लगातार बेघर बना रहता है। कविता की इबारतें उसकी बेघर भटकन की छूटन भर हैं जिसमें उसके सब-कुछ खो चुकने कथा दर्ज है :

मूर्खो ! देश को खोकर ही
मैंने प्राप्त की थी
यह कविता
जो किसी की भी हो सकती है
जिसके जीवन में
वह वक़्त आ गया हो
जब कुछ भी नहीं हो उसके पास
खोने को।
जो न उम्मीद करता हो
न अपने से छल
जो न करता हो प्रश्न
न ढूँढता हो हल।

(बुख़ार में कविता)

श्रीकान्त जी के काव्य-पुरुष की यात्रा किसी मंजिल पर समाप्त हुई या नहीं, कहना कठिन है और शायद नहीं भी। हमें कवि के जीवन के अन्त की ख़बर है, उसके काव्य-पुरुष के जीवन की नहीं। पर इतना अवश्य पता है कि उसकी कथा, दुर्भाग्य से, परिकथा के जैसे चलती नहीं है। उसमें बाधा पार कर लक्ष्य प्राप्त होता नहीं दीखता। अपनी यात्रा को मंजिल तक ले जाने के कैसे भी नक्शे या उनकी उम्मीद उसके पास नहीं है। वह तमाम उम्र बिना नक्शों के यात्रा करता रहा है। पर वह नक्शा कहीं होगा ज़रूर :

मित्रो,
तीसरा रास्ता भी
है–
मगर वह
मगध,
अवन्ती
कोसल
या
विदर्भ
होकर नहीं
जाता।

(तीसरा रास्ता)

'तीसरे रास्ते' की महीन-सी उम्मीद इस कविता में उभर आयी है पर यह गड्डमड्ड 'जिग्सॉ' पहेली के उन टुकड़ों के एक दिन आपस में जुड़ जाने की उम्मीद ही है जो अपने बेमेल आकारों के कारण जुड़ ही नहीं सकते। यह नाउम्मीदी तक पहुँचने की उम्मीद से अधिक कुछ नहीं है।

८.

अन्त में यह कह दूँ कि मैं उत्तर भारत के ऐसे केवल दो लेखकों को जानता हूँ, जिनके रचना-पुरुषों ने आधुनिक विभीषिका (जिसमें कम्युनिस्ट विभीषिका शामिल है) की सम्भावना को बिना किसी उम्मीद या ईश्वर की सान्त्वना के अपने जीवन में चरितार्थ किया और उसकी पीड़ा को पूरी शिद्दत से भोगा। इस अर्थ में ये दोनों लेखक सच्चे आधुनिक सेक्युलर लेखक हैं : उर्दू के सादात हसन 'मण्टो' और हिन्दी के श्रीकान्त वर्मा। इन दोनों के ही रचना-पुरुषों को–

छोड़
दिया गया है
मुझे अनन्त काल तक
भटकने
के लिए
इस प्रलाप में

(जलसाघर)

जो पाप धोये जन के, वही साहित्य है

ध्रुव शुक्ल

लोग पूछते हैं- क्या यह ज़रूरी है कि कवि का जीवन पुण्यमय ही हो और कोई आग्रहपूर्वक जवाब भी देते हैं कि- अवश्य। कोई कहते हैं कि वैसे खास ज़रूरत नहीं। पर विनोबा भावे की निगाह में कवि का जीवन कुछ दूसरा ही है। वे कहते हैं कि- कवि पापी ही क्यों न हो, पर वह सच्चा पापी होना चाहिए। बीच-बीच में पुण्य का आवरण लेने वाला, पाप का स्वाँग करने वाला नहीं चलेगा। उसे तो निष्ठावान पापी होना चाहिए। उस हालत में वह नरक में भी जाये, लेकिन उसके काव्य से मैं मोक्ष पा सकता हूँ। विनोबा भावे के लिए कवि की पुण्यात्मा और पापात्मा होने में कोई रुचि नहीं। वे भागवत् की सीख को याद करते हुए कहते हैं कि जो वाक् समूह जन के पापों को धोने वाला होगा, वही साहित्य कहलाने लायक है।

आचार्य विनोबा भावे के साहित्य-चिन्तन पर एकाग्र और रज़ा पुस्तक माला के अन्तर्गत प्रकाशित इस पुस्तक में विनोबा जी के साहित्य विचार पर अनेक उद्धरण संकलित हैं जिनका संचयन कवि-आलोचक नन्दकिशोर आचार्य ने किया है। भागवत् इतिहास की चिन्तनधारा के प्रवाह और उसके किनारे बीती कुछ सदियों में बनते गये आधुनिक विचार-विहारों के बीच जीवन के पार उतरने की कला को परखने वाले आध्यात्मिक पुरुष आचार्य विनोबा भावे ने चेताया है कि अब धर्म और राजनीति के दिन लद चुके। अब तो विज्ञान और आत्मज्ञान -- ये दो शक्तियाँ मनुष्य के जीवन को आकार देने वाली होंगी और साहित्य इनके बीच सेतु का काम करेगा। आज राष्ट्रवाद के नाम पर लोगों को एक-दूसरे से अलग करने वाली राजनीतिक सत्ताओं और फिरकों में बँटे हुए धर्म-पीठों की चूलें हिल रही हैं। ये सत्ताएँ बुझने से पहले उस दिये की तरह हैं जो भभक तो रहा है पर मार्ग को प्रकाशित नहीं कर रहा। विनोबा की दृष्टि में विज्ञान की बाह्य और आत्मज्ञान की आन्तरिक शक्ति के बीच साहित्य देहरी पर रखे उस दीपक की तरह होगा जो बाहर और भीतर को प्रकाशित करेगा।

उत्तम साहित्य के लक्षणों पर विचार करते हुए आचार्य विनोबा भावे रस को लगन की सच्चाई कहते हैं, फिर वह बाह्य विषय-वासना की ही क्यों न हो, उन्हें प्रीतिकर है। वे तो साहित्यिक को संसार के खेल में उस द्रष्टा की तरह देखना चाहते हैं जो अपने कुल-दोष उस तरह प्रकट कर सके जैसे महाकवि व्यास ने अपनी और पाण्डवों की उत्पत्ति का यथावत् चित्र महाभारत में खड़ा किया है। जिस

तरह व्यास खुद उस चित्र में रहते हुए उससे अलग दिखायी देते हैं, उसी तरह साहित्यकार को सृष्टि और संसार से अलग होने की कला आनी चाहिए।

विनोबा भावे भगवद्गीता में जीव की आत्म स्वरूप उपद्रष्टा प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए साहित्यकार से यह उम्मीद बाँधते हैं कि वह सृष्टि से तटस्थ होकर, उसके अभिमुख भी बना रह सके। वह उपद्रष्टा की तरह जीवन के नज़दीक रहकर उसे इस तरह देखने वाला बने कि बिना किसी विकार के उसकी पूरी सहानुभूति जीवन को प्राप्त हो। विनोबा उत्कटता को काव्य की शक्ति मानते हुए कहते हैं कि- उत्कटतापूर्ण काव्य किसी भी प्रकार का क्यों न हो, उसका रसास्वादन अपनी रुचि के अनुरूप रसिकजन कर लिया करते हैं- भक्तिरस के काव्य में शृंगारिकों को शृंगार मिल जाता है और भक्त शृंगाररस के काव्य में भक्ति खोज लेता है। वीर काव्य में विरक्त को वैराग्य मिल जाता है और छात्रवृत्ति वैराग्यपरक काव्य में वीररस पा लेती है। विनोबा काव्य का स्वरूप लेखक की मर्ज़ी पर नहीं, रसिक की मर्ज़ी पर निर्भर मानते हैं। पर बाबा की यह बात पूरी नहीं, आधी सच है क्योंकि सर्जक और रसिक परस्पर अन्तर्निर्भर हैं, वहाँ किसी एक की मर्ज़ी कहाँ चलती है।

विनोबाजी ध्यान दिलाते हैं कि भले ही कोई उपदेश हितकारी जान पड़े पर अगर वह प्रहार बन जाये तो जीवन उसका स्पर्श अनुभव नहीं करेगा। वे साहित्य की नयी परिभाषा गढ़ते हुए कहते हैं कि साहित्य यानी अहिंसा। साहित्य में अनाक्रमणकारी शब्द होते हैं तभी तो उसमें अपनी-अपनी भावना के अनुरूप अनेकविध तात्पर्य निकलते हैं और इसी से साहित्यबोध का विस्तार होता है। किसी को आज्ञा देना कवि का लक्षण नहीं है, वह कमाण्डर का लक्षण है, फिर चाहे वह फौज का कमाण्डर हो या किसी धर्मग्रंथ का हो। कवि तो अपनी संवेदना से समाज को रिझाकर बोध प्रदान किया करते हैं।

शंकराचार्य ने अद्वैत की प्रतिष्ठा करते हुए अध्यास की चर्चा की है। अध्यास यानी मिथ्या आरोपण। ब्रह्म जिज्ञासा में अध्यास वर्जित है। पर कवि के लिए यह वर्जना किसी काम की नहीं। विनोबाजी अनुभव करते हैं कि कविता में भावनाओं की बहुविध छटाओं के बीच यह जानना मुश्किल हो जाता है कि कवि अद्वैत में है या द्वैत कह रहा है या विशिष्टाद्वैत में है। अगर काव्य में यह अंदाज़ लग सके तो फिर वह काव्य नहीं होगा, किसी तत्त्वज्ञान का ग्रंथ होगा। काव्यानुभूति में तत्त्वज्ञान इस तरह घुल-मिल जाता है कि काव्य ही सिर चढ़कर बोलता है और तभी काव्यानन्द की उपलब्धि होती है। साहित्य में रस प्रत्यक्ष और तत्त्व अप्रत्यक्ष होता है

विनोबा अर्थानुसारी शब्दों के प्रयोग पर बल देते हैं। वे शब्दों को विचार का प्रतिनिधि कहते हैं। जैसे पृथ्वी शब्द का प्रयोग फैली हुई के अर्थ में होगा। तरह-तरह के पदार्थों को जन्म देने वाली होने से वह भूमि कही जायेगी। जब धरा कहेंगे तो वह धारण करने का अर्थ प्रकट करेगी। पृथ्वी का एक नाम क्षमा भी है और इस शब्द से उसका अर्थ सहन करने वाली हो जाता है। विनोबा कहते हैं

कि अगर जीवन में व्यर्थ ही नयी-नयी चीज़ें आयेंगी तो उनके लिए नये शब्द बनेंगे और इस शब्द संग्रह से साहित्य में कचरा फैलेगा, परिग्रह बढ़ेगा क्योंकि वे महिमाहीन शब्द होंगे और उनसे कविता नहीं बनेगी। दरअसल, विनोबा साहित्य में शब्दों के अपरिग्रह की माँग कर रहे हैं जिससे वाक्-प्रकाशन में निर्मलता आती है। उनकी दृष्टि में शब्दों का किसी दूर देश से आयात करके अपनी भाषा और चिन्तन पर थोपना खतरनाक है क्योंकि वे शब्द हमारे जीवन में एसिमिलेट नहीं होते, हजम नहीं होते और विचार कुपच के शिकार हो जाते हैं। वे कहते हैं कि इन्डिपेंडेंस एक निकम्मा शब्द है क्योंकि संसार में हर कोई एक-दूसरे पर अवलंबित है, तब कहाँ रहा इन्डिपेंडेंस। पर स्वराज्य शब्द भावात्मक अर्थ से भरा हुआ है, वह स्वयमेव रंजित होता है, स्वयं प्रकाशित होता है। कहने का मतलब यही कि परदेश की बुद्धि से हम स्वराज्य नहीं पा सकते। हमारी आत्मनिष्ठता ही स्वराज्य को प्रकट कर सकती है।

जहाँ शब्द-शक्ति कुण्ठित होती है तो उसकी जगह शस्त्र-शक्ति ले लेती है। शस्त्र-शक्ति को समाप्त करने के लिए अपनी वह शब्द-शक्ति बढ़ाना होगी जो अपने पूर्वजों के बहु-स्तवनों से सारगर्भित है। पूँजी निवेश के इस भयानक दौर में आचार्य विनोबा हमसे उस शब्द निवेश की माँग कर रहे हैं जो परम्परा से प्राप्त युगानुरूप उस सृजन-कुशल योग की प्रतिष्ठा कर सके जिसे हम बार-बार भूल जाते हैं। वे याद दिलाते हैं कि गाँधीजी ने तप करके भूले हुए शब्द की प्रतिष्ठा बढ़ायी और अपने समय को वाणी दी। बड़े कवि भी हर युग में यही करते आये हैं। वे कहते हैं कि विज्ञान में आधुनिकतम और साहित्य में प्राचीनतम किताबें काम आती हैं। साहित्य की परीक्षा हर युग में काल करता है। विनोबा साहित्यिकों के अनुभवों की एकता पर बल देते हुए कहते हैं कि अनेक कवि-लेखक मिलकर अपने समय के अनुरूप कोई आध्यात्मिक संशोधन करते हुए आगत के बोध का मार्ग प्रशस्त करने का उपाय अवश्य करें। काव्य शक्ति के लिए ज्ञान-अज्ञान, प्रकाश और अँधेरे के मिले-जुले क्षेत्र चाहिए जो हमारे समय में भी खूब हैं, अभी तो ये और भी बढ़ेंगे। विनोबा उम्मीद करते हैं कि इस परिवेश में साहित्य और काव्यकला आगे बढ़नी चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि मैं साहित्यिकों को बिलकुल स्वतन्त्र मानता हूँ और उनके लिए किसी प्रकार की कोई मर्यादा नहीं मानता। विनोबा ने तो साध्य और साधन की एकता को भी एक तरह की कैद ही माना पर पता नहीं यह बात उन्होंने कभी गाँधी से भी कही थी या नहीं।

आचार्य विनोबा भावे के साहित्य पर विचार उस साहित्य-विमर्श की याद दिलाते हैं जो बीती सदियों में भारत में होता रहा है। पाठक यह छोटी-सी समीक्षा पढ़कर निश्चय ही यह लक्ष्य कर सकेंगे कि विनोबा परम्परा से प्राप्त विमर्श को आधुनिक दृष्टि भी प्रदान करते हैं और यही माँग वे आधुनिक साहित्यकारों से करते हैं। इस विमर्श के प्रकाश में उन्होंने वेदव्यास और महाभारत पर विचार किया है। विनोबा कहते हैं कि- साहित्यिकों के लिए विकारों से परिपूर्ण निर्लिप्तता अनिवार्य है लेकिन विकारों को पहचानने के लायक उन विकारों के साथ समरस होने की शक्ति भी उतनी ही अनिवार्य है। वेदव्यास अपने इसी गुण के कारण महाभारत रूपी मानव-इतिहास-प्रदीप जला सके।

कालिदास रचित रघुवंश में एक राजा के राज्य का वर्णन पढ़कर विनोबा दीर्घदर्शी कवि की आलोचना करने से भी नहीं चूकते। वे कहते हैं कि प्रजा ने राजा को पिता मान लिया था और सब कुछ राजा ही करता था। कोई काम नागरिकों के लिए रहा ही नहीं। अगर ऐसा स्टेट हो तो यह भयानक कल्पना है जिसमें जनता के जीवन को सब तरह से कसकर बाँधा जाता है। समाज-सुधार, खेती-सुधार, शिक्षण, उद्योग नीति आदि सब सरकार करेगी तो फिर नागरिक क्या करेंगे। विनोबा की दृष्टि में यह तो बिलकुल जड़ दशा है। वे रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों को याद करते हुए कहते हैं कि- हम सब लोग डिवाइड करते हैं, मल्टिप्लाय नहीं। हर कोई सम्पत्ति को क्षीण करने में योगदान दे रहा है लेकिन संपत्ति की पैदावार में कोई योग नहीं देता। विद्यार्थी बेकार हैं, व्यापारी उत्पादन नहीं करते। पुलिस, भिक्षुक, योगी, सन्यासी, भक्त, राजनीतिज्ञ, शिक्षक, डॉक्टर, वकील कोई भी उत्पादन में हिस्सा नहीं लेते। बहुत थोड़े लोग रह जाते हैं जो उत्पादन का भार उठाते हैं। विनोबा कहते हैं कि रवीन्द्रनाथ संसाराभिमुख और विश्वाभिमुख होते हुए भी निर्लिप्त हैं। साहित्यकार को ऐसा ही होना चाहिए।

विनोबाजी ने शेक्सपियर, मिल्टन और वडर्सवर्थ को भी याद किया है। वे शेक्सपियर को कोट करते हुए कहते हैं कि- अगर इच्छा ही घोड़ा बन सकती तो प्रत्येक मनुष्य घुड़सवार हो जाता लेकिन यह निष्ठुर सत्य है कि ऐसा हो नहीं सकता। वे मिल्टन की आँखों में दुर्भाग्य से भर गये अंधेरे के बरक्स उसके आत्मबल से प्रकाशित शब्दों के बारे में सोचते हैं जो पैराडाइज़ लास्ट में गुँथे हुए हैं और जिन्हें वह देख नहीं सकता सिर्फ़ बोल सकता है। वे वडर्सवर्थ की प्रसिद्ध कविता *वी आर सेवन* की भी याद करते हैं जिसमें एक छोटी लड़की अपने दो मरे हुए भाइयों को भी अपने साथ और चार जीवित भाइयों के साथ गिनकर कहती है - वी आर सेवन। वह लड़की कहना चाहती है कि जैसे हम पाँचों व्यक्त सृष्टि में हैं, वैसे ही वे दो अव्यक्त सृष्टि में हैं। विनोबा इन दोनों सृष्टियों में खुले हुए शब्द के मार्ग को पहचानकर साहित्य के रचयिताओं और रसिकों को सम्बोधित कर रहे हैं।

विनोबा के उद्धरण, रज़ा पुस्तक माला के अन्तर्गत राजकमल दिल्ली से प्रकाशित

परम्परा में द्वन्द्व वैचित्र्य

मिथलेश शरण चौबे

> आधुनिक राष्ट्र बनने के लिए सांस्कृतिक अस्मिता और ऐतिहासिक दृष्टि को खो देना न केवल आवश्यक नहीं है बल्कि एक प्रकार से किस्तों में आत्मघात है और सांस्कृतिक अस्मिता नकल से नहीं बनती, विदेशी मनोवृत्ति और मनोभाव आयातित करके भी नहीं बनती, अपनी सही पहचान से बनती हैं। सांस्कृतिक जीवन के बारे में ही यह बात सबसे अधिक सत्य है कि हम वही बन सकते हैं जो हम हैं। **अज्ञेय**

यह सोचना हतप्रभ कर देता है कि हमारी पहचान के सबसे उर्वर प्रत्यय, खुद ही संघर्ष की विद्रूप अवस्थाओं से गुज़रे हैं। यह मान ही लेना पड़ता है कि सत्ता के वर्चस्व से तनिक भी कमतर भाषिक वर्चस्व की लड़ाइयाँ नहीं होती, बल्कि भाषिक तनाव एक अर्थ में सत्ता के संघर्ष से ज़्यादा प्रभावकारी रूप में घटित होते हैं क्योंकि उनमें तर्क और विचार का आग्रह अपेक्षाकृत अधिक होता है। हमारा इतिहास पढ़ने का औचित्य बहुधा राजनीति ही बनाती है, उसी के सापेक्ष समाज आदि की स्थिति का अमुख्य-सा वृत्तान्त बता दिया जाता है जिससे किसी तरह की गहरी बावस्तगी नहीं होती। इतिहास में हम यदि इस राजनीति आधारित विश्लेषण के अलावा प्रवेश करें तो उसमें अन्य अन्तःक्रियाओं की विस्मयकारी उपस्थिति है जिसमें न केवल तार्किक व कुटिल पूर्वग्रहों का संघर्ष है बल्कि इससे भी ज़्यादा प्रचलित अवधारणाओं के विरुद्ध अप्रचलित सत्य की निरुपायता का वृत्तान्त भी है।

युवा लेखक राजीव रंजन गिरि की सद्यप्रकाशित पुस्तक परस्पर : भाषा-साहित्य-आन्दोलन कुछ ऐसे ही वृत्तान्तों के विश्लेषण और आलोचना की निर्मिति है। पुस्तक के कुल तीन बड़े निबन्धों में से दो का केन्द्र भाषा है और तीसरे का विषय लघु पत्रिकाएँ हैं।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का आरम्भिक भाषिक द्वैत, द्विवेदी युग में गद्य-पद्य दोनों में खड़ी बोली के प्रयोग के साथ ही समाप्त होता है जिसका पूरा श्रेय बहुमान्य रूप से महावीर प्रसाद द्विवेदी को दिया जाता है। इस किताब में, अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा सम्पादित, १८८७ में प्रकाशित 'खड़ी बोली का पद्य(पहिला भाग), का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि द्विवेदी जी को विरासत रूप में खत्री जी का साहित्यिक अवदान मिला। 'खड़ी बोली का पद्य' के प्रकाशन के साथ ही पहली

बार 'काव्यभाषा का सवाल एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे के रूप में उभरा।' खत्री जी ने खड़ी बोली के काव्य भाषा बनने के लिए जो आन्दोलन शुरू किया उसके नतीजन 'स्थितियाँ ऐसी बदली कि साहित्यिक भाषा (ब्रजभाषा) बोली बन गयी और बोली (खड़ी बोली) साहित्यिक भाषा'।

इस भाषिक आन्दोलन का एक दिलचस्प पहलू यह भी रहा कि जिन लोगों ने खड़ी बोली का प्रखर विरोध किया, उन्होंने स्वयं ही विरोध से पहले न केवल खड़ी बोली में कविता लिखी थी बल्कि ऐसा करने के लिए कवियों को प्रेरित भी किया था। बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र ऐसे लोगों में प्रमुख हैं।

खत्री जी ने 'खड़ी बोली का पद्य' की प्रतियाँ उस दौर के तमाम हिन्दी अध्येताओं को भेजीं। जॉर्ज ग्रियर्सन ने प्राप्ति के प्रत्युत्तर में खड़ी बोली में कविता लेखन की कोशिश की असफलता की भविष्यवाणी ही कर दी। राधाचरण गोस्वामी खड़ी बोली के इस्तेमाल के विरोधी थे और श्रीधर पाठक हिमायती, दोनों का विवाद भी अपने पक्ष के प्रबल तर्क की नज़ीर से उल्लेखनीय है। गोस्वामी का घोषित आक्षेप था कि जो लोग ब्रजभाषा में कविता नहीं कर सकते, वे ही खड़ी बोली के आग्रही हैं। लेखक का मानना है कि गोस्वामी का खड़ी बोली विरोध धार्मिक कारणों से ही है। सरकारी नीति इस दरम्यान हिन्दी उर्दू को नज़दीक लाने की रही। काव्य में खड़ी बोली इस्तेमाल के विरोधी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द भी थे।

काव्य रचना में ब्रजभाषा के पक्षधर भारतेन्दु भी थे लेकिन उन्होंने खड़ी बोली में कविता की असफल कोशिश की जोकि 'चित्तानुसार नहीं बनी'; अपने इसी निजी अनुभव को भारतेन्दु ने सार्वजनिक राय की तरह पेश किया।

अयोध्याप्रसाद खत्री के 'खड़ी बोली का पद्य (दूसरा भाग)' का भी विरोध हुआ और उसे अस्वीकार किया गया। चूँकि उस दौर की सबसे बड़ी साहित्यिक-सांस्कृतिक शख्सियत भारतेन्दु व्यक्तिगत वजह से खड़ी बोली के विरोधी थे, इसलिए उनके पीछे ही उनके मत के पक्ष में लम्बी पंक्ति लेखकों की बन पड़ी जिनमें ग्रियर्सन भी शामिल थे। खड़ी बोली के इस सार्वजनिक अस्वीकार से क्षुब्ध होकर खत्री जी ने एक पैम्पलेट बँटवाया जिसकी कुछ पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं : 'ब्रजभाषा कविता के पक्षपाती बाबू हरिश्चन्द्र की दुहाई देते हैं इसलिए हरिश्चन्द्र के वचन का खण्डन होना आवश्यक है। बाबू हरिश्चन्द्र ईश्वर नहीं थे। उनको शब्दशास्त्र philology का कुछ भी बोध नहीं था। यदि philology का ज्ञान होता तो खड़ी बोली में पद्य रचना नहीं हो सकती, ऐसा नहीं कहते।' खत्री जी में उन्नत नैतिक विवेक चेतना रही होगी जैसा कि इस किताब में उल्लेख है : 'इतिहास के जिस दौर में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की तूती बोलती थी, अयोध्याप्रसाद खत्री ने उनकी मान्यता का खण्डन साहसपूर्वक किया।' हालाँकि इस बात का ज़िक्र भी यहाँ स्पष्ट है कि भारतेन्दु का 'काव्य संस्कार ब्रजभाषा से बना था' इसलिए उन्हें खड़ीबोली से ज़्यादा आसानी ब्रजभाषा में कविता लेखन में रही। यह तो ठीक है लेकिन

राजीव रंजन का यह तर्क संदिग्ध लगता है कि भारतेन्दु को 'खड़ी बोली हिन्दी में कविता रचने के ऐतिहासिक महत्त्व का पता नहीं था।' लगता तो नहीं है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे अध्यवसायी, कल्पनाशील, सामाजिक मसलों के प्रति जागरूक और प्रयोगशील वृत्ति के शख्स के लिए ऐसे किसी महत्त्व का पूर्वानुमान न होगा। कोई महान लेखक भविष्य में ज़्यादा प्रभावी होने वाली भाषा की सम्भावना के चलते, अपनी रचनात्मक आकांक्षा को व्यक्त करती भाषा को छोड़कर किसी भविष्यलाभ की ओर प्रवृत्त होगा, यह भी विचारणीय है।

लेखक ने 'ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली' की अपनी इस पड़ताल को साहित्येतिहास में भी टटोला है जहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा भाषा को आधुनिकता का मुख्य नियामक मानने के बावजूद, अयोध्याप्रसाद खत्री को वाजिब श्रेय न देने को प्रश्नांकित किया गया है। यहाँ इस बात का भी ज़िक्र है कि हिन्दी-उर्दू विवाद के मुद्दे पर महात्मा गाँधी द्वारा प्रस्तावित 'हिन्दुस्तानी' की सबसे पहले सिफ़ारिश खत्री जी ने की थी, जिन पर गौर ही नहीं किया गया। राजीव रंजन ने अपनी एक अन्य आलोचना की किताब, **अथ, साहित्य : पाठ और प्रसंग** में 'अयोध्याप्रसाद खत्री का महत्त्व' निबन्ध लिखकर खत्री जी के अवदान पर व्यापक विचार भी किया है।

ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली विवाद और संवाद से कई गुना अधिक जटिल व हैरतंगेज़ मामला संविधान सभा में राष्ट्रभाषा को लेकर घटित हुआ। दरअसल संविधान सभा के सदस्यों को नये आजाद मुल्क के लिए जिन बातों का अनिवार्यतः निर्धारण करना था, उनमें भाषा का सवाल बेहद चुनौतीपूर्ण था। संविधान सभा में ४ नवम्बर १९४८ से शुरू हुए भाषिक संवाद-विवाद में सेठ गोविन्द दास, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', आर वी धुलेकर, और अलगूराय शास्त्री आदि सदस्यों ने ज़ोर दिया कि 'पहले राष्ट्रभाषा तय कर ली जाए'।

चूँकि संविधान सभा के चुने गए प्रतिनिधियों में अधिकांश उच्च और मध्य वर्ग के थे और अंग्रेज़ी भाषी थे इसलिए अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद का आग्रह था कि वे अंग्रेज़ी में खुद को ज़्यादा अच्छे ढंग से व्यक्त कर सकते हैं। सहूलियत यहाँ आकांक्षा पर हावी दिखायी पड़ती है, नैतिक निर्वाह कमज़ोर पड़ जाता है। संविधान सभा ने पाश्चात्य देशों के संविधान को आधार बनाया।

राष्ट्रभाषा पर हुई बहस में एक पक्ष हिन्दी के पक्षधरों का था जो राष्ट्रभाषा का मसला पहले सुलझाना चाहते थे। कुछ सदस्यों के अंग्रेज़ी आग्रह पर उनका तर्क था कि जब अंग्रेज़ी अपना सकते हैं तो हिन्दी क्यों नहीं, वह तो हमारी ही विविध भाषाओं में से एक है। यदि ऐसा नहीं कर सकते तो 'हिम्मत करके कह दीजिये कि अंग्रेज़ी हमारी नेशनल लेंग्वेज है।'

हिन्दी के पक्ष-विपक्ष के सदस्यों के तर्कों की पड़ताल कर राजीव रंजन का प्रश्न है कि क्यों दोनों पक्षों के मतों का ठीक से सम्प्रेषण नहीं हो सका, 'क्या हिन्दी समर्थकों की आवाज़ में कट्टरपन भरा था।'

इस बहस के विविध पक्षों के विचारों के बीच यह तथ्य ध्यान रखना ही होगा कि जिसे हम हिन्दी कह रहे हैं, उस दौर में उसके पाँच रूप चलन में थे : संस्कृत आग्रही-पण्डित हिन्दी, उर्दू आग्रही- मौलवी हिन्दी तथा संस्कृत-उर्दू के सम्मिलन से बनी हिन्दुस्तानी (मुंशी हिन्दी), ठेठ हिन्दी और यूरेशियन हिन्दी थे। खत्री जी ने मुंशी हिन्दी (हिन्दुस्तानी) को आदर्श माना।

महात्मा गाँधी हिन्दुस्तानी के हिमायती थे। उनके प्रति अगाध श्रद्धा भाव रखने वाले सदस्य वी पोकर ने हिन्दुस्तानी के पैरवी ही इसी तर्क से की- 'इस आदरणीय सभा को केवल इस कारण हिन्दुस्तानी के पक्ष में निश्चय करना चाहिए कि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का यही पवित्र मत था।'

आमतौर पर भाषिक विवाद में उत्तर और दक्षिण भारत के लोगों के भाषिक पक्ष को सहज ही बता दिया जाता है, इस प्रत्याशा के विरुद्ध यह उल्लेखनीय है कि इस सभा के दक्षिण भारतीय एक सदस्य एम सत्यनाराण ने हिन्दुस्तानी का पक्ष लिया। दक्षिण के हिन्दी विरोध की वजह हिन्दी के समर्थकों का कट्टर होना भी था। इसे इस सभा की एक सदस्य दुर्गाबाई ने भी स्पष्ट किया है।

पण्डित नेहरु की दृष्टि में अन्य चीज़ों के 'बनिस्बत भाषा किसी राष्ट्र के चरित्र की ज़्यादा बड़ी कसौटी है।' वे अंग्रेज़ी का महत्त्व तो स्वीकार करते थे लेकिन उसे राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में नहीं थे। भाषिक निर्धारण का उनका विचार गाँधी के मत का ही पर्याय रहा। राष्ट्रभाषा के लिए भाषाओं के पक्ष की पैरवी में कुछ अप्रत्याशित बातें भी मिलती हैं। अट्ठाईस सदस्यों ने संस्कृत के पक्ष में अपना मत प्रकट किया जिनमें डॉ अम्बेडकर और नज़ीरुद्दीन अहमद का शामिल होना आश्चर्यजनक है । पारम्परिक जड़ताओं से मुक्ति के अनवरत अभियान के एक अनिवार नेतृत्त्वकर्ता अम्बेडकर द्वारा संस्कृत की हिमायत संविधान सभा की शुरुआती स्थिति पर सोचने को विवश करती है।

दक्षिण के एक सदस्य कृष्णमूर्ति राव ने 'हिन्दी समर्थकों से तमिल सीखने की अपेक्षा प्रकट की।' लेखक इसे त्रिभाषा-सूत्र के बीज रूप में देखते हैं।

यह भी ग़ौरतलब है कि संविधान सभा में भाषिक बहस के दौरान 'राष्ट्रभाषा और राजभाषा का प्रयोग पर्याय के तौर पर होता था।'

भाषा के निर्धारण की यह बहस किन्हीं राष्ट्रव्यापी स्थितियों के केन्द्र के इर्द-गिर्द ही नहीं थी, इसमें तात्कालिक प्रलोभन भी सक्रिय रूप में उपस्थित थे। एक सदस्य टी ए रामलिंगम चेट्टियार ने चुनाव के समय जनमत के विरोध की आशंका का दबाव बहस में स्वीकार किया।

राष्ट्रभाषा के निर्धारण का मसला इतना जटिल और विवादास्पद हो गया था कि सदस्यों का मतभेद आपसी कटुता के तार ही खींच रहा था। कुछ सदस्यों ने अन्य ज़रूरी मसलों के निराकरण की चिन्ता में इस मतैक्य न बना सके मुद्दे को स्थगित करना लाजिमी समझा। एक सदस्य पी टी चाको ने कहा : 'हम यह आशा कर सकते हैं कि हमारी आने वाली पीढियाँ अधिक बुद्धिमान और सहिष्णु

होंगी और वे एकमत से इस प्रश्न को हल कर सकेंगी। हमारी असहिष्णुता के कारण भारत का विभाजन हो चुका है जो कुछ रह गया है, उसे अब हम विभाजित न करें। आनेवाली पीढ़ियों पर किसी भाषा को न थोप कर हमें इस प्रश्न को उन्हीं के निर्णय के लिए छोड़ देना चाहिए।'

हिन्दी के समर्थकों और विरोधियों की द्विपक्षीय बना दी गयी इस बहस में एक भिन्न तेवर भी देखने मिलता है जो वैविध्य से भरे इस देश में एकसेपन को दृढ़ता से प्रश्नांकित कर सका। भाषिक कट्टर आग्रहियों के एक संस्कृति की अवधारणा ने उन्हें इस अलहदा तर्क के लिए मुखर किया। श्री शंकरराव देव ने ऐसा करते हुए देश की सभी भाषाओं के महत्त्व की पैरवी ही की। वे अंग्रेज़ी का स्थान लेने वाली भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने के तर्क से असहमत थे तथा उन्हें यह अनौचित्यपूर्ण लगा। एक संस्कृति के बरक्स उनका आग्रह मिश्रित संस्कृति का रहा।

एक सदस्य जयपाल सिंह ने इस बहस में एकतरफा अलक्षित कर दी गयीं आदिवासियों की भाषा का सवाल उठाया। १७६ आदिवासी भाषाओं में सिर्फ़ तीन को संविधान की अनुसूची में शामिल करने का उनका अनुरोध अनसुना ही रह गया हालाँकि उस समय बारह भाषाएँ ही शामिल कीं गयीं जिनमें हिन्दी जनपद की कोई भाषा नहीं थी, जो भाषाएँ शामिल की गयीं, लेखक की दृष्टि में उनका आधार हिन्दी विरोध ही मुख्य रहा। अन्य सदस्यों द्वारा इन भाषाओं को नज़रन्दाज किया जाना लेखक के अनुसार उनके 'चरित्र की बानगी है।' इसी तरह किसी भाषा के पक्ष में तर्क-वितर्क के मुख्य विचार के आधार पर लेखक का यह मानना कि यह बहस 'भाषा पर कम, राष्ट्र के चरित्र और स्वरूप की बहस अधिक है', उचित ही लगता है।

इस पूरी बहस के दौरान सदस्यों के अपनी आग्रही भाषा के पक्ष में दिये तर्क और उसे प्रकट करती भाषा के स्तर को देखकर मौलाना आजाद ने 'सदस्यों की तंगख्याली पर गहरा अफ़सोस प्रकट किया।' उन्होंने सारा झगड़ा : उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी नाम को लेकर ही माना। उनका व कुछ अन्य सदस्यों का आग्रह, अंग्रेज़ी को हटाने के पाँच वर्षों के समय को बढ़ाकर पन्द्रह वर्ष करने का भी रहा जिसे अन्तिम तौर पर क्रियान्वित भी किया गया और जो अब तक मुसलसल जारी है।

संविधान सभा में राष्ट्रभाषा के मुद्दे पर हुई विस्तारपूर्वक बहस में हिन्दी, बांगला, संस्कृत, अंग्रेज़ी, तमिल आदि भाषाओं के पक्ष में सहभागी सदस्यों ने प्रबल तर्क प्रस्तुत किये। आज़ाद भारत के नव निर्माण के शुरुआती प्रयासों में कुछ प्रमुख मुद्दों को सर्वानुमति से निराकृत होने का यत्न घटित हो सकना था, भाषा के मुद्दे पर यह नहीं हो सका। सदस्यों ने व्यक्तिगत अनुराग व मान्यता से लेकर अपने क्षेत्रीय सन्तुलन पर आग्रह किया, जनता के बीच चुनाव के समय जाने के दबाव को भी इस बहस का प्रमुख तथ्य बना दिया। एक स्वतन्त्र राष्ट्र के नीति-निर्धारकों से जिस कोटि के निस्पृह भाव की उम्मीद की जानी चाहिए, वह इस बहस में अत्यल्प ही दिखायी पड़ती है।

इस बहस पर निष्कर्षतः लेखक का विश्लेषण हमारे उस दौर का नाज़ुक बयान है जहाँ हमें एकदम मजबूती के साथ निर्णय लेने थे : 'राष्ट्रभाषा से राजभाषा की यात्रा में न तो हिन्दी समर्थकों की सभी बातें मानी गयी और न विरोधियों की। असफल 'हिन्दुस्तानी' के पक्षधर भी हुए। सफल हुआ, तत्कालीन अंग्रेजीदाँ तबका। इस वर्ग की कामनाएँ, बड़े हद तक, पूरी हो गयी। दिलचस्प बात है कि फ्रेंक एंथनी को छोड़ दें तो इस तबके ने भाषाओं की सूची में 'अंग्रेज़ी' का नाम रखा जाए, इसकी कोशिश नहीं की। पर, वह सब हासिल करा लिया, जो चाहिए था। संविधान सभा में सभी भारतीय भाषाएँ हारीं, विजयश्री तिलक अंग्रेज़ी के ललाट पर लगा।'

इस किताब का तीसरा निबन्ध लघु पत्रिकाओं के औचित्य, उनके जरिए साहित्यिक-सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश के उन्नयन आदि पर पर विचार करता है। व्यावसायिक पत्रिकाओं के वर्चस्व के विलोम निजी व समवेत प्रयासों से निकाली गयी कुछ लघु पत्रिकाओं ने अल्प आर्थिक संसाधनों, छपाई व कागज़ की कामचलाऊ हैसियत में ही साहित्यिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में उल्लेखनीय योगदान दिया।

सामूहिक प्रयास से जो पत्रिकाएँ निकाली जा रहीं थीं उन्हें लेकर एक आश्वस्ति भाव भी प्रकट किया जा रहा था कि ये पत्रिकाएँ न केवल विश्वसनीय हैं बल्कि व्यावसायिक पत्रिकाओं से ज़्यादा मूल्यवान हैं। अनेक लघु पत्रिकाओं के सम्पादकों ने संगठित होकर पत्रिका के कुछ प्रतिमानों का निर्धारण किया, साथ ही एक समन्वय समिति गठित कर लघु पत्रिका सम्मलेन भी आयोजित किये गये। इनसे सम्बद्ध लोगों का मानना रहा कि यह सारी कवायद एक आन्दोलन है। उत्तरार्ध पत्रिका में वीरभारत तलवार ने इसे प्रश्नांकित किया जिसके जवाब में शम्भुनाथ सिंह ने लघु पत्रिका उद्यम की पैरवी की। दोनों के मध्य की यह बहस तार्किक और पठनीय है।

लेखक संगठनों तथा व्यक्तिगत स्तर पर निकाली जा रही पत्रिकाओं के प्रति अधिकांश लेखकों का मत एकपक्षीय ही रहा, ऐसी ही पत्रिकाओं को महत्त्वपूर्ण घोषित किया जाता रहा। इस किताब के लेखक का विचार इससे भिन्न है : 'पत्रिकाओं का स्तर सिर्फ़ किसी सामूहिक आन्दोलन से ऊँचा नहीं उठ सकता।'

पत्रिका सम्पादकों के संगठन की आन्दोलनकारी क्रियाशीलता के उद्देश्य से जो सम्मलेन आयोजित हुए उनमें से आजमगढ़ में सम्पन्न तीसरे सम्मलेन में वरिष्ठ हिन्दी कवि केदारनाथ सिंह ने अपने वक्तव्य में कहा- 'लघु पत्रिका आन्दोलन हिन्दी साहित्य में भक्ति आन्दोलन के बाद सबसे बड़ा आन्दोलन है।' केदारनाथ सिंह की इस अत्युक्ति को राजीव रंजन ने भक्तिकाल में हुए 'प्रतिमान परिवर्तन' के समक्ष लघु पत्रिकाओं के सन्दर्भ में परखते हुए न केवल प्रश्नांकित ही किया बल्कि खारिज ही कर दिया। सिर्फ़ पत्रिका निकालना, किसी भी तरह साहित्यक क्रियाशीलता में हमेशा मूल्यवान नहीं होता। अनेक लघु पत्रिकाओं के हवाले से यह बात स्पष्ट है कि उनमें विचारधारा विशेष से सम्बद्ध लेखकों को ही प्रकाशित किया जाता रहा अर्थात लेखन की कोटि के ऊपर विचारधारा को स्थापित करने

का अभियान ऐसी पत्रिकाओं का मुख्य ध्येय रहा। हिन्दी के अनेक महत्त्वपूर्ण लेखकों का लेखन और उनपर विचारपरक आलोचकीय उद्यम इन पत्रिकाओं में अपने लिए कोई स्थान नहीं पा सका। इस बात की पुष्टि के लिए कुछ लघु पत्रिकाओं के तमाम विशेषांक भी अवलोकित किये जा सकते हैं।

इस किताब का 'आरम्भिक' लेखकीय दृष्टि का आईना और सार एकसाथ बन पड़ा है। अनुसन्धान से आलोचना तक की यात्रा तय करते इस किताब के तीनों निबन्ध सिर्फ़ तथ्यों के आलोक में विश्लेषण करते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की जल्दबाजी नहीं करते। वे तथ्यों को अपने विस्तार में बहने देते हैं, वहीं किसी तर्क, विचारणा, मीमांसा के सहारे उनके होने की समग्रता की नैतिक पड़ताल करते हुए, उन्हें उनकी नियति के विश्रान्त तक लाकर छोड़ते हैं, जहाँ लेखक की दृष्टि का आलोक ज़्यादा दीप्त हो जाता है।

यह किताब अनुसन्धानपरक लेखन के समक्ष तो एक नज़ीर है ही, बहुभाषिकता की आसन्न सर्वस्वीकृति के विलोम, भाषिक संकीर्णता का प्रबल साक्ष्य भी है जिसकी पृष्ठभूमि में नितान्त असाहित्यिकता, असहिष्णुता, अविवेक, अहंकार का अप्रतिहत युग्म सक्रिय रहता है; इस अर्थ में बड़ों की लघुता भी इसमें निपटता के साथ प्रकट हुई है। इन सन्दर्भों को समझने के लिए भी इसे पढ़ा जाना चाहिए।

किताब - परस्पर भाषा, साहित्य, आन्दोलन
लेखक - राजीव रंजन गिरि
प्रकाशक - रज़ा पुस्तकमाला, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

लेखक परिचय

अवनीन्द्रनाथ टैगोर – बीसवीं शताब्दी की शुरुआत के अत्यन्त महत्वपूर्ण चित्रकार और कला-चिन्तक। इण्डियन सोसायटी ऑफ ओरियंटल आर्ट के प्रमुख कलाकार और सर्जक। आधुनिक भारतीय चित्रकला में स्वदेशी कलाबोध की संस्थापना के रास्ते कला के बंगाल घराने के प्रमुख स्तम्भ। बंगाली में बच्चों के लिए अबन ठाकुर नाम से अनेक रचनाएँ लिखी थीं।

अमृता भारती – हिन्दी कवि और गद्य लेखिका। सात कविता संग्रह और एक गद्य संग्रह प्रकाशित। पुदुचेरी में रहती हैं।

वागीश शुक्ल – हिन्दी के गहरे और तीक्ष्ण सिद्धान्तकार, आलोचक। समास के नियमित लेखक। इनकी पुस्तकें, 'शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं' 'चन्द्रकान्ता (सन्तति) का तिलिस्म' और 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' प्रकाशित हैं। पहली पुस्तक में साहित्य के अनेक मूलभूत प्रश्नों पर वैचारिक निबन्ध हैं। 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' निराला की सुदीर्घ कविता 'राम की शक्ति पूजा' की अद्वितीय टीका है। आधुनिक समय में ऐसा कोई वैचारिक उद्यम किसी अन्य भारतीय लेखक ने इस स्तर का नहीं किया है। ग़ालिब के लगभग पूरे साहित्य की विस्तृत टीका लिख रखी है, जो आने वाले वर्षों में प्रकाशित होगी। वे पिछले कुछ वर्षों से एक सुदीर्घ उपन्यास लिखने में लगे हैं जिसके कुछ अंश समास- छः और पन्द्रह में प्रकाशित हुए हैं। इन दिनों बस्ती (उ.प्र.) में रहते हैं।

विनोदकुमार शुक्ल – कवि, कथाकार और उपन्यासकार। जन्म १९३७। कविता संग्रह- लगभग जयहिन्द (पहचान सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित), वह आदमी चला गया नया गरम कोट पहिनकर विचार की तरह, सब कुछ होना बचा रहेगा, अतिरिक्त नहीं, कविता से लम्बी कविता, आकाश धरती को खटखटाता है, कभी के बाद अभी। उपन्यास- नौकर की कमीज़, खिलेगा तो देखेंगे, दीवार में एक खिड़की रहती थी, हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़, यासि रासा त, एक चुप्पी जगह। कहानी संग्रह- पेड़ पर कमरा (पूर्वग्रह सीरीज़ में प्रकाशित)। गजानन माधव मुक्तिबोध फैलोशिप, रज़ा पुरस्कार, शिखर सम्मान, मैथिलीशरण गुप्त सम्मान, दयावती मोदी कवि शिखर सम्मान, साहित्य अकादमी पुरस्कार, हिन्दी गौरव सम्मान। रायपुर में रहते हैं।

प्रभात त्रिपाठी – कवि, समीक्षक, कथाकार। कई पुस्तकें प्रकाशित, जिनमें खिड़की से बरसात (अशोक वाजपेयी द्वारा सम्पादित पहचान सीरिज में), नहीं लिख सका मैं, साकार समय में आदि आठ काव्य संग्रह, कुछ सच कुछ सपने आदि तीन उपन्यास, तलघर एवं अन्य कहानी संग्रह शामिल।

आलोचना पुस्तकें, प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य, रचना के साथ पुनश्चः, आस्वाद के विविध प्रारूप, तुमुल कोलाहल कलह में। ओडिया से हिन्दी में कई कवियों के अनुवाद जिनमें सीताकान्त महापात्र, गोपीनाथ महांती, हर प्रसाद दास आदि की कविताएँ शामिल। 'पूर्वग्रह' पत्रिका के प्रारम्भिक अंकों के सम्पादन में विशेष सहयोग किया है, वर्ष १९९४-९५ में मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी की पत्रिका 'साक्षात्कार' का सम्पादन और साथ ही भवानीप्रसाद मिश्र की रचनाओं के संकलन का सम्पादन भी किया है। आपको वागीश्वरी पुरस्कार, माखनलाल चतुर्वेदी सम्मान, शमशेर सम्मान, कृष्ण बलदेव वैद सम्मान आदि सम्मान मिले हैं।

मदन सोनी – हिन्दी के प्रख्यात आलोचक और अनुवादक। 'कविता का व्योम और व्योम की कविता,' 'विषयान्तर', निर्मल वर्मा पर 'कथापुरुष', 'विक्षेप' पुस्तकें। बर्टोल्ट ब्रेख़्त और कालिदास के नाटकों के बुन्देली में अनुवाद। हर्मन हेस के उपन्यास 'सिद्धार्थ' और उम्बर्टो इको के उपन्यास 'द नेम ऑफ़ द रोज़' के हिन्दी अनुवाद 'ख़ाली नाम गुलाब का' के साथ इज़राईली इतिहासकार युवाल नोआ हरारी की कई किताबों के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। इन दिनों पुणे में रहते हैं।

ध्रुव शुक्ल – हिन्दी के कवि, कथाकार, उपन्यासकार और टिप्पणीकार। कई कविता संग्रह प्रकाशित हैं जिनमें 'खोजो तो बेटी पापा कहाँ हैं', 'फिर वह कविता वही कहानी' और 'एक बूँद का बादल' प्रमुख हैं। इनके तीन उपन्यास 'उसी शहर में', 'अमर टॉकीज़' और 'कचराघर' प्रकाशित। कहानी संग्रह 'हिचकी', सामयिक विषयों पर टिप्पणियों का संग्रह, 'एक नागरिक की डायरी', महात्मा गाँधी की प्रसिद्ध पुस्तक, 'हिन्द स्वराज' पर केन्द्रित सुदीर्घ निबन्ध, 'पूज्य पिता के सहज सत्य' आदि प्रकाशित हुए हैं। ध्रुव को अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए है। हिन्दी साहित्य की पत्रिका, 'पूर्वग्रह' में सम्पादन सहयोग और 'साक्षात्कार' का सम्पादन किया है। आप भोपाल में रहते हैं और धर्मपाल शोध संस्थान के निदेशक हैं।

जयशंकर – कथाकार। इनके प्रकाशित कथा-संग्रह 'शोक गीत एवं अन्य कहानियाँ', 'लाल दीवारों का मकान', 'मरुस्थल' और 'चेम्बर म्यूज़िक' हैं। जयशंकर को लिखे प्रसिद्ध हिन्दी लेखक निर्मल वर्मा के पत्रों का संग्रह, 'देहरी पर पत्र' प्रकाशित हुआ है। नयी किताब, 'गोधुली की इबारत'। श्रीकान्त वर्मा पुरस्कार समेत कई पुरस्कार मिले हैं। इन दिनों नागपुर में रहते हैं।

आस्तीक वाजपेयी – हिन्दी के युवतम कवियों में एक। भोपाल के मौलाना आज़ाद राष्ट्रीय तकनीकी संस्थान से धातु विज्ञान में बी.टेक. की डिग्री। पश्चिमी और भारतीय मार्गी संगीत में गहरी दिलचस्पी। कविताओं के लिए 'जानकीपुल' और 'भारत भूषण अग्रवाल' पुरस्कार (२०१४) और कविता संग्रह 'थरथराहट' के लिए 'युवा साहित्य अकादमी' पुरस्कार (२०१८) प्राप्त। इन दिनों सूरत में रहते और लिखते हैं।

मिथिलेशशरण चौबे – हिन्दी के युवा कवि और आलोचक। कुँवर नारायण पर आलोचना पुस्तक 'कुँवर नारायण का रचना संसार' प्रकाशित और कविता संग्रह 'लौटने के लिए जाना' प्रकाशित हैं। आपको 'मीरा

सम्मान' और 'रमेश दत्त दुबे युवा रचनाकार सम्मान' मिले हैं। कई साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ और लेख प्रकाशित हुए हैं। 'समास' में सम्पादन सहयोग भी किया हैं।

ख़ालिद जावेद – उर्दू के सुविख्यात उपन्यासकार और कहानीकार बरेली में कई साल तक दर्शन शास्त्र पढ़ाते रहे। फिर उर्दू में एम.ए., पीएच.डी. और इन दिनों जामिया मिल्लिया इस्लामिया में उर्दू के प्रोफेसर हैं। ख़ालिद जावेद के दो कहानी संग्रह 'बुरे मौसम में' और 'आख़िरी दावत' तथा दो उपन्यास 'मौत की क़िताब' और 'नेमत ख़ाना' प्रकाशित हैं।

सुरेश सलिल – कवि, लेखक, आलोचक और अनुवादक। सुरेश सलिल हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी के विद्वान। छः कविता संग्रह प्रकाशित। अनेक काव्य अनुवाद भी प्रकाशित, जिनमें मुख्य हैं; बीसवीं सदी की विश्व कविता का वृहत् संचयन; रोशनी की खिड़कियाँ। आपके द्वारा सम्पादित कविता सदी; आधुनिक हिन्दी कविता का प्रतिनिधि संचयन और करवाने-ग़ज़ल; आठ सौ वर्षों की ग़ज़लों का सफ़रनामा विशेष रूप से सराहनीय।

अमित दत्ता – देश के सम्भवतः सबसे अधिक कल्पनाशील और गहन फ़िल्मकार। पुणे के भारतीय फ़िल्म एवं टेलीविजन संस्थान के स्नातक। कला, इतिहास और सिनेमा माध्यम की वैकल्पिक सम्भावनाओं को लेकर कई फ़िल्में बनायी हैं जिनमें क्रमशः, नैनसुख, चित्रशाला, गीतगोविन्द, रामखिन्द, पूर्ण/अपूर्ण, आदमी की औरत एवं अन्य कहानियाँ, सातवाँ रास्ता और अज्ञात शिल्पी प्रमुख हैं। फ़िल्मों को कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार मिले हैं जिनमें मुम्बई अन्तर्राष्ट्रीय में सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म का गोल्डन कोंच पुरस्कार और चार राष्ट्रीय रजत कमल पुरस्कार शामिल। फ़िल्में अनेक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोहों और कला संग्रहालयों में दिखायी जाती रही हैं। फ़िल्मों का पुनरावलोकी समारोह पेरिस, बर्कले, केलिफोर्निया, ओबरहाउजेन, लुगानो (स्विट्ज़रलैण्ड) आदि स्थानों के प्रतिष्ठित समारोहों में हुए हैं। उपन्यास 'कालजयी कमबख़्त' को कृष्ण बलदेव वैद पुरस्कार प्राप्त। इनकी अँग्रेज़ी में लिखी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'खुद से कई सवाल' प्रकाशित 'इनविज़िबल वेब' इनकी नवीनतम पुस्तक है। पालमपुर (हिमाचल प्रदेश) में रहते हैं।

नुपुर हजारिका – असमिया कवि, कथाकार, निबन्धकार। असमिया और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में लिखती हैं। आपकी तीन पुस्तकें हैं, जिनमें असमिया और अंग्रेज़ी भाषा में कविता संग्रह 'जोड़ी', असमिया में कहानी संग्रह 'एता फ़िनिक्ज़ोर जन्मगाथा' शामिल हैं। चार्ल्स डिकिन्स के उपन्यास ग्रेट इक्स्पेक्टेशन्स' का अनुवाद असमिया में किया है।

महेन्द्र प्रसाद कुशवाहा – असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, टी.डी.बी. कॉलेज, रानीगंज, प.बंगाल, इन दिनों बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापक।

शान्तनु बनर्जी – असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, अंग्रेज़ी विभाग, काज़ी नजरुल यूनिवर्सिटी, आसनसोल, प. बंगाल।

ISSN-2394-2355

अवनीन्द्रनाथ टैगोर

अमृता भारती

वागीश शुक्ल

विनोदकुमार शुक्ल

प्रभात त्रिपाठी

मदन सोनी

ख़ालिद जावेद

ध्रुव शुक्ल

जयशंकर

अमित दत्ता

आस्तीक वाजपेयी

मिथिलेशशरण चौबे

सुरेश सलिल

नुपुर हजारिका

महेन्द्र प्रसाद कुशवाहा

शान्तनु बनर्जी

समास, प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, प्रबन्ध न्यासी द्वारा द रज़ा फाउण्डेशन, सी-४/१३९, सफदरजंग डेवलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित। मुद्रक : भण्डारी ऑफसेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.) सम्पादक : उदयन वाजपेयी
Samas, A literary Quarterly Magazine, Language : Hindi, Published by Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation, C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016 Edited by Udayan Vajpeyi.